गायत्री महाविज्ञान

(तृतीय भाग)

गायत्री के पाँच मुख

गायत्री को पञ्चमुखी कहा गया है। पञ्चमुखी शंकर की भाँति गायत्री भी पञ्चमुखी है। पुराणों में ऐसा वर्णन कई जगह आया है, जिसमें वेदमाता गायत्री को पाँच मुखों वाली कहा गया है। अधिक मुख, अधिक हाथ-पाँव वाले देवताओं का होना कुछ अटपटा-सा लगता है। इसलिये बहुधा इस सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया जाता है। चार मुख वाले ब्रह्माजी, पाँच मुख वाले शिवजी, छः मुख वाले कार्तिकेय जी बताये गये हैं। चतुर्भुजी विष्णु, अष्टभुजी दुर्गा, दशभुजी गणेश प्रसिद्ध हैं। सहस्रबाहु की हजार भुजा और इन्द्र के हजार नेत्रों का वर्णन है।

यह प्रकट है कि अन्योक्तियाँ एवं पहेलियाँ बड़ी आकर्षक एवं मनोरंजक होती हैं, इनके पूछने और उत्तर देने में रहस्योद्‌घाटन की एक विशेष महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विकास होता है। छोटे बच्चों से पहेलियाँ पूछते हैं, तो वे उस विलक्षण प्रश्न का उत्तर खोजने में अपने मस्तिष्क को दूर-दूर तक दौड़ाते हैं और उत्तर खोजने में बुद्धि पर काफी जोर देते हैं। स्वयं नहीं सूझ पड़ता, तो दूसरों से आग्रहपूर्वक पूछते हैं। जब तक उस विलक्षण पहेली का उत्तर नहीं मिल जाता, तब तक उनके मन में बड़ी उत्सुकता, बेचैनी रहती है। इस प्रकार सीधे-साधे नीरस प्रश्नों की अपेक्षा टेढ़े-मेढ़े उलझन भरे विलक्षण प्रश्न, पहेलियों के द्वारा हल करने से बालकों को बौद्धिक विकास और मनोरंजन दोनों ही प्राप्त होते हैं।

देवताओं के अधिक अंगों का रहस्य

देव-दानवों के अधिक मुख और अधिक अंग ऐसी ही रहस्यमय पहेलियाँ हैं, जिनमें तत्सम्बन्धी प्रमुख तथ्यों का रहस्य सन्निहित होता है। वह सोचता है ऐसी विचित्रता क्यों हुई ? इस प्रश्न पहेली का समाधान करने के निमित्त जब वह अन्वेषण करता है, तब पता चल जाता है कि इस बहाने कैसे महत्त्वपूर्ण तथ्य उसे प्राप्त होते हैं ? अनुभव कहता है कि यदि इस प्रकार उलझी पहेली न होती, तो शायद उनका ध्यान भी इन रहस्यमय बातों की ओर न जाता और वह उस अमूल्य जानकारी से वंचित रह जाता। पहेलियों के उत्तर बालकों को ऐसी दृढ़तापूर्वक याद हो जाते हैं कि वे भूलते नहीं। आध्यात्मिक कक्षा का विद्यार्थी भी अधिक मुख वाले देवताओं को समझने के लिये जब उत्सुक होता है, तो उसे वे अद्‌भुत बातें सहज ही विदित हो जाती हैं, जो उस दिव्य महाशक्ति से सम्बद्ध हैं।

कभी अवसर मिलेगा तो सभी देवताओं की आकृतियों के बारे में विस्तारपूर्वक पाठकों को बतायेंगे। हनुमान् जी की पूँछ,गणेशजी की सूँड़, हयग्रीव का अश्वमुख, ब्रह्माजी के चार मुख, दुर्गाजी की आठ भुजाएँ, शिवजी के तीन नेत्र, कार्तिकेयजी के छः मुख तथा इन देवताओं के मूषक, मोर, बैल, सिंह आदि वाहनों में क्या रहस्य है ? इसका विस्तृत विवेचन फिर कभी करेंगे। यहाँ तो गायत्री के पाँच मुखों के सम्बन्ध में ही प्रकाश डालना है।

गायत्री सुव्यवस्थित जीवन का, धार्मिक जीवन का अविच्छिन्न अंग है, तो उसे भली प्रकार समझना, उसके मर्म, रहस्य, तथ्य और उपकरणों को जानना भी आवश्यक है। डाक्टर, इन्जीनियर, यन्त्रविद्, बढ़ई, लुहार, रंगरेज, हलवाई, सुनार, दर्जी, कुम्हार, जुलाहा, नट, कथावाचक, अध्यापक, गायक, किसान आदि सभी वर्ग के कार्यकर्ता अपने काम की बारीकियों को जानते हैं और प्रयोग-विधि, हानि-लाभ के कारणों को समझते हैं। गायत्री-विद्या के जिज्ञासुओं और प्रयोक्ताओं को भी अपने विषय में भली प्रकार परिचित होना चाहिये; अन्यथा सफलता का क्षेत्र अवरुद्ध हो जायेगा। ऋषियों ने गायत्री के पाँच मुख बताकर हमें यह बताया है कि इस महाशक्ति के अन्तर्गत

पाँच तथ्य ऐसे हैं जिनको जानकर और उनका ठीक प्रकार अवगाहन करके संसार सागर के सभी दुस्तर दुरितों से पार हुआ जा सकता है ।

गायत्री के पाँच मुख वास्तव में उसके पाँच भाग हैं- १- ॐ, २- भूः भुवः स्वः, ३- तत्सवितुर्वरेण्यम्, ४- भर्गो देवस्य धीमहि, ५- धियो यो नः प्रचोदयात् । यज्ञोपवीत के पाँच भाग हैं, तीन लड़ें, चौथी मध्य ग्रन्थियाँ, पाँचवी ब्रह्म ग्रन्थि । पाँच देवता प्रसिद्ध हैं- ॐ अर्थात् गणेश, व्याहृति अर्थात् भवानी, गायत्री का प्रथम चरण-ब्रह्मा, द्वितीय चरण-विष्णु, तृतीय चरण-महेश । इस प्रकार यह पाँच देवता गायत्री के प्रमुख शक्ति पुञ्ज कहे जा सकते हैं ।

गायत्री के इन पाँच भागों में वे सन्देश छिपे हुए हैं, जो मानव जीवन की बाह्य एवं आन्तरिक समस्याओं को हल कर सकते हैं । हम क्या हैं ? किस कारण जीवन धारण किये हुए हैं ? हमारा लक्ष्य क्या है ? अभावग्रस्त और दुःखी रहने का कारण क्या है ? सांसारिक सम्पदाओं की और आत्मिक शान्ति की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? कौन बन्धन हमें जन्म-मरण के चक्र में बाँधे हुए हैं ? किस उपाय से छुटकारा मिल सकता है ? अनन्त आनन्द का उद्गम कहाँ है ? विश्व क्या है ? संसार का और हमारा क्या सम्बन्ध है ? जन्म-मृत्यु के त्रास दायक चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है ? आदि जटिल प्रश्नों के सरल उत्तर उपर्युक्त पंचकों में मौजूद हैं ।

गायत्री के पाँच मुख असंख्य सूक्ष्म रहस्य और तत्त्व अपने भीतर छिपाये हुए हैं । उन्हें जानने के बाद मनुष्य को इतनी तृप्ति हो जाती है कि कुछ जानने लायक बात उसको सूझ नहीं पड़ती । महर्षि उद्दालक ने उस विद्या की प्रतिष्ठा की थी, जिसे जानकर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, वह विद्या गायत्री विद्या ही है । चार वेद और पाँचवाँ यज्ञ, यह पाँचों ही गायत्री के पाँच मुख हैं, जिनमें समस्त ज्ञान-विज्ञान और धर्म-कर्म बीज रूप में केन्द्रीभूत हो रहा है ।

शरीर पाँच तत्त्वों से बना हुआ है और आत्मा के पाँच कोश हैं । मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश के सम्मिश्रण से देह बनती है । गायत्री के पाँच मुख बताते हैं कि यह शरीर और कुछ नहीं केवल पंचभूतों का, जड़ परमाणुओं का सम्मिश्रण मात्र है । यह हमारे लिये अत्यन्त उपयोगी औजार, सेवक एवं वाहन है । अपने आप को शरीर समझ बैठना भारी भूल है । इस भूल को ही माया या अविद्या कहते हैं । शरीर का एवं संसार का वास्तविक रूप समझ लेने पर जीव मोह-निद्रा से जाग उठता है और संचय, स्वामित्व एवं भोगों की बाल-क्रीड़ा से मुँह मोड़कर आत्म-कल्याण की ओर लगता है । पाँचों मुखों का एक सन्देश यह है- पंच तत्त्वों से बने पदार्थों को केवल उपयोग की वस्तु समझें, उनमें लिप्त, तन्मय, आसक्त एवं मोहग्रस्त न हों ।

गायत्री के पाँच मुखों से पञ्चकोशों का संकेत

पाँच मुखों का दूसरा संकेत आत्मा के कोशों की ओर है । जैसे शरीर से ऊपर बनियान, कुर्ता, बासकट, कोट और ओवरकोट एक के ऊपर एक पहन लेते हैं, वैसे ही आत्मा के ऊपर यह पाँच आवरण चढ़े हुए हैं । इन पाँचों को १-अन्नमय कोश, २-प्राणमय कोश, ३- मनोमय कोश, ४- विज्ञानमय कोश, ५-आनन्दमय कोश कहते हैं । इन पाँच परकोटों के किले में जीव बन्दी बना हुआ है । जब इसके फाटक खुल जाते हैं, तो आत्मा बन्धनमुक्त हो जाती है ।

यों तो गायत्री के पाँच मुखों में अनेक पंचकों के अद्भुत रहस्य छिपे हुए हैं, पर इन सबकी चर्चा इस पुस्तक में नहीं हो सकती । यहाँ तो हमें इन पाँचों कोशों पर ही कुछ प्रकाश डालना है । कोश, खजाने को भी कहते हैं । आत्मा के पास यह पाँच खजाने हैं, इनमें से हर एक में बहुमूल्य सम्पदायें भरी पड़ी हैं । जैसे धन-कुबेरों के यहाँ नोट रखने की, चाँदी रखने की, सोना रखने की, जवाहरात रखने की, हुण्डी-चैक आदि रखने की जगह अलग-अलग होती है, वैसे ही आत्मा के पास भी पाँच खजाने हैं । सिद्ध किये हुए पाँच कोशों के द्वारा ऐसी अगणित सम्पदायें, सुख-सुविधायें मिलती हैं, जिनको पाकर इसी जीवन में स्वर्गीय आनन्द की उपलब्धि होती है । योगी लोग उसी आनन्द के लिये तप करते हैं और देवता लोग उसी आनन्द के लिए नर-तन धारण करने को तरसते रहते हैं ।

कोशों का सदुपयोग अनन्त आनन्द का उत्पादक है और उनका दुरुपयोग पाँच परकोटों वाले कैदखाने के रूप में बन्धनकारक बन जाता है ।

पंचकोशों का उपहार प्रभु ने हमारी अनन्त सुख-सुविधाओं के लिये दिया है । यह पाँच सवारियाँ हैं, जो अनिष्ट रूपी शत्रुओं का विनाश और आत्म संरक्षण करने के लिये अतीव उपयोगी हैं । ये पाँच शक्तिशाली सेवक हैं, जो हर घड़ी आज्ञा पालन के लिये प्रस्तुत रहते हैं । इन पाँच खजानों में अटूट सम्पदा भरी पड़ी है । इस पंचामृत का ऐसा स्वाद है कि जिसकी बूँद चखने के लिये मुक्त हुई आत्मायें लौट-लौटकर नर-तन में अवतार लेती रहती हैं ।

बिगड़ा हुआ अमृत विष हो जाता है, स्वामिभक्त कुत्ता पागल हो जाने पर अपने पालने वालों को ही संकट में डाल देता है । सड़ा हुआ अन्न विष्ठा कहलाता है । जीवन का आधार रक्त जब सड़ने लगता है, तो दुर्गन्धित पीव बनकर वेदनाकार फोड़े के रूप में प्रकट होता है । पंचकोशों का विकृत रूप भी हमारे लिये ऐसा ही दु:खदायी होता है । नाना प्रकार के पाप-तापों, क्लेशों, कलहों, दु:खों, दुर्भाग्यों, चिन्ता-शोकों, अभाव दारिद्र्य, पीड़ा और वेदनाओं में तड़पते हुए मानव इस विकृति के ही शिकार हो रहे हैं । सुन्दरता और दृष्टि-ज्योति के केन्द्र, नेत्रों में जब विकृति आ जाती है, दु:खने लगते हैं, तो सुन्दरता एक ओर रही, उलटी उन पर चिथड़ों की पट्टी बँध जाती है, सुन्दर दृश्य देखकर मनोरंजन करना तो दूर, दर्द के मारे मछली की तरह तड़पना पड़ता है । आनन्द के उद्‌गम पाँच कोशों की विकृति ही जीवन को दु:खी बनाती है, अन्यथा ईश्वर का राजकुमार, जिस दिव्य रथ पर बैठकर जिस नन्दन वन में आया है, उसमें आनन्द ही आनन्द मिलना चाहिये । दु:ख, दुर्भाग्य का कारण इस विकृति के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता ।

पाँच तत्त्व, पाँच कोश, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच उपप्राण, पाँच तन्मात्रायें, पाँच यज्ञ, पाँच देव, पाँच योग, पाँच अग्नि, पाँच अंग, पाँच वर्ण, पाँच स्थिति, पाँच अवस्था, पाँच शूल, पाँच क्लेश आदि अनेक पंचक गायत्री के पाँच मुखों से सम्बन्धित हैं । इनको सिद्ध करने वाले पुरुषार्थी व्यक्ति ऋषि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि, देवर्षि कहलाते हैं । आत्मोन्नति की पाँच कक्षाएँ हैं । पाँच भूमिकायें हैं । उनमें से जो जिस कक्षा की भूमिका को उत्तीर्ण कर लेता है, वह उसी श्रेणी का ऋषि बन जाता है । किसी समय भारत भूमि ऋषियों की भूमि थी । यहाँ ऋषि से कम तो कोई था ही नहीं, पर आज तो लोगों ने उस पंचायत का तिरस्कार कर रखा है और बुरी तरह प्रपंच में फँसकर पंच क्लेशों से पीड़ित हो रहे हैं ।

अनन्त आनन्द की साधना

तैत्तिरीयोपनिषद् की तृतीय वल्ली (भृगु वल्ली) में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण आख्यायिका आती है । उसमें पञ्चकोशों की साधना पर मार्मिक प्रकाश डाला गया है ।

वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता के निकट जाकर प्रार्थना की कि '**अधीहि भगवो ब्रह्मेति**' अर्थात् हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दीजिये ।

वरुण ने उत्तर दिया- '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि, जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति**' अर्थात् - हे भृगु ! जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं, तू उस ब्रह्म की इच्छा कर ।

पिता के आदेशानुसार पुत्र ने, उस ब्रह्म को जानने के लिये तप आरम्भ कर दिया । दीर्घकालीन तप के उपरान्त भृगु ने अन्नमय जगत् (स्थूल संसार) में फैली ब्रह्म विभूति को जान लिया और वह पिता के पास पहुँचा ।

वरुण ने भृगु से फिर कहा- '**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति**' अर्थात् हे पुत्र ! तू तप करके ब्रह्म को जानने का प्रयास कर, क्योंकि ब्रह्म को तप द्वारा ही जाना जाता है ।

भृगु ने फिर तपस्या की और "प्राणायाम जगत्" की ब्रह्म विभूति को जान लिया । तत्पश्चात् पुन: वह पिता के पास पहुँचा । वरुण ने फिर उसे तप द्वारा ब्रह्म को जानने का उपदेश दिया ।

पुत्र ने पुन: कठोर तप किया और 'मनोमय जगत्' की ब्रह्म विभूति का अभिज्ञान प्राप्त कर लिया । पिता ने

उसे फिर तप में लगा दिया। अब उसने विज्ञानमय जगत् की ईश्वरीय विभूति को प्राप्त कर लिया, अन्त में पाँचवीं बार भी पिता ने उसे तप में ही प्रवृत्त किया और भृगु ने उस आनन्दमयी विभूति को भी उपलब्ध कर लिया।

'आनन्दमय' जगत् की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचने से किस प्रकार पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, इसका वर्णन करते हुए 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की तृतीय वल्ली के छठवें मन्त्र में बताया गया है कि-

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दादध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि, जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमेव्योमन् प्रतिष्ठिता।"

अर्थात् उस (भृगु) ने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द में ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं।

उपनिषद्कार ने उपर्युक्त आख्यायिका में ब्रह्मानन्द, परमानन्द, आत्मानन्द में ही ब्रह्मज्ञान का अन्तिम लक्ष्य बताया है। आनन्दमय जगत् के कोश में पहुँचने के लिये तप करने का संकेत किया है। कोशों की सीढ़ियाँ जैसे-जैसे पार होती जाती हैं वैसे ही वैसे ब्रह्म की उपलब्धि निकट आती जाती है। आगे बताया कि-

'स य एवंवित् अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं प्राणमयमात्मान-मुपसंक्रामति एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतमानन्द-मयमात्मानमुपसंक्रामति। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम-गायन्नास्ते।

अर्थात्- इस प्रकार जो मनुष्य ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है वह इस अन्नमय कोश को पार कर, इस प्राणमय कोश को पार कर, इस मनोमय कोश को पार कर, इस विज्ञानमय कोश को पार कर, इस आनन्दमय कोश को पार कर इच्छानुसार भोगवाला और इच्छानुसार रूपवाला हो जाता है तथा इन सब लोकों में विचरता हुआ इस साम का गायन करता रहता है।

जीवन इसलिये है कि ब्रह्मरूपी आनन्द को प्राप्त किया जाए, न कि इसलिये कि पग-पग पर अभाग्य, दु:ख-दारिद्र्य और दुर्भाग्य का अनुभव किया जाए। जीवन को लोग सांसारिक सुविधाओं के संचय में लगाते हैं, पर उनके भोगने से पूर्व ही ऐसी समस्यायें उठ खड़ी होती हैं कि वह अभिलषित सुख जब प्राप्त होता है, तो उसमें कुछ सुख नहीं रह जाता, सारा प्रयत्न मृगतृष्णावत् व्यर्थ गया मालूम देता है।

संसार के पदार्थों में जितना सुख है उससे अधिक गुना सुख आत्मिक उन्नति में है। स्वस्थ पंच कोशों से सम्पन्न आत्मा जब अपने वास्तविक स्वरूप में पहुँचता है तो उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। यह अनुभव होता है कि ब्राह्मी स्थिति का क्या मूल्य और क्या महत्त्व है? संसार में क्षुद्र सुखों की अपेक्षा असंख्य गुने सुख आत्मानन्द के लिये अधिकतम त्याग एवं तप करने में किसी प्रकार का संकोच क्यों हो? विज्ञ पुरुष ऐसा करते भी हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगु वल्ली में आनन्द की मीमांसा करते हुए कहा गया है कि कोई मनुष्य यदि पूर्ण स्वस्थ, सुशिक्षित, गुणवान्, सामर्थ्यवान्, सौभाग्यवान् एवं समस्त संसार की धन-सम्पत्ति का स्वामी हो, तो उसे जो आनन्द हो सकता है, उसे एक मानुषी आनन्द कहते हैं। उससे करोड़ों-अरबों गुने आनन्द को ब्रह्मानन्द कहते हैं। ब्रह्मानन्द का ऐसा ही वर्णन शतपथ ब्राह्मण १४/७/१/३१ में तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ४/३/३३ में भी आया है।

पञ्चमुखी गायत्री की साधना, पञ्च कोशों की साधना है। एक-एक कोश की एक-एक ब्रह्म-विभूति है। ये ब्रह्म विभूतियाँ वे सीढ़ी हैं, जो साधक को अपना सुखास्वादन कराती हुई अगली सीढ़ी पर चढ़ने के लिये अग्रसर करती हैं।

जीवन जैसी बहुमूल्य सम्पदा कीट-पतंगों की तरह व्यतीत करने के लिये नहीं है। चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करते हुए नर-तन बड़ी कठिनाई से मिलता है। इसको तुच्छ स्वार्थ में नहीं, परम स्वार्थ में, परमार्थ में लगाना चाहिये। गायत्री साधना ऐसा परमार्थ है, जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सुख-शान्ति और समृद्धि से भर देता है।

अगले पृष्ठों पर वेदमाता, जगज्जननी आदिशक्ति गायत्री के पाँच मुखों की उपासना का, आत्मा के पाँच कोशों की साधना का विधान बताया जाएगा। भृगु के समान जो इन तपश्चर्याओं को करेंगे, वे ही ब्रह्म प्राप्ति के अधिकारी होंगे।

यदि विचार किया जाए, तो यह आश्चर्य और खेद का विषय है कि ऐसा साधन सुलभ होने पर भी मनुष्य केवल पेट भरने और निकृष्ट भोग करने की स्थिति में ही पड़ा रहे अथवा इससे भी नीचे उतर कर छल, कपट, चोरी, हत्या आदि जैसे जघन्य कृत्य करके नरक वास करने के दण्ड का भागी बन जाय। ईश्वर ने हमको इस कार्य भूमि में मुख्यत: इसलिये भेजा है कि हम सत्कर्म और सात्त्विकी साधना तथा उपासना करके दैवी-मार्ग पर अग्रसर हों और जीवन को उच्चतर बनाते हुए अपने महान् लक्ष्य को प्राप्त करें। दैवी मार्ग को अपनाने और जीवन को शुद्ध, पवित्र, परोपकारमय बनाने में ऐसी कोई बात नहीं है, जो हमारी प्रगति में बाधा स्वरूप सिद्ध हो। गरीब से गरीब और सांसारिक साधनों से रहित व्यक्ति भी इसको अपना सकता है और गायत्री उपासना तथा सेवामय जीवन के द्वारा निरन्तर ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ उच्चतम शिखर तक पहुँच सकता है। इसके लिये मुख्य आवश्यकता श्रद्धा, लगन, दृढ़ता व आत्म-विश्वास की ही है, जिसको मनुष्य अभ्यास द्वारा प्राप्त कर सकता है।

गायत्री मञ्जरी

जिस पुस्तक की व्याख्या स्वरूप यह पुस्तक लिखी गयी है, उस 'गायत्री मञ्जरी' को हिन्दी टीका सहित नीचे दिया जा रहा है-

एकदा तु महादेवं कैलाशगिरिसंस्थितम्।
पप्रच्छ पार्वती देवी वन्द्या विबुधमण्डलैः ॥१॥

एक बार कैलाश पर्वत पर विराजमान देवताओं के पूज्य महादेवजी से वन्दनीया पार्वती ने पूछा -

कतमं योगमासीनो योगेश त्वमुपाससे।
येन हि परमां सिद्धिं प्राप्नुवान् जगदीश्वर ॥२॥

हे संसार के स्वामी योगेश्वर महादेव ! आप किसके योग की उपासना करते हैं ? जिससे आप परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

श्रुत्वा तु पार्वती वाचं मधुसिक्तां श्रुतिप्रियाम्।
समुवाच महादेवो विश्वकल्याणकारकः ॥३॥

पार्वती की कर्णप्रिय एवं मधुर वाणी को सुनकर, विश्व का कल्याण करने वाले महादेवजी बोले-

महद्रहस्यं तदगुप्तं यत्तु पृष्टं त्वया प्रिये।
तथापि कथयिष्यामि स्नेहात्तत्त्वामहं समम् ॥४॥

हे पार्वती ! तुमने बहुत ही गुप्त और गूढ़ रहस्य के विषय को पूछा है, फिर भी स्नेह के कारण वह सारा रहस्य मैं तुमसे कहूँगा।

गायत्री वेद मातास्ति साद्या शक्तिर्मता भुवि।
जगतां जननी चैव तामुपासेऽहमेव हि ॥५॥

गायत्री वेदमाता है, पृथ्वी पर वह आद्यशक्ति कहलाती है और वह ही संसार की माता है। मैं उसी की उपासना करता हूँ।

यौगिकानां समस्तानां साधनानां तु हे प्रिये।
गायत्र्येव मता लोके मूलाधारो विदांवरैः ॥६॥

हे प्रिये ! समस्त यौगिक साधनाओं का मूलाधार विद्वानों ने गायत्री को ही माना है।

अति रहस्यमय्येषा गायत्री तु दश भुजा।
लोकेऽति राजते पंच धारयन्ति मुखानि तु ॥७॥

दस भुजाओं वाली अत्यन्त रहस्यमयी यह गायत्री संसार में पाँच मुखों को धारण करती हुई अत्यन्त शोभित होती हैं।

अति गूढानि संश्रुत्य वचनानि शिवस्य च।
अति संवृद्ध जिज्ञासा शिवमूचे तु पार्वती ॥८॥

शिव के अत्यन्त गूढ़ वचनों को सुनकर अतिशय जिज्ञासा वाली पार्वती ने शिव से पछा -

पंचास्य दशबाहूनामेतेषां प्राणवल्लभ।
कृत्वा कृपां कृपालो त्वं किं रहस्यं तु मे वद ॥९॥

हे प्राणवल्लभ ! हे कृपालो ! कृपा करके इन पाँच मुख और दस भुजाओं का रहस्य मुझे बतलाइये।

श्रुत्वा त्वेतन्महादेवः पार्वतीवचनं मृदु।
तस्याः शंकामपाकुर्वन् प्रत्युवाच निजां प्रियाम् ॥१०॥

पार्वती के इन कोमल वचनों को सुनकर महादेव जी पार्वती की शंका का समाधान करते हुए बोले-

गायत्र्यास्तु महाशक्तिर्विद्यते या हि भूतले।
अनन्य भावतो ह्यस्मिन्नोतप्रोतोऽस्ति चात्मनि ॥११।

पृथ्वी पर गायत्री की जो महान् शक्ति है, वह इस आत्मा में अनन्त भाव से ओत-प्रोत हो रही है।

बिभर्ति पंचावरणान् जीवः कोशास्तु ते मताः।
मुखानि पंच गायत्र्यास्तानेव वेद पार्वति ॥१२॥

जीव पंच आवरणों को धारण करता है, वे ही कोश कहलाते हैं। हे पार्वती ! उन्हीं को गायत्री के पाँच मुख कहते हैं।

विज्ञानमयान्नमय - प्राणमय - मनोमयाः।
तथानन्दमयश्चैव पंच कोशाः प्रकीर्तिताः ॥१३॥

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पाँच कोश कहलाते हैं।

एष्वेव कोशकोशेषु ह्यनन्ता ऋद्धि सिद्धयः।
गुप्ता आसाद्य या जीवो धन्यत्वमधिगच्छति ॥१४॥

इन्हीं कोशरूपी भण्डारों में अनन्त ऋद्धि-सिद्धियाँ छिपी हुई हैं, जिन्हें पाकर जीव धन्य हो जाता है।

यस्तु योगीश्वरो ह्येतान् पंच कोशान्नु वेधते।
स भवसागरं तीर्त्वा बन्धनेभ्यो विमुच्यते ॥१५॥

जो योगी इन पाँच कोशों को बेधता है, वह भव सागर को पार कर बन्धनों से छूट जाता है।

गुप्तं रहस्यमेतेषां कोषाणां योऽवगच्छति।
परमां गतिमाप्नोति स एव नात्र संशयः ॥१६॥

जो इन कोशों के गुप्त रहस्य को जानता है, वह निश्चय ही परम गति को प्राप्त करता है।

लोकानां तु शरीराणि ह्यन्नादेव भवन्ति नु।
उपत्यकासु स्वास्थ्यं च निर्भरं वर्तते सदा ॥१७॥

मनुष्यों के शरीर अन्न से बनते हैं। उपत्यकाओं पर स्वास्थ्य निर्भर रहता है।

आसनेनोपवासेन तत्त्व शुद्ध्या तपस्यया।
चैवान्नमयकोशस्य संशुद्धिरभिजायते ॥१८॥

आसन, उपवास, तत्त्व शुद्धि और तपस्या से अन्नमय कोश की शुद्धि होती है।

ऐश्वर्यं पुरुषार्थश्च तेज ओजो यशस्तथा।
प्राणशक्त्या तु वर्धन्ते लोकानामित्यसंशयम् ॥१९ ॥

प्राण शक्ति से मनुष्य का ऐश्वर्य, पुरुषार्थ, तेज, ओज एवं यश निश्चय ही बढ़ते हैं।

पंचभिस्तु महाप्राणैर्लघुप्राणैश्च पंचभिः।
एतैः प्राणमयः कोशो जातो दशभिरुत्तमः ॥२० ॥

पाँच महा प्राण और पाँच लघु प्राण, इन दस से उत्तम प्राणमय कोश बना है।

बन्धेन मुद्रया चैव प्राणायामेन चैव हि।
एष प्राणमयः कोशो यतमानं तु सिद्ध्यति ॥२१ ॥

बन्ध, मुद्रा और प्राणायाम द्वारा यत्नशील पुरुष को यह प्राणमय कोश सिद्ध होता है।

चेतनाया हि केन्द्रन्तु मनुष्याणां मनोमतम्।
जायते महतीत्वन्तः शक्तिस्तस्मिन् वशंगते ॥२२ ॥

मनुष्यों में चेतना का केन्द्र मन माना गया है। उसके वश में होने से महान् अन्तःशक्ति पैदा होती है।

ध्यान - त्राटक - तन्मात्राजपानां साधनैर्ननु।
भवत्युज्ज्वलः कोशः पार्वत्येष मनोमयः ॥२३ ॥

ध्यान, त्राटक, तन्मात्रा और जप इनकी साधना करने से हे पार्वती ! मनोमय कोश अत्यन्त उज्ज्वल हो जाता है, यह निश्चय है।

यथावत् पूर्णतो ज्ञानं संसारस्य च स्वस्य च।
नूनमित्येव विज्ञानं प्रोक्तं विज्ञानवेत्तृभिः ॥२४ ॥

संसार का और अपना ठीक-ठीक और पूरा-पूरा ज्ञान होने को ही विज्ञानवेत्ताओं ने विज्ञान कहा है।

साधना सोऽहमित्येषा तथा वात्मानुभूतयः।
स्वराणां संयमश्चैव ग्रन्थिभेदस्तथैव च ॥२५ ॥
एषां संसिद्धिभिर्नूनं यतमानस्य ह्यात्मनि।
नु विज्ञानमयः कोशः प्रिये याति प्रबुद्धताम् ॥२६ ॥

सोऽहं की साधना, आत्मानुभूति, स्वरों का संयम और ग्रन्थि-भेद इनकी सिद्धि से यत्नशील की आत्मा में हे प्रिये ! विज्ञानमय कोश प्रबुद्ध होता है।

आनन्दावरणोन्नत्यात्यन्तशांति- प्रदायिका।
तुरीयावस्थितिर्लोके साधकं त्वधिगच्छति ॥२७ ॥

आनन्द-आवरण की उन्नति से अत्यन्त शान्ति को देने वाली तुरीयावस्था, साधक को संसार में प्राप्त होती है।

नाद विन्दु कलानां तु पूर्ण साधनया खलु।
नन्वानन्दमयः कोशः साधके हि प्रबुद्ध्यते ॥२८ ॥

नाद, बिन्दु और कला की पूर्ण साधना से साधक में आनन्दमय कोश जाग्रत् होता है।

भूलोकस्यास्य गायत्री कामधेनुर्मता बुधैः।
लोक आश्रयणेनामूं सर्वमेवाधिगच्छति ॥२९ ॥

विद्वानों ने गायत्री को भूलोक की कामधेनु माना है। इसका आश्रय लेकर सब कुछ प्राप्त कर लिया जाता है।

पंचास्या यास्तु गायत्र्याः विद्यां यस्त्ववगच्छति ।
पंचतत्त्व प्रपंचात्तु स नूनं हि प्रमुच्यते ॥३० ॥

पाँच मुख वाली गायत्री-विद्या को जो जानता है, वह निश्चय ही पंच तत्त्वों के प्रपंच से छूट जाता है ।

दशभुजास्तु गायत्र्याः प्रसिद्धा भुवनेषु याः ।
पंच शूल महाशूलान्येताः संकेतयन्ति हि ॥३१ ॥

संसार में गायत्री की दस भुजायें प्रसिद्ध हैं, ये भुजायें पाँच शूल और पाँच महाशूलों की ओर संकेत करती हैं ।

दशभुजानामेतासां यो रहस्यं तु वेत्ति यं सः ।
त्रासं शूलमहाशूलानां ना नैवावगच्छति ॥३२ ॥

जो मनुष्य इन दस भुजाओं के रहस्य को जानता है, वह शूल और महाशूल के भय को नहीं पाता ।

दृष्टिस्तु दोषसंयुक्ता परेषामवलम्बनम् ।
भयञ्च क्षुद्रता ऽसावधानता स्वार्थयुक्तता ॥३३ ॥
अविवेकस्तथावेशस्तृष्णालस्यं तथैव च ।
एतानि दश शूलानि शूलदानि भवन्ति हि ॥३४ ॥

दोषयुक्त दृष्टि, परावलम्बन, भय, क्षुद्रता, असावधानी, स्वार्थपरता, अविवेक, क्रोध, आलस्य, तृष्णा- ये दुःखदायी दस शूल हैं ।

निजैर्दशभुजैर्नूनं शूलान्येतानि तु दश ।
संहरते हि गायत्री लोककल्याणकारिणी ॥३५ ॥

संसार का कल्याण करने वाली गायत्री अपनी दस भुजाओं से इन दस शूलों का संहार करती है ।

कलौ युगे मनुष्याणां शरीराणीति पार्वति ।
पृथ्वी तत्त्व प्रधानानि जानास्येव भवन्ति हि ॥३६ ॥

हे पार्वती ! कलियुग के मनुष्यों के शरीर पृथ्वी तत्त्व प्रधान होते हैं, यह तो तुम जानती ही हो ।

सूक्ष्मतत्त्व प्रधानान्ययुगोद्भूत नृणामतः ।
सिद्धीनां तपसामेते न भवन्त्यधिकारिणः ॥३७ ॥

इसलिये अन्य युग में पैदा हुए सूक्ष्म तत्त्व प्रधान मनुष्यों की सिद्धि और तप के ये अधिकारी नहीं होते ।

पंचांग योग संसिद्ध्या गायत्र्यास्तु तथापि ते ।
तद्युगानां सर्वश्रेष्ठां सिद्धिं संप्राप्नुवन्ति हि ॥३८ ॥

फिर भी वे गायत्री के पंचांग योग की सिद्धि द्वारा, उन गुणों की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।

गायत्र्या वाममार्गीयं ज्ञेयमत्युच्चसाधकैः ।
उग्रं प्रचण्डमत्यन्तं वर्तते तन्त्र साधनम् ॥३९ ॥

उत्कृष्ट साधकों द्वारा जानने योग्य गायत्री का वाममार्गी तन्त्र साधन अत्यन्त उग्र और प्रचण्ड है ।

अतएव तु तद्गुप्तं रक्षितं हि विचक्षणैः ।
स्याद्यतो दुरुपयोगो न कुपात्रैः कथंचन ॥४० ॥

इसलिये विद्वानों ने इसे गुप्त रक्खा है, जिससे कुपात्रों द्वारा उसका किसी प्रकार दुरुपयोग न हो ।

गुरुणैव प्रिये विद्या तत्त्वं हृदि प्रकाश्यते ।
गुरुं विना तु सा विद्या सर्वथा निष्फला भवेत् ॥४१ ॥

हे प्रिये ! विद्या का तत्त्व गुरु के द्वारा ही हृदय में प्रकाशित किया जाता है । बिना गुरु के वह विद्या निष्फल हो जाती है ।

गायत्री तु पराविद्या तत्फलावाप्तये गुरुः ।
साधकेन विधातव्यो गायत्री- तत्त्व पंडितः ॥४२ ॥

गायत्री परा विद्या है, अतः उसके फल की प्राप्ति के लिए साधक को ऐसा गुरु करना चाहिये, जो गायत्री तत्त्व का ज्ञाता हो ।

गायत्रीं यो विजानाति सर्वं जानाति स ननु ।
जानातीमां न यस्तस्य सर्वा विद्यास्तु निष्फलाः ॥४३ ॥

जो गायत्री को जानता है, वह सब कुछ जानता है । जो इसको नहीं जानता , उसकी सब विद्या निष्फल है ।

गायत्र्येवतपो योगः साधनं ध्यानमुच्यते ।
सिद्धीनां सा मता माता नातः किंचित् बृहत्तरम् ॥४४ ॥

गायत्री ही तप है, योग है, साधन है, ध्यान है और वह ही सिद्धियों की माता मानी गयी है । इस गायत्री से बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है ।

गायत्री साधना लोके न कस्यापि कदापि हि ।
याति निष्फलतामेतत् ध्रुवं सत्यं हि भूतले ॥४५ ॥

कभी भी किसी की गायत्री साधना संसार में निष्फल नहीं जाती, यह पृथ्वी पर ध्रुव सत्य है ।

गुप्त मुक्तं रहस्यं यत् पार्वति त्वां पतिव्रताम् ।
प्राप्स्यन्ति परमां सिद्धिं ज्ञास्यन्त्येतत् तु ये जनाः ॥४६ ॥

हे परम पतिव्रता पार्वती ! मैंने जो यह गुप्त रहस्य कहा है, जो लोग इसे जानेंगे, वे परम सिद्धि को प्राप्त होंगे ।

गायत्री लहरी के इन ४६ श्लोकों में भारतीय अध्यात्म-विद्या का जो सारांश सामान्य पाठकों के हितार्थ प्रकट किया गया है, उसका यदि भली प्रकार मनन किया जाए और उससे जो निष्कर्ष निकले, तदनुसार आचरण किया जाए, तो मनुष्य निःसंदेह इस लोक और परलोक के सभी कष्टों से बचकर सत्पुरुषों को मिलने वाली गति का अधिकारी बन सकता है । इसमें मानव शरीर, मन तथा आत्मा सम्बन्धी जितने भी तथ्य प्रकट किये गये हैं, वे सब तर्क युक्त, बुद्धिसंगत तथा अनुभव द्वारा भी सब प्रकार से उपयोगी हैं । यदि एक ज्ञानशून्य मनुष्य अपने को केवल शरीर रूप ही समझता है और केवल उसी के पालन, पोषण, भोग, सुरक्षा आदि की चिन्ता में व्यस्त रहता है, तो यही कहना चाहिये कि वह एक प्रकार से पशुओं जैसा जीवन व्यतीत कर रहा है । यद्यपि ऊपर से वह शरीर अस्थि, चर्ममय ही प्रतीत होता है, जिसमें मल, मूत्र, रक्त, चर्बी जैसे जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले पदार्थ भरे हैं, पर इसके भीतर मन, बुद्धि, अन्तःकरण जैसे महान् तत्त्व भी अवस्थित हैं, जिनको विकसित करके मनुष्य पशु श्रेणी से ऊपर उठकर देव श्रेणी और स्वयं ईश्वर के समकक्ष स्थिति तक पहुँच सकता है । गायत्री लहरी में इन्हीं तत्त्वों की जानकारी और उनके विकास की साधना का सूत्र रूप में वर्णन किया गया है ।

शरीर के जिस रूप को हम बाहर से नेत्रों द्वारा देखते हैं, वह 'अन्नमय कोश' के अन्तर्गत है । इसको स्थिर रखने के लिये ही मनुष्य खाता, पीता, सोता और मलमूत्र विसर्जित करता है, पर अधिकांश मनुष्य इसके सम्बन्ध में यह भी नहीं जानते कि इसे किस प्रकार से स्वस्थ, पूर्ण कार्यक्षम, दीर्घजीवी रखा जा सकता है । अन्नमय कोश के भीतर उससे अपेक्षाकृत सूक्ष्म 'प्राणमय कोश' है, जिसका साधन और विकास करने के विभिन्न शारीरिक अंगों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है और उसकी शक्ति को बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है । 'प्राणमय कोश' से सूक्ष्म 'मनोमय कोश' है जिसकी साधना से मानसिक शक्तियों का केन्द्रीकरण करके अनेक अद्भुत कार्य किये

जा सकते हैं । इसकी मुख्य साधन विधि ध्यान बतलाई गयी है, जिससे अन्य व्यक्तियों को वश में करना, दूरवर्ती घटनाओं को जानना, भूत-भविष्य सम्बन्धी ज्ञान आदि शक्तियों की प्राप्ति होती है ।

'मनोमय कोश' के पश्चात् उससे भी सूक्ष्म 'विज्ञानमय कोश' बतलाया गया है, जिससे मनुष्य आत्मा के क्षेत्र में पहुँच जाता है और जीव को बन्धन में रखने वाली तीनों ग्रन्थियों को खोल सकता है ।अन्त में 'आनन्दमय कोश' आता है जिससे पञ्चतत्त्वों से बना मनुष्य परमात्मा के निकट पहुँचने लगता है और समाधि का अभ्यास करके अपने मूल स्वरूप में स्थित हो सकता है ।

इस प्रकार गायत्री मञ्जरी के थोड़े से श्लोकों में ही योग-शास्त्र का अत्यन्त गम्भीर ज्ञान सूत्र रूप से बता दिया गया है । इसे गायत्री योग के छिपे हुए रत्न-भण्डार की चाबी कहा जा सकता है । इसके एक-एक श्लोक की विस्तृत व्याख्या की जाए, तो उस पर विस्तृत प्रकाश पड़ सकता है । गायत्री महाविज्ञान का तीसरा खण्ड इन ४६ श्लोकों की विवेचना के रूप में लिखा गया है । इससे अधिक प्रकाश प्राप्त करके योग मार्ग के पथिक अपना मार्ग सरल कर सकते हैं ।

अन्नमय कोश और उसकी साधना

गायत्री के पाँच मुखों में, आत्मा के पाँच कोशों में प्रथम कोश का नाम अन्नमय कोश है । अन्न का सात्त्विक अर्थ है- पृथ्वी का रस । पृथ्वी से जल, अनाज, फल, तरकारी, घास आदि पैदा होते हैं । उन्हीं से दूध, घी, मांस आदि भी बनते हैं । यह सब अन्न कहे जाते हैं । इन्हीं के द्वारा रज, वीर्य बनते हैं और इन्हीं से इस शरीर का निर्माण होता है । अन्न द्वारा ही देह बढ़ती है, पुष्ट होती है तथा अन्त में अन्नरूप पृथ्वी में ही भस्म होकर सड़-गलकर मिल जाती है, अन्न से उत्पन्न होने वाला और उसी में जाने वाला यह देह प्रधानता के कारण 'अन्नमय कोश' कहा जाता है ।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि हाड़-मास का जो यह पुतला दिखाई देता है, वह अन्नमय कोश की अधीनता में है, पर उसे ही अन्नमय कोश न समझ लेना चाहिये । मृत्यु हो जाने पर देह तो नष्ट हो जाती है, पर अन्नमय कोश नष्ट नहीं होता । वह जीव के साथ रहता है । बिना शरीर के भी जीव भूतयोनि में या स्वर्ग-नरक में उन भूख-प्यास, सर्दी, गर्मी, चोट, दर्द आदि को सहता है जो स्थूल शरीर से सम्बन्धित हैं । इसी प्रकार उसे, उन इन्द्रिय भोगों की चाह रहती है, जो शरीर द्वारा भोगे जाने सम्भव हैं । भूतों की इच्छाएँ वैसी ही आहार-विहार की रहती हैं, जैसी शरीर- धारी मनुष्यों की होती हैं । इससे प्रकट है कि अन्नमय कोश शरीर का संचालक, कारण, उत्पादक, उपभोक्ता आदि तो है पर, उससे पृथक् भी है । इसे सूक्ष्म शरीर भी कहा जा सकता है ।

रोग हो जाने पर डाक्टर, वैद्य, उपचार, औषधि, इन्जेक्शन, शल्य क्रिया आदि द्वारा उसे ठीक करते हैं । चिकित्सा पद्धतियों की पहुँच स्थूल शरीर तक ही है । इसलिये वह केवल उन्हीं रोगों को दूर कर पाते हैं, जो कि हाड़, मांस, त्वचा आदि के विकारों के कारण उत्पन्न होते हैं । परन्तु कितने ही रोग ऐसे भी हैं, जो अन्नमय कोश की विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं, उन्हें शारीरिक चिकित्सक लोग ठीक करने में प्राय: असमर्थ ही रहते हैं ।

अन्नमयकोश की स्थिति के अनुसार शरीर का ढाँचा और रंग रूप बनता है । उसी के अनुसार इन्द्रियों की शक्तियाँ होती हैं । बालक जन्म से ही कितनी ही शारीरिक त्रुटियाँ, अपूर्णतायें या विशेषतायें लेकर आता है । किसी की देह आरम्भ में ही मोटी, किसी की जन्म से ही पतली होती है । आँखों की दृष्टि, वाणी की विशेषता, मस्तिष्क का भौंड़ा या तीव्र होना, किसी विशेष अंग का निर्बल या न्यून होना, अन्नमय कोश की स्थिति के अनुरूप होता है । माता-पिता के रज-वीर्य का भी उसमें थोड़ा प्रभाव होता है, पर विशेषता अपने कोश की ही रहती है । कितने ही बालक माता-पिता की अपेक्षा अनेक बातों में बहुत भिन्न पाये जाते हैं ।

शरीर अन्न से बनता और बढ़ता है । अन्न के भीतर सूक्ष्म जीवन तत्त्व रहता है, वह अन्नमय कोश को बनाता है । जैसे शरीर में पाँच कोश है, वैसे ही अन्न में तीन कोश हैं- स्थूल, सूक्ष्म, कारण । स्थूल में स्वाद और भार, सूक्ष्म में प्रभाव और गुण तथा कारण के कोश में अन्न का संस्कार रहता है । जिह्वा से केवल भोजन का स्वाद मालूम होता है । पेट उसके बोझ का अनुभव करता है, रस में उसकी मादकता, उष्णता आदि प्रकट होती है ।

अन्नमय कोश पर उसका संस्कार जमता है । मांस आदि अनेक अभक्ष्य पदार्थ ऐसे हैं, जो जीभ को स्वादिष्ट लगते हैं, देह को मोटा बनाने में भी सहायक होते हैं, पर उनमें सूक्ष्म संस्कार ऐसा होता है, जो अन्नमय कोश को विकृत कर देता है और उसका परिणाम अदृश्य रूप से आकस्मिक रोगों के रूप में तथा जन्म-जन्मान्तर तक कुरूपता एवं शारीरिक अपूर्णता के रूप में चलता है । इसलिये आत्म विद्या के ज्ञाता सदा सात्त्विक, सुसंस्कारी अन्न पर जोर देते हैं; ताकि स्थूल शरीर में बीमारी, कुरूपता, अपूर्णता, आलस्य एवं कमजोरी की बढ़ोत्तरी न हो । जो लोग अभक्ष्य खाते हैं, वे अब नहीं तो भविष्य में ऐसी आन्तरिक विकृति से ग्रस्त हो जायेंगे, जो उनको शारीरिक सुख से वञ्चित रखे रहेगी । इस प्रकार अनीति से उपार्जित धन या पाप की कमाई प्रकट में आकर्षक लगने पर भी अन्नमय कोश को दूषित करती है और अन्त में शरीर को विकृत तथा चिररोगी कर देती है । धन सम्पन्न होने पर भी ऐसी दुर्दशा भोगने के अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष दिखाई दिया करते हैं ।

कितने ही शारीरिक विकारों की जड़ अन्नमय कोश में होती है । उनका निवारण दवा-दारू से नहीं, यौगिक साधनाओं से हो सकता है । जैसे संयम, चिकित्सा, शल्यक्रिया, व्यायाम, मालिश, विश्राम, उत्तम आहर-विहार, जलवायु आदि से शारीरिक स्वास्थ्य में बहुत कुछ अन्तर हो सकता है, वैसे ही कुछ ऐसी भी प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा अन्नमय कोश को परिमार्जित एवं परिपुष्ट किया जा सकता है और विविध-विध शारीरिक अपूर्णताओं से छुटकारा पाया जा सकता है । ऐसी पद्धतियों में १-उपवास २-आसन, ३-तत्त्व शुद्धि, ४-तपश्चर्या- ये चार मुख्य हैं । इन चारों पर इस प्रकरण में कुछ प्रकाश डालेंगे ।

उपवास

जिनके शरीर में मलों का भाग संचित हो रहा हो, उस रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने से पहले ही चिकित्सक उसे जुलाब देते हैं, ताकि दस्त होने से पेट साफ हो जाए और औषधि अपना काम कर सके । यदि चिर संचित मल के ढेर की सफाई न की जाए, तो औषधि भी उस मल के ढेर में मिलकर प्रभावहीन हो जाएगी । अन्नमय कोश की अनेक सूक्ष्म विकृतियों का परिवर्तन करने में उपवास वही काम करता है, जो चिकित्सा के पूर्व जुलाब लेने से होता है ।

मोटे रूप से उपवास के लाभों से सभी परिचित हैं । पेट में रुका अपच पच जाता है, विश्राम से पाचन अंग नव चेतना के साथ दूना काम करते हैं, आमाशय में भरे हुए अपक्व अन्न से जो विष उत्पन्न होता है, वह नहीं बनता, आहार की बचत से आर्थिक लाभ होता है । ये उपवास के लाभ ऐसे हैं, जो हर किसी को मालूम हैं । डाक्टरों का यह भी निष्कर्ष प्रसिद्ध है कि स्वल्पाहारी दीर्घजीवी होते हैं । जो बहुत खाते हैं, पेट को ठूँस-ठूँसकर भरते हैं, कभी पेट को चैन नहीं लेने देते, एक दिन को भी उसे छुट्टी नहीं देते, वे अपनी जीवनी सम्पत्ति को जल्दी ही समाप्त कर लेते हैं और स्थिर आयु की अपेक्षा बहुत जल्दी उन्हें दुनिया से बिस्तर बाँधना पड़ता है । आज के राष्ट्रीय अन्न-संकट में तो उपवास, देशभक्ति भी है । यदि लोग सप्ताह में एक दिन उपवास करने लगें, तो विदेशों से करोड़ों रुपये का अन्न न मँगाना पड़े और अन्न सस्ता होने के साथ-साथ अन्य सभी चीजें भी सस्ती हो जायें ।

गीता में **'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'** श्लोक में बताया है कि उपवास से विषय-विकारों की निवृत्ति होती है । मन का विषय-विकारों से रहित होना एक बहुत बड़ा मानसिक लाभ है । उसे ध्यान में रखते हुए भारतीय धर्म में प्रत्येक शुभ कार्य के साथ उपवास को जोड़ दिया है । कन्यादान के दिन माता-पिता उपवास रखते हैं, अनुष्ठान के दिन यजमान तथा आचार्य उपवास रखते हैं । नवदुर्गा के नौ दिन कितने ही स्त्री-पुरुष पूर्ण या आंशिक उपवास रखते हैं । ब्राह्मण भोजन कराने से पूर्व, उस दिन घर वाले भोजन नहीं करते । स्त्रियाँ अपने पति तथा सास-ससुर आदि पूज्यों को भोजन कराये बिना भोजन नहीं करतीं । यह आंशिक उपवास भी चित्त शुद्धि की दृष्टि से बड़े उपयोगी होते हैं ।

स्वाध्याय की दृष्टि से उपवास का असाधारण महत्त्व है । रोगियों के लिये तो इसे जीवन मूरि ही कहते हैं । चिकित्सा शास्त्र का रोगियों को एक दैवी उपदेश है कि 'बीमारी को भूखा मारो ।' संक्रामक, कष्टसाध्य एवं खतरनाक रोगों में लंघन भी चिकित्सा का एक अंग है । मोतीझरा, निमोनिया, विशूचिका, प्लेग, सन्निपात, टाइफाइड

जैसे रोगों में कोई भी चिकित्सक उपवास कराये बिना रोग को आसानी से अच्छा नहीं कर पाता। प्राकृतिक चिकित्सा-विज्ञान में तो, समस्त रोगों में पूर्ण या आंशिक उपवास को ही प्रधान उपचार माना गया है।

इस तथ्य को हमारे ऋषियों ने भली प्रकार समझा था। उन्होंने हर महीने कई उपवासों का धार्मिक महत्त्व स्थापित किया था।

अन्नमय कोश की शुद्धि के लिये उपवास की विशेष आवश्यकता है। शरीर में कई जाति की उपत्यकायें देखी जाती हैं, जिन्हें शरीर शास्त्री 'नाड़ी गुच्छक' कहते हैं। देखा गया है कि कई स्थानों पर ज्ञान तन्तुओं जैसी बहुत पतली नाड़ियाँ आपस में चिपकी होती हैं। यह गुच्छक कई बार रस्सी की तरह आपस में लिपटे और बँटे हुए होते हैं। कई जगह वह गुच्छक गाँठ की तरह ठोस गोली जैसे बन जाते हैं।

कई बार यह समानान्तर लहराते हुए सर्प की भाँति चलते हैं और अन्त में उनके सिर आपस में जुड़ जाते हैं। कई जगह इनमें बरगद के वृक्ष की तरह शाखा-प्रशाखायें फैली रहती हैं और इस प्रकार के कई गुच्छक परस्पर सम्बन्धित होकर एक परिधि बना लेते हैं, इनके रंग आकार एवं अनुच्छेदन में काफी अन्तर होता है। यदि अनुसन्धान किया जाए तो, उनके तापमान, अणु परिक्रमण एवं प्रतिभापुंज में भी काफी अन्तर पाया जायेगा।

वैज्ञानिक इन नाड़ी गुच्छकों के कार्य का कुछ विशेष परिचय अभी तक प्राप्त नहीं कर सके हैं, पर योगी लोग जानते हैं कि यह उपत्यकायें शरीर में अन्नमय कोश की बन्धन ग्रन्थियाँ हैं। मृत्यु होते ही सब बन्धन खुल जाते हैं और फिर एक भी गुच्छक दृष्टिगोचर नहीं होता। यह उपत्यिकायें अन्नमय कोश के गुण-दोषों की प्रतीक हैं। 'इन्धिका' जाति की उपत्यकायें चंचलता, अस्थिरता, उद्विग्नता की प्रतीक हैं। जिन व्यक्तियों में इस जाति के नाड़ी गुच्छक अधिक हों, तो उनका शरीर एक स्थान पर बैठकर काम न कर सकेगा, उन्हें कुछ खटपट करते रहनी पड़ेगी। 'दीपिका' जाति की उपत्यकायें जोश, क्रोध, शारीरिक उष्णता, अधिक पाचन, गर्मी, खुश्की आदि उत्पन्न करेंगी। ऐसे गुच्छकों की अधिकता वाले लोग चर्म रोग, फोड़ा-फुन्सी, नकसीर फूटना, पीला पेशाब, आँखों में जलन आदि रोगों के शिकार होते रहेंगे।

'मोचिकाओं' की अधिकता वाले व्यक्ति के शरीर से पसीना, लार, कफ, पेशाब आदि मलों का निष्कासन अधिक होगा। पतले दस्त अक्सर हो जाते हैं और जुकाम की शिकायत होते देर नहीं लगती। 'आप्यायिनी' जाति के गुच्छक आलस्य, अधिक निद्रा, अनुत्साह, भारीपन उत्पन्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति थोड़ी-सी मेहनत में थक जाते हैं। उनसे शारीरिक या मानसिक कार्य विशेष नहीं हो सकता।

'पूषा' जाति के गुच्छक काम वासना की ओर मन को बलात् खींच ले जाते हैं। संयम, ब्रह्मचर्य के सारे आयोजन रखे रह जाते हैं। 'पूषा' का तनिक-सा उत्तेजन मन को बेचैन कर डालता है और वह बेकाबू होकर विकार ग्रस्त हो जाता है। शिवजी पर शर संधान करते समय कामदेव ने अपने कुसुम बाण से उस प्रदेश की 'पूषाओं' को उत्तेजित कर डाला था।

'चन्द्रिका' जाति की उपत्यकायें सौन्दर्य बढ़ाती हैं। उनकी अधिकता से वाणी में मधुरता, नेत्रों में मादकता, चेहरे पर आकर्षण, कोमलता एवं मोहकता की मात्रा रहेगी। 'कपिला' के कारण नम्रता, डर लगना, दिल की धड़कन, बुरे स्वप्न, आशंका, मस्तिष्क की अस्थिरता, नपुंसकता, वीर्यरोग आदि लक्षण पाये जाते हैं। 'घूसार्चि' में संकोचन शक्ति बहुत होती है। फोड़े देर में पकते हैं, कफ मुश्किल से निकलता है। शौच कच्चा और देर में होता है मन की बात कहने में झिझक लगती है। ऊष्माओं की अधिकता से मनुष्य हाँफता रहता है। जाड़े में भी गर्मी लगती है। क्रोध आते देर नहीं लगती। जल्दबाजी बहुत होती है। रक्त की गति, श्वास-प्रश्वास में तीव्रता रहती है।

'अमाया' वर्ण के गुच्छक, दृढ़ता, मजबूती, कठोरता, गम्भीरता, हठधर्मी के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार के शरीरों पर बाह्य उपचारों का कुछ असर नहीं होता। कोई दवा काम नहीं करती, ये स्वेच्छापूर्वक रोगी या रोग मुक्त होती हैं। उन्हें कोई कुपथ्य रोगी नहीं कर पाता; परन्तु जब गिरते हैं, तो संयम- नियम का पालन भी कुछ काम नहीं आता।

चिकित्सक लोगों के उपचार अनेक बार असफल होते रहते हैं। कारण कि उपत्यकाओं के अस्तित्व के कारण शरीर की सूक्ष्म स्थिति कुछ ऐसी हो जाती है कि चिकित्सा कुछ विशेष काम नहीं करती। 'उद्‌गीथ' उपत्यकाओं की अभिवृद्धि से सन्तान होना बन्द हो जाता है। यह जिस पुरुष या स्त्री में अधिक होंगी, वह पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी सन्तानोत्पादन के अयोग्य हो जायेगा।

स्त्री-पुरुष में से 'असिता' की अधिकता जिनमें होगी, वही अपने लिंग की सन्तान उत्पन्न करने में विशेष सफल रहेगा। 'असिता' से सम्पन्न नारी को कन्यायें और पुरुष को पुत्र उत्पन्न करने में सफलता मिलती है। जोड़े में से जिसमें 'असिता' की अधिकता होगी, उसकी शक्ति जीतेगी।

'युक्त हिंस्रा' जाति के गुच्छक क्रूरता, दुष्टता, परपीड़न की प्रेरणा देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को चोरी, जुआ, व्यभिचार, ठगी आदि करने में बड़ा रस आता है। आवश्यक धन, सम्पत्ति होते हुए भी उनका अनुचित मार्ग अपनाने का मन चलता रहता है। कोई विशेष कारण न होते हुए भी दूसरों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और आक्रमण का आचरण करते हैं। ऐसे लोग माँसाहार, मद्यपान, शिकार खेलना, मारपीट करना या लड़ाई-झगड़े को और पंच बनने को बहुत पसन्द करते हैं। 'हिंस्रा' उपत्यकाओं की अधिकता वाला मनुष्य सदा ऐसे काम करने में रस लेगा, जो अशान्ति उत्पन्न करते हों। ऐसे लोग अपना सिर फोड़ लेने, आत्म-हत्या करने, अपने बच्चों को बेतरह पीटने और कुकृत्य करते देखे जाते हैं।

उपरोक्त पंक्तियों में कुछ थोड़ी-सी उपत्यकाओं का वर्णन किया गया है। इनकी ९६ जातियाँ जानी जा सकी हैं। सम्भव है ये इससे भी अधिक होती हों। ये ग्रन्थियाँ ऐसी हैं, जो शारीरिक स्थिति को इच्छानुकूल रखने में बाधक होती हैं। मनुष्य चाहता है कि मैं अपने शरीर को ऐसा बनाऊँ, वह उसके लिये कुछ उपाय भी करता है, पर कई बार वे उपाय सफल नहीं होते। कारण यह है कि ये उपत्यकायें भीतर ही भीतर शरीर में ऐसी विलक्षण क्रिया एवं प्रेरणा उत्पन्न करती हैं, जो बाह्य प्रयत्नों को सफल नहीं होने देतीं और मनुष्य अपने को बार-बार असफल एवं असहाय अनुभव करता है।

अन्नमय कोश को शरीर से बाँधने वाली यह उपत्यकायें शारीरिक एवं मानसिक अकर्मों से उलझकर विकृत होती हैं तथा सत्कर्मों से सुव्यवस्थित रहती हैं। बुरा आचरण तो खाई खोदने जैसा है और शरीर को उस खाई में गिराकर रोग- शोक आदि की पीड़ा सहनी पड़ती है। इन उलझनों को सुलझाने के लिये आहार-विहार का संयम एवं सात्त्विक रखना, दिनचर्या ठीक रखना, प्रकृति के आदेशों पर चलना आवश्यक है। साथ में कुछ ऐसे ही विशेष यौगिक उपाय भी हैं, जो उन आन्तरिक विकारों पर काबू पा सकते हैं, जिनको कि केवल बाह्योपचार से सुधारना कठिन है।

उपवास का उपत्यकाओं के संशोधन, परिमार्जन और सुसंतुलन से बड़ा सम्बन्ध है। योग साधना में उपवास का एक सुविस्तृत विज्ञान है। अमुक अवसर पर, अमुक मास में, अमुक मुहूर्त में, अमुक प्रकार से उपवास करने का अमुक फल होता है। ऐसे आदेश शास्त्रों में जगह-जगह पर मिलते हैं। ऋतुओं के अनुसार शरीर की छः अग्नियाँ न्यूनाधिक होती रहती हैं। ऊष्मा, बहुवृच, ह्वादी, रोहिता, आत्पता, व्याति-यह छः शरीरगत अग्नियाँ ग्रीष्म से लेकर वसन्त तक छः ऋतुओं में क्रियाशील रहती है। इनमें से प्रत्येक के गुण भिन्न-भिन्न हैं।

१-उत्तरायण, दक्षिणायन की गोलार्ध स्थिति, २- चन्द्रमा की घटती- बढ़ती कलायें, ३- नक्षत्रों का भूमि पर आने वाला प्रभाव, ४- सूर्य की अंश किरणों का मार्ग। इन चारों बातों का शरीरगत ऋतु अग्नियों के साथ सम्बन्ध होने से क्या परिणाम होता है, इनका ध्यान रखते हुए ऋतुओं ने ऐसे पुण्य-पर्व निश्चित किये हैं, जिनमें अमुक विधि से उपवास किया जाए, तो उसका अमुक परिणाम हो सकता है। कार्तिक कृष्णा चौथ जिसे करवा चौथ कहते हैं। उस दिन का उपवास दाम्पत्य प्रेम बढ़ाने वाला होता है; क्योंकि उस दिन की गोलार्द्ध स्थिति, चन्द्रकलायें, नक्षत्र प्रभाव एवं सूर्य मार्ग का सम्मिश्रण परिणाम, शरीरगत अग्नि के साथ समन्वित होकर शरीर एवं मन की स्थिति को ऐसा उपयुक्त बना देता है, जो दाम्पत्य सुख को सुदृढ़ और चिरस्थायी बनाने में बड़ा सहायक होता है।

इसी प्रकार के अन्य व्रत— उपवास हैं, जो अनेक इच्छाओं और आवश्यकताओं को पूरा करने में तथा बहुत से अनिष्टों को टालने में उपयोगी सिद्ध होते हैं।

उपवासों के पाँच भेद होते हैं- (१) पाचक (२) शोधक (३) शामक (४) आनक (५) पावक। पाचक उपवास वे हैं जो पेट के अपच, अजीर्ण, कोष्ठबद्धता को पचाते हैं। शोधक वे हैं जो रोगों को भूखा मार डालने के लिये किये जाते हैं, इन्हें लंघन भी कहते हैं। शामक वे हैं जो कुविचारों, मानसिक विकारों, दुष्प्रवृत्तियों एवं विकृत उपत्यकाओं का शमन करते हैं। आनक- वे हैं, जो किसी विशेष प्रयोजन के लिये दैवी शक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये किये जाते हैं। पावक वे हैं, जो पापों के प्रायश्चित के लिये होते हैं। आत्मिक और मानसिक स्थिति के अनुरूप कौन-सा उपवास उपयुक्त होगा और उसके क्या नियमोपनियम होने चाहिये, इसका निर्णय करने के लिये सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता है।

साधक का अन्नमय कोश किस स्थिति में है ? उसकी कौन उपत्यकायें विकृत हो रही हैं ? किस उत्तेजित संस्थान को शान्त करने एवं किस मर्म स्थल को सतेज करने की आवश्यकता है ? यह देखकर निर्णय किया जाना चाहिये कि कौन व्यक्ति किस प्रकार का उपवास कब करे ?

पाचक उपवास में तब तक भोजन छोड़ देना चाहिये, जब तक कि कड़ाके की भूख न लगे। एक बार का, एक दिन का या दो दिन का आहार छोड़ देने से आमतौर पर कब्ज पक जाता है। पाचक उपवास में सहायता देने के लिये नींबू का रस, जल एवं किसी पाचक औषधि का सेवन किया जा सकता है।

शोधक उपवासों के साथ विश्राम आवश्यक है। यह लगातार तब तक चलते हैं, जब तक रोगी खतरनाक स्थिति को पार न कर लें। औटाकर ठण्डा किया हुआ पानी ही ऐसे उपवासों में एक मात्र अवलम्ब होता है।

शामक उपवास दूध, छाछ, फलों का रस आदि पतले, रसीले हल्के पदार्थों के आधार पर चलते हैं। इन उपवासों में स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन, एकान्त सेवन, मौन, जप, ध्यान, पूजा, प्रार्थना आदि आत्म-शुद्धि के उपचार भी साथ में होने चाहिये।

आनक उपवास में सूर्य की किरणों द्वारा अभीष्ट दैवी शक्ति का आवाहन करना चाहिये। सूर्य की सप्तवर्ण किरणों में राहु, केतु को छोड़कर अन्य सातों ग्रहों की रश्मियाँ सम्मिलित होती हैं। सूर्य में तेजस्विता, उष्णता, पित्त प्रकृति प्रधान है। चन्द्रमा- शीतल, शान्तिदायक, उज्ज्वल, कीर्तिकारक। मंगल-कठोर, बलवान्, संहारक। बुध-सौम्य, शिष्ट, कफ प्रधान, सुन्दर आकर्षक। गुरु- विद्या, बुद्धि, धन, सूक्ष्मदर्शिता, शासन, न्याय राज्य का अधिष्ठाता। शुक्र-वात प्रधान, चञ्चल, उत्पादक, कूटनीतिक। शनि- स्थिरता, स्थूलता, सुखोपभोग, दृढ़ता, परिपुष्टि का प्रतीक है। जिस गुण की आवश्यकता हो, उसके अनुरूप दैवी तत्त्वों को आकर्षित करने के लिये सप्ताह में उसी दिन उपवास करना चाहिये। इन उपवासों में लघु आहार उन ग्रहों में समता रखने वाला होना चाहिये तथा उसी ग्रह के अनुरूप रंग की वस्तुयें वस्त्र आदि का जहाँ तक सम्भव हो अधिक प्रयोग करना चाहिये।

रविवार को श्वेतरंग और गाय के दूध, दही का आहार उचित है। सोमवार को पीला रंग और चावल का माड़ उपयुक्त है। मंगल को लाल रंग, भैंस का दही या छाछ। बुध को नीले रंग और खट्टे-मीठे फल। गुरु को नारंगी रंग वाले मीठे फल। शुक्र को हरा रंग, बकरी का दूध, दही, गुड़ का उपयोग ठीक रहता है। प्रातःकाल की किरणों के सम्मुख खड़े होकर, नेत्र बन्द करके निर्धारित किरणें अपने में प्रवेश होने का ध्यान करने से वह शक्ति सूर्य रश्मियों द्वारा अपने में अवतरित होती है।

पावक उपवास प्रायश्चित्त स्वरूप किये जाते हैं। ऐसे उपवास केवल जल लेकर करने चाहिये। अपनी भूल के लिये प्रभु से सच्चे हृदय से क्षमा याचना करते हुए, भविष्य में वैसी भूल न करने का प्रण करना चाहिये। अपराध के लिये शारीरिक कष्टसाध्य तितिक्षा एवं शुभ कार्य के लिये इतना दान करना चाहिये, जो पाप की व्यथा को पुण्य की शान्ति के बराबर कर सके। चान्द्रायण व्रत, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि पावक व्रतों में गिने जाते हैं।

प्रत्येक उपवास में यह बातें विशेष रूप से ध्यान रखते हैं- १-उपवास के दिन जल बार-बार पीना चाहिये, बिना प्यास के पीना चाहिये। २- उपवास के दिन अधिक शारीरिक श्रम न करना चाहिये। ३- उपवास के दिन

यदि निराहार न रहा जाए तो अल्प मात्रा में रसीले पदार्थ, दूध, फल आदि ले लेना चाहिये । मिठाई, हलुआ आदि गरिष्ठ पदार्थ भरपेट खा लेने से उपवास का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । ४- उपवास तोड़ने के बाद हल्का शीघ्र पचने वाला आहार स्वल्प मात्रा में लेना चाहिये । उपवास समाप्त होते ही अधिक मात्रा में भोजन कर लेना हानिकारक है । ५- उपवास के दिन अधिकांश समय आत्म-चिन्तन, स्वाध्याय या उपासना में लगाना चाहिये ।

उपत्यकाओं के शोधन, परिमार्जन और उपयोगीकरण के लिये उपवास किसी विज्ञ पथ-प्रदर्शक की सलाह से करने चाहिये । साधारण उपवास जो कि प्रत्येक गायत्री उपासक के अनुकूल होता है, रविवार के दिन होना चाहिये । उस दिन सातों ग्रहों की सम्मिलित शक्ति पृथ्वी पर आती है, जो विविध प्रयोजनों के लिये उपयोगी होती है । रविवार को प्रातःकाल स्नान करके या सम्भव न हो तो हाथ-मुँह धोकर शुद्ध वस्त्रों में सूर्य के सम्मुख मुख करके बैठना चाहिये और एक बार खुले नेत्र बन्द कर लेने चाहिये । "इस सूर्य के तेजपुञ्ज रूपी समुद्र में हम स्नान कर रहे हैं, वह हमारे चारों ओर ओत-प्रोत हो रहा है" ऐसा ध्यान करने से सविता की ब्रह्म रश्मियाँ अपने भीतर भर जाती हैं । बाहर से चेहरे पर धूप पड़ना और भीतर से ध्यानाकर्षण द्वारा उसकी सूक्ष्म रश्मियों को खींचना उपत्यकाओं को सुविकसित करने में बड़ा सहायक होता है । यह साधना १५-२० मिनट तक की जा सकती है ।

उस दिन श्वेत वर्ण की वस्तुओं का अधिक प्रयोग करना चाहिये, वस्त्र भी अधिक सफेद ही हों । दोपहर के बारह बजे के बाद फलाहार करना चाहिये । जो लोग रह सकें, वे निराहार रहें, जिन्हें कठिनाई हो, वे फल, दूध, शाक लेकर रहें । बालक, वृद्ध, गर्भिणी, रोगी या कमजोर व्यक्ति चावल, दलिया आदि दोपहर को, दूध रात को ले सकते हैं, नमक एवं शक्कर इन दो स्वाद उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को छोड़कर बिना स्वाद का भोजन भी एक प्रकार का उपवास हो जाता है । आरम्भ में अस्वाद आहार के आंशिक उपवास से भी गायत्री साधक अपनी प्रवृत्ति को बढ़ा सकते हैं ।

आसन

मोटे तौर से आसनों को शारीरिक व्यायाम में ही गिना जाता है । उनसे वे लाभ मिलते हैं, जो व्यायाम द्वारा मिलने चाहिये । साधारण कसरतों से जिन भीतर के अंगों का व्यायाम नहीं हो पाता, उनका आसनों द्वारा हो जाता है ।

ऋषियों ने आसनों को योग साधना में इसलिये प्रमुख स्थान दिया है कि ये स्वास्थ्य रक्षा के लिये अतीव उपयोगी होने के अतिरिक्त मर्म स्थानों में रहने वाली 'हव्य-वहा' और 'कव्य-वहा' तड़ित शक्ति को क्रियाशील रखते हैं । मर्मस्थल वे हैं जो अतीव कोमल हैं और प्रकृति ने उन्हें इतना सुरक्षित बनाया है कि साधारणतः उन तक बाह्य प्रभाव नहीं पहुँचता । आसनों से इनकी रक्षा होती है ।

इन मर्मों की सुरक्षा में यदि किसी प्रकार की बाधा पड़ जाय, तो जीवन संकट में पड़ सकता है । ऐसे मर्म स्थान उदर और छाती के भीतर विशेष हैं । कण्ठ-कूप, स्कन्ध- पुच्छ, मेरुदण्ड और ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्धित ३६ मर्म हैं । इनमें कोई आघात लग जाए, रोग विशेष के कारण विकृति आ जाए, रक्ताभिषरण रुक जाए और विष-बालुका जमा हो जाए, तो देह भीतर ही भीतर घुलने लगती है । बाहर से कोई प्रत्यक्ष या विशेष रोग दिखाई नहीं पड़ता, पर भीतर-भीतर देह खोखली हो जाती है । नाड़ी में ज्वर नहीं होता, पर मुँह का कड़ुआपन शरीर में रोमांच, भारीपन, उदासी, हड़फूटन, शिर में हल्का-सा दर्द, प्यास आदि भीतरी ज्वर जैसे लक्षण दिखाई पड़ते हैं । वैद्य, डाक्टर कुछ समझ नहीं पाते, दवा-दारू देते हैं, पर कुछ विशेष लाभ नहीं होता ।

मर्मों में चोट पहुँचने से आकस्मिक मृत्यु हो सकती है । तांत्रिक अभिचारी, जब मारण प्रयोग करते हैं, तो उनका आक्रमण इन मर्म स्थलों पर ही होता है । हानि, शोक, अपमान आदि की कोई मानसिक चोट लगे तो मर्मस्थल क्षत-विक्षत हो जाते हैं और उस व्यक्ति के प्राण संकट में पड़ जाते हैं । मर्म अशक्त हो जायें तो गठिया, गंज, श्वेतकण्ठ, पथरी, गुर्दे की शिथिलता, त्वचा की खुश्की, बहुमूत्र, बवासीर जैसे न ठीक होने वाले रोग उपज पड़ते हैं ।

हाथ और पैरों को मजबूत बनाने वाले
चार उपयोगी आसन

सर्वांगासन

बद्धपद्मासन

पाद हस्तासन

उत्कटासन

(इन आसनों को नित्य करने से हाथ-पाँवों की नसें तथा माँसपेशियाँ मजबूत होती हैं तथा उनकी शक्ति बढ़ती है।)

पीठ और पेट को मजबूत बनाने वाले
चार महाप्रभावी आसन

इन आसनों का अभ्यास करते रहने से रीढ़, पसलियाँ, फेफड़े, हृदय, आमाशय, आँतों और जिगर की दुर्बलता दूर होती है।

पश्चिमोत्तान आसन

मयूरासन

सर्पासन

धनुरासन

शिर और धड़ में रहने वाले मर्मों में 'हव्य-वहा' नामक धन (पोजेटिव) विद्युत् का निवास और हाथ-पैरों में, 'कव्य-वहा' ऋण (नेगेटिव) विद्युत् की विशेषता है । दोनों का सन्तुलन बिगड़ जाए, तो लकवा, अर्द्धांग, सन्धिवात जैसे उपद्रव खड़े होते हैं ।

कई बार मोटे, तगड़े स्वस्थ दिखाई पड़ने वाले मनुष्य भी ऐसे मन्द रोगों से ग्रसित हो जाते हैं, जो उनकी शारीरिक अच्छी स्थिति को देखते हुए नहीं होने चाहिये थे । इन मार्मिक रोगों का कारण मर्म स्थलों की गड़बड़ी है । कारण यह है कि साधारण परिश्रम या कसरतों द्वारा इन मर्म स्थानों का व्यायाम नहीं हो पाता । औषधियों की वहाँ तक पहुँच नहीं होती । शल्य क्रिया या सूची-भेद (इन्जेक्शन) भी उनको प्रभावित करने में समर्थ नहीं होते । उस विकट गुत्थी को सुलझाने में केवल 'योग-आसन' ऐसे तीक्ष्ण अस्त्र हैं, जो मर्म शोधन में अपना चमत्कार दिखाते हैं ।

ऋषियों ने देखा कि अच्छा आहार-विहार रखते हुए भी विश्राम व्यायाम की समुचित व्यवस्था रखते हुए भी कई बार अज्ञात सूक्ष्म कारणों से मर्म स्थल विकृत हो जाते हैं और उनमें रहने वाली, 'हव्य-वहा'और कव्य-वहा' तड़ित शक्ति का सन्तुलन बिगड़ जाने से बीमारी तथा कमजोरी आ घेरती हैं, जिससे योग साधना में बाधा पड़ती है । इस कठिनाई को दूर करने के लिये उन्होंने अपने दीर्घकालीन अनुसंधान और अनुभव द्वारा 'आसन-क्रिया' का अविष्कार किया है ।

आसनों का सीधा प्रभाव हमारे मर्म स्थलों पर पड़ता है । प्रधान नस-नाड़ियों और मांस-पेशियों के अतिरिक्त सूक्ष्म कशेरुकाओं का भी आसनों द्वारा ऐसा आकुंचन-प्रकुंचन होता है कि उनमें जमे हुए विकार हट जाते हैं तथा फिर नित्य सफाई होती रहने से नये विकार जमा नहीं होते । मर्मस्थलों की शुद्धि, स्थिरता एवं परिपुष्टि के लिये आसनों को अपने ढंग का सर्वोत्तम उपचार कहा जा सकता है ।

आसन अनेक हैं, उनमें से ८४ प्रधान हैं । उन सबकी विधि- व्यवस्था और उपयोगिता वर्णन करने का यहाँ अवसर नहीं है । सर्वांगपूर्ण आसन विद्या की शिक्षा यहाँ नहीं दी जा सकती । इस विषय पर हमारी 'बलवर्द्धक व्यायाम' पुस्तक देखनी चाहिये । आज तो हमें गायत्री की योग साधना करने के इच्छुकों को ऐसे सुलभ आसन बताना पर्याप्त होगा; जो साधारणतः उसके सभी मर्म स्थलों की सुरक्षा में सहायक हों ।

आठ आसन ऐसे हैं, जो सभी मर्मों पर अच्छा प्रभाव डालते हैं । उनमें से जो चार या अधिक अपने लिये सुविधाजनक हों, उन्हें भोजन से पूर्व कर लेना चाहिये । इनकी उपयोगिता एवं सरलता अन्य आसनों से अधिक है । उपासना के पश्चात् ही करना चाहिये, जिससे रक्त की गति तीव्र हो जाने से उत्पन्न हुई चित्त की चञ्चलता ध्यान में बाधक न हो ।

सर्वांगासन- आसन पर चित्त लेट जाइये और शरीर को बिलकुल सीधा कर दीजिये । हाथों को जमीन से ऐसा मिला रखिये कि हथेलियाँ जमीन से चिपकी रहें । अब घुटने सीधे कड़े करके दोनों पैर मिले हुए ऊपर को उठाइये और पैरों को ले जाकर सिर के पीछे जमीन से लगाइये । पैर मुड़ने न पावें, बल्कि सीधे तने हुए रहें । हाथ चाहे जमीन पर रखिये, चाहे सहारे के लिये कमर से लगा दीजिये । ठोड़ी कण्ठ के सहारे से चिपकी रहनी चाहिये ।

बद्ध-पद्मासन- पालथी मार कर आसन पर बैठिये । फिर पीठ के पीछे से दाहिना हाथ ले जाकर दाहिने पैर का अँगूठा पकड़िये और बायाँ हाथ उसी तरह ले ज़ाकर बाँयें पैर का अँगूठा पकड़िये । पीठ को तान दीजिये और दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर जमाइये । ठोड़ी को कण्ठ के मूल में गढ़ाये रखिये । बहुतों के हाथ शुरू में ही पीठ के पीछे घूमकर अँगूठा नहीं पकड़ सकते, इसका कारण उनकी इन नसों का शुद्ध और पूरे फैलाव में न होना है । इसलिये जब तक दोनों पैरों के अँगूठे पकड़े न जा सकें, तब तक एक ही पैर का अँगूठा पकड़ कर अभ्यास करना चाहिये ।

पाद-हस्तासन- सीधे खड़े हो जाइये । फिर धीरे-धीरे हाथों को नीचे ले जाकर हाथ से पैरों के दोनों अँगूठा

को पकड़िये । पैर आपस में मिले और बिलकुल सीधे रहें, घुटने-मुड़ने न पावें । इसके बाद सिर दोनों हाथों के बीच से भीतर की ओर ले जाकर नाक सीधा घुटनों से मिलाइये । दाहिने हाथ से बाँये पैर और बाँये हाथ से दाहिने पैर का अँगूठा पकड़ करके भी यह किया जाता है । इस आसन को करते समय पेट को भीतर की ओर खूब जोर से खींचना चाहिये ।

उत्कटासन- सीधे खड़े हो जाइये । दोनों पैर, घुटने, एड़ी और पंजे आपस में मिले रहने चाहिये । दोनों हाथ कमर पर रहें, पेट को कुछ भीतर की तरफ खींचिये और घुटनों को मोड़ते हुए शरीर सीधा रखते हुए उसे धीरे-धीरे पीछे की ओर झुकाइये । इस प्रकार बिलकुल उस तरह हो जाइये जैसे कुर्सी पर बैठते हैं । जब कमर झुककर घुटनों के सामने हो जाए, तो उसी दिशा में स्थिर हो जाना चाहिये ।

इसका अभ्यास हो जाने पर एड़ियों को भी जमीन से उठा दीजिये और केवल पंजों के बल स्थिर होइये । उसका भी अभ्यास हो जाए, तो घुटनों को खोलिये और उन्हें काफी फैला दीजिये । ध्यान रहे घुटनों को इस प्रकार रखिये कि दोनों हाथों की उँगलियाँ, घुटनों के बाहर जमीन को छूती रहें ।

पश्चिमोत्तान आसन- पैरों को लम्बा फैला दीजिये । दोनों पैर मिले रहें । घुटने मुड़े न हों, बिलकुल सीधे रहें । टाँगें जमीन से मिली रहें । इसके बाद टाँगों को झुकाकर दोनों हाथों से पैरों के दोनों अँगूठों को पकड़िये । ध्यान रहे कि पैर जमीन से जरा भी न उठने पाएँ । पैरों के अँगूठे पकड़ कर सिर दोनों घुटनों के बीच में करके यह प्रयत्न करना चाहिये कि सिर घुटनों पर या उनके भी आगे रखा जा सके ।

यदि बन सके तो हाथ की कोहनियों को जमीन से छुआना चाहिये । शुरू में पैर फैलाकर और घुटने सीधे रखकर कमर आगे झुकाकर अँगूठे पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिये और धीरे-धीरे पकड़ने लग जाने पर सिर घुटनों पर रखने का प्रयत्न करना चाहिये ।

सर्पासन- पेट के बल आसन पर लेट जाइये । फिर दोनों हाथों के पंजे जमीन पर टेक कर हाथ खड़े कर दीजिये । पंजे नाभि के पास रहें । शरीर पूरी तरह जमीन से चिपटा हो, मूल घुटने यहाँ तक कि पैर के पंजों की पीठ तक जमीन से पूरी तरह चिपकी हो । अब क्रमशः सिर, गर्दन, गला, छाती और पेट को धीरे-धीरे जमीन से उठाते जाइये और जितना तान सकें तान दीजिये । दृष्टि सामने रहे । शरीर साँप के फन की तरह तना खड़ा रहे, नाभि के पास तक शरीर जमीन से उठा रहना चाहिये ।

धनुरासन- आसन पर लेट जाइये । फिर दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर पीछे की तरफ ले जाइये और हाथ भी पीछे ले जाकर दोनों पैरों को पकड़ लीजिये । अब धीरे-धीरे सिर और छाती को ऊपर उठाइये, साथ ही हाथों को भी ऊपर की ओर खींचते हुए पैरों को ऊपर की ओर तानिये । आगे-पीछे शरीर इतना उठा दीजिये कि केवल पेट और पेडू जमीन से लगे रह जाएँ । शरीर का बाकी तमाम हिस्सा उठ जाए और शरीर खिंचकर धनुष के आकार का हो जाए । पैर, सिर और छाती के तनाव में टेढ़ापन आ जाए, दृष्टि सामने रहे और सीना निकलता हुआ मालूम हो ।

मयूरासन- घुटनों के सहारे आसन पर बैठ जाइये और फिर दोनों हाथ जमीन पर साधारण अन्तर से ऐसे रखिये कि पंजे पीछे भीतर की ओर रहें । अब दोनों पैरों को पीछे ले जाकर पंजों के बल हो जाइये और हाथों की दोनों कोहनियाँ नाभि के दोनों तरफ लगा कर छाती और सिर को आगे दबाते हुए पैरों को जमीन से ऊपर उठाने का प्रयत्न कीजिये ।

जब पैर जमीन से उठकर कोहनियों के समानान्तर आ जाएँ तो सिर और छाती को भी सीधा कीजिये । सारा शरीर हाथों की कोहनियों पर सीधा आकर तुल जाना चाहिये ।

यह आठ आसन ऐसे हैं, जो अधिक कष्टसाध्य न होते हुए भी मर्मों और सन्धियों पर प्रभाव डालने वाले हैं । शास्त्रों में इनकी विशेष प्रशंसा है ।

इन सबके द्वारा जो लाभ होते हैं, उसका सम्मिलित लाभ सूर्य नमस्कार से होता है । यह एक ही आसन कई आसनों के मिश्रण से बना है । इसका परस्पर ऐसा क्रमवत् तारतम्य है कि अलग-अलग आसनों की अपेक्षा यह एक ही आसन अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है ।

हम गायत्री साधकों को बहुधा सूर्य-नमस्कार करने की ही सलाह देते हैं । हमारे अनुभव में सूर्य नमस्कार के लाभ अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं, किन्तु जो कर सकते हों, वे उपरोक्त आठ आसनों को भी करें । बड़े लाभदायक हैं ।

सूर्य-नमस्कार की विधि-

प्रात:काल सूर्योदय समय के आस-पास इन आसनों को करने के लिये खड़े होइये । यदि अधिक सर्दी-गर्मी या हवा हो, तो हल्का कपड़ा शरीर पर पहने रहिये ।अन्यथा लँगोट या नेकर के अतिरिक्त सब कपड़े उतार दीजिये, खुली हवा में स्वच्छ खुली खिड़कियों से युक्त कमरे में कमर सीधी रखकर खड़े होइये ।

मुख पूर्व की ओर कर लीजिये । नेत्र बन्द करके हाथ जोड़कर भगवान् सूर्यनारायण का ध्यान कीजिये और भावना कीजिये कि सूर्य की तेजस्वी आरोग्यमयी किरणें आपके शरीर में चारों ओर से प्रवेश कर रही हैं । अब निम्न प्रकार से क्रिया आरम्भ कीजिये-

१-पैरों को सीधा रखिये । कमर पर से नीचे की ओर झुकिए, दोनों हाथों को जमीन पर लगाइये । मस्तक घुटनों से लगे, यह 'पाद-हस्तासन' है । इससे टखनों का, टाँग के नीचे के भागों का, जंघा का, पुट्ठों का, पसलियों का, कंधों के पृष्ठ भाग तथा बाँहों के नीचे के भाग का व्यायाम होता है ।

२- सिर को घुटनों से हटाकर लम्बी साँस लीजिये । पहले दाहिने पैर को पीछे ले जाइये और पंजे को लगाइये । बायें पैर को आगे की ओर मुड़ा रखिये । दोनों हथेलियाँ जमीन से लगी रहें । निगाह सामने और सिर कुछ ऊँचा रहे । इससे जाँघों के दोनों भागों का तथा बाँये पेडू का व्यायाम होता है, इसे एक पाद प्रसारणासन कहते हैं ।

३-बाँये पैर को पीछे ले जाइये । उसे दाहिने पैर से सटाकर रखिये । कमर को ऊँचा उठा दीजिये । सिर और सीना कुछ नीचे झुक जायेगा ।

यह द्विपाद प्रसारणासन है । इससे हथेलियों की सब नसों का, भुजाओं का, पैरों की उँगलियों और पिण्डलियों का व्यायाम होता है ।

४- दोनों पाँवों के घुटने, दोनों हाथ, छाती तथा मस्तक इन सब अंगों को सीधा रखकर भूमि में स्पर्श कराइये । शरीर तना रहे, कहीं लेटने की तरह निश्चेष्ट न हो जाइये । पेट जमीन को न छुए ।

इसे "अष्टांग प्रणिपातासन" कहते हैं । इससे बाँहों, पसलियों, पेट, गर्दन, कन्धे तथा भुजदण्डों का व्यायाम होता है ।

५-हाथों को सीधा खड़ा कर दीजिये । सीना ऊपर उठाइये । कमर को जमीन की ओर झुकाइये, सिर ऊँचा कर दीजिये, आकाश को देखिये । घुटने जमीन पर न टिकने पाएँ । पंजे और हाथों पर शरीर सीधा रहे । कमर जितनी मुड़ सके मोड़िये, ताकि धड़ ऊपर को अधिक उठ सके ।

यह 'सर्पासन' है । इससे जिगर का, आँतों का तथा कण्ठ का अच्छा व्यायाम होता है ।

६- हाथ और पैर के पूरे तलुए जमीन से स्पर्श कराइये, घुटने और कोहनियों के टखने झुकने न पाएँ । कमर को जितना हो सके ऊपर उठा दीजिये । ठोड़ी कण्ठमूल में लगी रहे, फिर नीचे रखिए ।

यह 'मयूरासन' है । इससे गर्दन, पीठ, कमर, कूल्हे, पिण्डली, पैर तथा भुजदण्डों की कसरत होती है ।

७- यहाँ से अब पहली की हुई क्रियाओं पर वापस जाया जायेगा । दाहिने पैर को पीछे ले जाइये पूर्वोक्त नं० २ के अनुसार 'एक पादप्रसारणासन' कीजिये ।

८- पूर्वोक्त नं० १ की तरह 'पादहस्तासन' कीजिये ।

९- सीधे खड़े हो जाइये । दोनों हाथों को आकाश की ओर ले जाकर हाथ जोड़िये । सीने को जितना पीछे

ले जा सकें ले जाइये । हाथ जितने पीछे ले जा सकें ठीक है, पर मुड़ने न पाएँ । यह 'ऊर्ध्वनमस्कारासन' है, इससे फेफड़ों और हृदय का अच्छा व्यायाम होता है ।

१०- अब उसी आरम्भिक स्थिति पर आ जाइये, सीधे खड़े होकर हाथ जोड़िये और भगवान् सूर्यनारायण का ध्यान कीजिये ।

यह एक सूर्य नमस्कार हुआ । आरम्भ पाँच से करके सुविधानुसार थोड़ी-थोड़ी संख्या धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिये । व्यायाम काल में मुँह बन्द रखना चाहिये । साँस, नाक से ही लेनी चाहिये ।

तत्त्व शुद्धि

यह सृष्टि पंचतत्त्वों से बनी हुई है । प्राणियों के शरीर भी इन तत्त्वों से बने हुए हैं । मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच तत्त्वों का यह सब कुछ संप्रसार है, जितनी वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं या इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आती हैं, उन सबकी उत्पत्ति पञ्च- तत्त्वों द्वारा हुई है । वस्तुओं का परिवर्तन उत्पत्ति, विकास तथा विनाश इन तत्त्वों की मात्रा में परिवर्तन आने से होता है ।

यह प्रसिद्ध है कि जलवायु का स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है, शीत प्रधान देशों तथा यूरोपियन लोगों का रंग, रूप, कद, स्वास्थ्य अफ्रीका के तथा उष्ण प्रदेश वासियों के रंग, रूप, कद, स्वास्थ्य से सर्वथा भिन्न होते हैं । पंजाबी, कश्मीरी, बंगाली, मद्रासी लोगों के शरीर एवं स्वास्थ्य की भिन्नता प्रत्यक्ष है । यह जलवायु का ही अन्तर है ।

किन्हीं प्रदेशों में मलेरिया, पीला बुखार, पेचिस, चर्मरोग, फील पाँव, कुष्ठ आदि रोगों की बाढ़-सी रहती है और किन्हीं स्थान की जलवायु ऐसी होती है कि वहाँ जाने पर तपेदिक सरीखे कष्टसाध्य रोग भी अच्छे हो जाते हैं । पशु-पक्षी, घास-अन्न, फल, औषधि आदि के रंग, रूप, स्वास्थ्य, गुण, प्रकृति आदि में भी जलवायु के अनुसार अन्तर पड़ता है । इसी प्रकार वर्षा, गर्मी-सर्दी का तत्त्वपरिवर्तन प्राणियों में अनेक प्रकार के सूक्ष्म परिवर्तन कर देता है ।

आयुर्वेद-शास्त्र में वात-पित्त, कफ का असन्तुलन रोगों का कारण बताया है । वात का अर्थ है- वायु, पित्त का अर्थ है- गर्मी, कफ का अर्थ है- जल । पाँच तत्त्वों में पृथ्वी शरीर का स्थिर आधार है । मिट्टी से ही शरीर बना है और जला देने या गाढ़ देने पर केवल मिट्टी रूप में ही इसका अस्तित्व रह जाता है । इसलिये पृथ्वी तत्त्व तो शरीर का स्थिर आधार होने से वह रोग आदि का कारण नहीं बनता ।

दूसरे आकाश का सम्बन्ध मन से, बुद्धि एवं इन्द्रियों की सूक्ष्म तन्मात्राओं से है । स्थूल शरीर पर जलवायु और गर्मी का ही प्रभाव पड़ता है और उन्हीं प्रभावों के आधार पर रोग एवं स्वास्थ्य बहुत कुछ निर्भर रहता है ।

वायु की मात्रा में अन्तर आ जाने से गठिया, लकवा, दर्द, कम्प, अकड़न, गुल्म, हड़फूटन, नाड़ी, विक्षेप आदि रोग उत्पन्न होते हैं ।अग्नि तत्त्व के विकार से फोड़े-फुन्सी, चेचक, ज्वर, रक्त-पित्त, हैजा, दस्त, क्षय, श्वास, उपदंश, दाह, रक्त-विकार आदि बढ़ते हैं ।

जल तत्त्व की गड़बड़ी से जलोदर, पेचिस, संग्रहणी, बहु-मूत्र, प्रमेह, स्वप्नदोष, सोम, प्रदर, जुकाम, अकड़न, अपच, शिथिलता सरीखे रोग उठ खड़े होते हैं । इसी प्रकार अन्य तत्त्वों का घटना बढ़ना अनेक रोग उत्पन्न करता है ।

आयुर्वेद के मत से विशेष प्रभावशाली, गतिशील, सक्रिय एवं स्थूल शरीर को स्थिर करने वाले कफ, वात-पित्त अर्थात् जल, वायु, गर्मी ही हैं और दैनिक जीवन में जो उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, उनमें इन तीन का ही प्रधान कारण होता है । फिर भी शेष दो तत्त्व पृथ्वी और आकाश शरीर पर स्थिर रूप में काफी प्रभाव डालते हैं ।

मोटा या पतला होना, लम्बा या ठिगना होना, रूपवान् या कुरूप होना, गोरा या काला होना, कोमल या सुदृढ़ होना शरीर में पृथ्वी तत्त्व की स्थिति से सम्बन्धित है । इसी प्रकार चतुरता-मूर्खता, सदाचार-दुराचार, नीचता-महानता, तीव्र बुद्धि-मन्दबुद्धि, सनक-दूरदर्शिता, खिन्नता-प्रसन्नता एवं गुण, कर्म, स्वभाव, इच्छा, आकांक्षा, भावना, आदर्श, लक्ष्य आदि बातें इस पर निर्भर रहती हैं कि आकाश-तत्त्व की स्थिति क्या है ?

उन्माद, सनक, दिल की धड़कन, अनिद्रा, पागलपन-दु:स्वप्न, मृगी, मूर्छा, घबराहट, निराशा आदि रोगों में भी आकाश ही प्रधान कारण होता है।

रसोई का स्वादिष्ट तथा लाभदायक होना इस बात पर निर्भर है कि उनमें पड़ने वाली चीजें नियत मात्रा में हों। चावल, दलिया, दाल, हलुआ, रोटी आदि में अग्नि का प्रयोग कम रहे या अधिक हो जाए, तो वह खाने लायक न होगी। इसी प्रकार पानी, नमक, चीनी, घी आदि की मात्रा बहुत कम या अधिक हो जाए तो भोजन का स्वाद, गुण तथा रूप बिगड़ जायेगा।

यही दशा शरीर की है। तत्त्वों की मात्रा में गड़बड़ी पड़ जाने से स्वास्थ्य में निश्चित रूप से खराबी आ जाती है। जलवायु, सर्दी-गर्मी (ऋतु प्रभाव) के कारण रोगी मनुष्य नीरोग और नीरोग मनुष्य रोगी बन सकता है।

योग-साधकों को जान लेना चाहिये कि पञ्च-तत्त्वों से बने शरीर को सुरक्षित रखने का आधार यह है कि देह में सभी तत्त्व स्थिर मात्रा में रहें। गायत्री के पाँच मुख शरीर में पाँच तत्त्व बनकर निवास करते हैं। यही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील रखते हैं। लापरवाही, अव्यवस्था और आहार-विहार के असंयम से तत्त्वों का संतुलन बिगड़कर रोगग्रस्त होना एक प्रकार से पञ्चमुखी गायत्री माता का, देह परमेश्वरी का तिरस्कार करना है।

वेदान्त शास्त्र में इन पाँच तत्त्वों को आत्मा का आवरण एवं बन्धन माना गया है। भगवान् शंकराचार्य ने 'तत्त्व-बोध' की संकेत पिटिका में 'पञ्चीकरण विद्या' बतायी है। उनका कथन है कि बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिये पहले हमें यह भली भाँति जान लेना चाहिये कि यह संसार और कुछ नहीं केवल पञ्चभूतों के परमाणुओं का इधर-उधर उड़ते फिरना, संयुक्त और विमुक्त होते रहना मात्र है। जैसे वायु से प्रेरित बादल इधर-उधर उड़ते हैं, तो उनके संयोग वियोग से आकाश में पर्वत, रीछ, सिंह, पक्षी, वृक्ष, गुफा जैसे नाना प्रकार के कौतूहल पूर्ण चित्र क्षण-क्षण में बनते और बिगड़ते रहते हैं, उसी प्रकार इस संसार में नाना प्रकार के निर्माण, विकास और ध्वंस होते रहते हैं।

जैसे बादलों से बनने वाले चित्र मिथ्या हैं, भ्रम हैं, भुलावा हैं, स्वप्न हैं, वैसे ही संसार-माया, भ्रम या स्वप्न है। यह पाँच भूतों के उड़ने-फिरने का खेल मात्र है। इसलिये उसे लीलाधर की लीला, नटवर की कला या माया बताया गया है।

कई अदूरदर्शी व्यक्ति 'संसार स्वप्न है' यह सुनते ही आग-बबूला हो जाते हैं और वेदान्त शास्त्र पर यह आरोप लगाते हैं कि इन विचारों के द्वारा लोगों में अकर्मण्यता, निराशा, निरुत्साह, अनिच्छा पैदा होगी और सांसारिक उन्नति की महत्त्वाकांक्षा शिथिल हो जाने से हमारा समाज या राष्ट्र पिछड़ा रह जाएगा। यह आक्षेप बहुत ही उथला और अविवेकपूर्ण है।

वेदान्त विरोधी इतना तो जानते ही हैं कि हमें मरना है और मरने पर कोई भी वस्तु साथ नहीं जाती। इतनी जानकारी होते हुए भी वे सांसारिक उन्नति को छोड़ते नहीं। स्वप्न में भी सब काम होते रहते हैं। इसी प्रकार शरीर का निर्माण ही ऐसे ढंग से हुआ है, उसमें पेट की, इन्द्रियों की, मन की क्षुधायें इतनी प्रबल लगा दी गयी हैं कि बिना कर्तव्य परायण हुए, कोई प्राणी क्षण भर भी चैन से नहीं बैठ सकता। निष्क्रिय व्यक्ति के लिये तो जीवन धारण किये रहना भी असम्भव है।

वेदान्त ने संसार की दार्शनिक विवेचना करते हुए उसे पञ्चभूतों का अस्थिर परमाणु-पुञ्ज, स्वप्न बताया है। तो इसका फलितार्थ यह होना चाहिये कि हम आत्मिक लाभ के लिये ही सांसारिक वस्तुओं का उपार्जन एवं उपयोग करें। वस्तुओं की मोहकता पर आसक्त होकर उनके सञ्चय एवं अनियन्त्रित भोगों की मृग-तृष्णा से अपने आत्मिक हितों का बलिदान न करें।

कर्त्तव्य रत रहना तो शरीर का स्वाभाविक धर्म है, इसे त्यागना किसी भी जीवित व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं। वेदान्त की यह शिक्षा कि यह संसार पञ्चभूतों की क्रीड़ास्थली मात्र है, पूर्णतया विज्ञान सम्मत है। दार्शनिकों की भाँति वैज्ञानिक भी यही बताते हैं कि अणु परमाणुओं के द्रुतगति से परिभ्रमण करने के कारण संसार की

गतिशीलता है और पञ्च तत्त्वों से बने हुए ९६ जाति के परमाणु ही संसार की वस्तुओं, देहों, योनियों के उत्पादन एवं विनाश के हेतु हैं।

'पञ्चीकरण विद्या' के अनुसार साधक जब भली प्रकार यह बात हृदयंगम कर लेता है कि यह संसार उड़ते हुए परमाणुओं के संयोग-वियोग से क्षण-क्षण में बनने-बिगड़ने वाली चित्रावली मात्र है, तो उसका दृष्टिकोण भौतिक न रहकर आत्मिक हो जाता है। वह वस्तुओं का अनावश्यक मोह न करके उन बुराइयों से बच जाता है, जो लोभ और मोह को भड़काकर नाना प्रकार के पाप, तृष्णा, द्वेष, चिन्ता, शोक और अभावजन्य क्लेशों से जीवन को नारकीय बनाये हुए हैं।

देह या मन को अपना मानने का कोई कारण नहीं। यह जड़, परिवर्तनशील, देह भी संसार के अन्य पदार्थों की भाँति ही पञ्चभौतिक है। इसलिये इसको अपने उपयोग की वस्तु, औजार या सवारी समझकर आनन्दमयी जीवन-यात्रा के लिये प्रयुक्त तो करना चाहिये, पर देह या मन की आवश्यक तृष्णाओं के पीछे आत्मा को परेशान नहीं करना चाहिये। इस मान्यता को हृदयंगम कराने के लिये शरीर का विश्लेषण करते हुए 'तत्त्व-बोध' में बताया गया है कि किस तत्त्व से शरीर का कौन-सा भाग बनता है।

पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता से अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी, रोम आदि भारी पदार्थ बने हैं। जल की प्रधानता से मूत्र, कफ, रक्त, शुक्र आदि हुआ करते हैं।अग्नि तत्त्व के कारण-भूख, प्यास, श्रम, थकान, निद्रा, कान्ति आदि का अस्तित्व है। वायु तत्त्व में चलना, फिरना, गति, क्रिया, सिकुड़ना, फैलना होता है। आकाश तत्त्व से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि वृत्तियों, इच्छाओं और विचारधाराओं का आविर्भाव हुआ करता है, तात्पर्य यह है कि शरीर में जो कुछ भी अंग-प्रत्यंग, पदार्थ तथा प्रेरणा है, वह पञ्च-तत्त्वों के आधार पर है।

जब इस प्रपञ्चरूप संसार और पञ्चावरण शरीर में से 'अहम्' की मान्यता हटाकर विश्व-व्यापी चैतन्य आत्मा में अपने को परिव्याप्त मान लिया है, तो वह परिपूर्ण मान्यता ही मुक्ति बन जाती है। शरीर और संसार की पञ्चभौतिक सत्ता को प्रपंच शब्द से संबोधित किया गया है और वेदान्त में योग-साधना का आदर्श है कि मैं और मेरा द्वैत छोड़कर केवल 'मैं' का अद्वैत सीखो, विश्व में जो कुछ है, 'वह मैं आत्मा हूँ, मुझसे भिन्न कुछ नहीं' यह मान्यता अद्वैत ब्रह्म को प्राप्त करा देती है।

इसी बात को भक्ति-मार्गी, दूसरे शब्दों में कहते हैं-'जो कुछ है तू है' मेरा अलग अपनत्व कुछ नहीं। दोनों ही मान्यतायें बिल्कुल एक हैं। भक्ति-मार्ग और वेदान्त में शब्दों के फेर के अतिरिक्त वस्तुतः कुछ अन्तर नहीं है।

अन्नमय कोश के परिमार्जन के लिये तीसरा उपाय 'तत्त्व-शुद्धि' है। स्थूल रूप से शरीर के पंच तत्त्वों को ठीक रखने के लिये जल, वायु, ऋतु, प्रदेश और वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक है। सूक्ष्म रूप से पञ्चीकरण विद्या के अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्म तत्त्व और अनात्म-तत्त्व के अन्तर को समझते हुए प्रपंच से छुटकारा पाना चाहिये, तत्त्व शुद्धि के दोनों ही पहलू महत्त्वपूर्ण हैं। जिसे अपना अन्नमय कोश ठीक रखना है उसे व्यावहारिक जीवन में पंचतत्त्वों की शुद्धि सम्बन्धी बातों का भी विशेष ध्यान रखना चाहिये।

(१) जलतत्त्व- जल से शरीर और वस्त्रों की शुद्धि बराबर करता रहे। स्नान करने का उद्देश्य केवल मैल छुड़ाना नहीं वरन् पानी में रहने वाली 'विशिवा' नामक विद्युत् से देह को सतेज करना एवं आक्सीजन, नाइट्रोजन आदि बहुमूल्य तत्त्वों से शरीर को सींचना भी है। सबेरे शौच जाने से बीस-तीस मिनट पूर्व एक गिलास पानी पीना चाहिये जिससे रात का अपच धुल जाए और शौच साफ हो।

पानी को सदा घूँट-घूँट कर धीरे-धीरे दूध की तरह पीना चाहिये। हर घूँट के साथ यह भावना करते जाना चाहिये कि 'इस अमृत-तुल्य जल में जो शीतलता, मधुरता और शक्ति भरी हुई है, उसे खींचकर मैं अपने शरीर में धारण कर रहा हूँ।' इस भावना के साथ पिया हुआ पानी दूध के समान गुणकारक होता है।

जिन स्थानों का पानी भारी, खारी, तेलिया, उथला, तालाबों का तथा हानिकारक हो, वहाँ रहने पर अन्नमय कोश में विकार पैदा होता है। कई स्थानों में पानी ऐसा होता है कि वहाँ फीलपाँव, अण्डनासूर, जलोदर, कुष्ठ, खुजली, मलेरिया, जुएँ, मच्छर आदि का बहुत प्रसार होता है। ऐसे स्थानों को छोड़कर स्वस्थ, हल्के, सुपाच्य

जल के समीप अपना निवास रखना चाहिये । धनी लोग दूर स्थानों से भी अपने लिये उत्तम जल मँगा सकते हैं ।

कभी-कभी एनीमा द्वारा पेट में औषधि मिश्रित जल चढ़ाकर आँतों की सफाई कर लेनी चाहिये । उससे संचित मलों से उत्पन्न विष, पेट में से निकल जाते हैं और चित्त बड़ा हल्का हो जाता है । प्राचीन काल में वस्तिक्रिया, योग का आवश्यक अंग थी । अब एनीमा यन्त्र द्वारा यह क्रिया सुगम हो गयी है ।

जल चिकित्सा पद्धति, रोग निवारण एवं स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिये बड़ी उपयुक्त है । डाक्टर लुईकुने ने इस विज्ञान पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं । उनकी बताई पद्धति से किये गये कटि स्नान, मेहन स्नान, मेरुदण्ड-स्नान, गीली चादर लपेटना, कपड़े की पट्टी, गीली मिट्टी का पलस्तर आदि से रोग निवारण में बड़ी सहायता मिलती है ।

(२) **अग्नि-तत्त्व-** सूर्य के प्रकाश के अधिक सम्पर्क में रहने का प्रयत्न करना चाहिये । घर की सभी खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिये, ताकि धूप और हवा खूब आती रहे । सबेरे की धूप नंगे शरीर पर लेने का प्रयत्न करना चाहिये । सूर्यताप से तपाये हुए जल का उपयोग करना, भीगे बदन पर धूप लेना उपयोगी है ।

सूर्य की सप्त किरणें अल्ट्रा वायलेट और अल्फा वायलेट किरणें स्वास्थ्य के लिये बड़ी उपयोगी साबित हुई हैं । वे जल के साथ धूप का मिश्रण होने से खिंच आती हैं । धूप में रखकर रंगीन काँच से सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा करने की विस्तृत विधि तथा अग्नि और जल के सम्मिश्रण से भाप बन जाने पर उसके द्वारा अनेकों रोगों का उपचार करने की विधि, सूर्य चिकित्सा विज्ञान की किसी भी प्रामाणिक पुस्तक से देखी जा सकती है ।

रविवार को उपवास रखना सूर्य की तेजस्विता एवं बलदायिनी शक्ति का आह्वान है । पूरा या आंशिक उपवास शरीर की कान्ति और आत्मिक तेज को बढ़ाने वाला सिद्ध होता है ।

(३) **वायु तत्त्व-** घनी आबादी के मकान जहाँ धूल, धुआँ, सील की भरमार रहती है और शुद्ध वायु का आवागमन नहीं होता, वे स्थान स्वास्थ्य के लिये खतरनाक हैं । हमारा निवास खुली हवा में होना चाहिये । दिन में वृक्ष और पौधों से ओषजन वायु (आक्सीजन) निकलती है, वह मनुष्य के लिये बड़ी उपयोगी है । जहाँ तक हो सके, वृक्ष पौधों के बीच अपना दैनिक कार्यक्रम करना चाहिये । अपने घर, आँगन, चबूतरे आदि पर वृक्ष-पौधे लगाने चाहिये ।

प्रातःकाल की वायु बड़ी स्वास्थ्यप्रद होती है, उसे सेवन करने के लिये तेज चाल से टहलने के लिये जाना चाहिये । दुर्गन्धित एवं बन्द हवा के स्थान से अपना निवास दूर ही रखना चाहिये । तराई, सील, नमी के स्थानों की वायु, ज्वर आदि पैदा करती है । तेज हवा के झोकों से त्वचा फट जाती है । अधिक ठण्डी या गर्म हवा से निमोनिया या लू लगना जैसे रोग हो सकते हैं । इस प्रकार के प्रतिकूल मौसम से अपनी रक्षा करनी चाहिये ।

प्राणायाम द्वारा फेफड़ों का व्यायाम होता है और शुद्ध वायु से रक्त की शुद्धि होती है । इसलिये स्वच्छ वायु के स्थान में बैठ कर नित्य प्राणायाम करना चाहिये । प्राणायाम की विधि प्राणमय कोश की साधना के प्रकरण में लिखेंगे ।

हवन करना- अग्नि तत्त्व के संयोग से हवन, वायु को शुद्ध करता है । जो वस्तु अग्नि में जलाई जाती है, वह नष्ट नहीं होती वरन् सूक्ष्म होकर वायु मण्डल में फैल जाती है । भिन्न-भिन्न वृक्षों की समिधाओं एवं हवन सामग्रियों में अलग-अलग गुण हैं । उनके द्वारा ऐसा वायुमण्डल रखा जा सकता है, जो शरीर और मन को स्वस्थ बनाने में सहायक हो । किस समिधा और किन-किन सामग्रियों से किस विधान के साथ हवन करने का क्या परिणाम होता है ? इसका विस्तृत विधान बताने के लिये "गायत्री यज्ञ विधान नामक पुस्तक" लिखी गयी है ।

गायत्री साधकों को तो, अपने अन्नमय कोश की वायु शुद्धि के लिये कुछ हवन सामग्री बनाकर रख लेनी चाहिये, जिसे धूपदानी में थोड़ी-थोड़ी जलाकर, उससे अपने निवास स्थान की वायु शुद्धि करते रहना चाहिये ।

चन्दन चूरा, देवदारु, जायफल, इलायची, जावित्री, अगर-तगर, कपूर, छार-छबीला, नागरमोथा, खस, कर्पूर-कचरी तथा मेवायें, जौ कूट करके थोड़ा घी और शक्कर मिलाकर धूप बन जाती है । इस धूप की बड़ी मनमोहक एवं स्वास्थ्यवर्धक गन्ध आती है । बाजार से भी कोई अच्छी अगरबत्ती या धूपबत्ती लेकर काम चलाया जा सकता है । साधना काल में सुगन्ध की ऐसी व्यवस्था कर लेना उत्तम है ।

श्वास मुँह से नहीं, सदा नाक से ही लेना चाहिये । कपड़े से मुँह ढककर नहीं सोना चाहिये और किसी के मुँह के इतना पास नहीं सोना चाहिये कि उसकी छोड़ी हुई श्वास अपने भीतर जाये । धूलि, धुआँ और दुर्गन्ध भरी अशुद्ध वायु से सदा बचना चाहिये ।

(४) **पृथ्वी तत्त्व-** शुद्ध मिट्टी में विष-निवारण की अद्‌भुत शक्ति होती है । गन्दे हाथों को मिट्टी से माँजकर शुद्ध किया जाता है । प्राचीनकाल में ऋषि-मुनि जमीन खोदकर गुफा बना लेते थे और उसमें रहा करते थे । इससे उनके स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा असर पड़ता था ।

मिट्टी उनके शरीर के दूषित विकारों को खींच लेती थी, साथ ही भूमि से निकलने वाले वाष्प द्वारा देह का पोषण भी होता रहता था । समाधि लगाने के लिये गुफायें उपयुक्त स्थान समझी जाती हैं, क्योंकि चारों ओर मिट्टी से घिरे होने के कारण शरीर को श्वास द्वारा ही बहुत-सा आहार प्राप्त हो जाता है और कई दिनों तक भोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती या कम भोजन से काम चल जाता है ।

छोटे बच्चे जो प्रकृति के अधिक समीप हैं, पृथ्वी के महत्त्व को जानते हैं, वे भूमि पर खेलना, भूमि पर लेटना, गद्दों-तकियों की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं । पशुओं को देखिये, वे अपनी थकान मिटाने के लिये जमीन पर लोट जाते हैं और लोट-पोटकर पृथ्वी की पोषण शक्ति से फिर ताजगी प्राप्त कर लेते हैं । तीर्थयात्रा एवं धर्म कार्यों के लिये नंगे पैरों चलने का विधान है । तपस्वी लोग भूमि पर शयन करते हैं ।

इन प्रथाओं का उद्देश्य धर्म साधना के नाम पर पृथ्वी की पोषक शक्ति द्वारा साधकों को लाभान्वित करना ही है । पक्के मकानों की अपेक्षा मिट्टी के झोपड़ों में रहने वाले सदा अधिक स्वस्थ रहते हैं ।

मिट्टी के उपयोग द्वारा स्वास्थ्य सुधार में हमें बहुत सहायता मिलती है । निर्दोष-पवित्र भूमि पर नंगे पाँवों टहलना चाहिये । जहाँ छोटी-छोटी हरी घास उग रही हो, वहाँ टहलना तो और भी अच्छा है ।

पहलवान लोग चाहे वे अमीर ही क्यों न हों रुई के गद्दों पर कसरत करने की अपेक्षा मुलायम मिट्टी के अखाड़ों में ही व्यायाम करते हैं, ताकि मिट्टी के अमूल्य गुणों का लाभ उनके शरीर को प्राप्त हो । साबुन के स्थान पर पोतनी या मुलतानी मिट्टी का उपयोग भी किया जा सकता है । वह मैल को दूर करेगी, विष को खींचेगी और त्वचा को कोमल, ताजा, चमकीला और प्रफुल्लित कर देगी ।

मिट्टी शरीर पर लगाकर स्नान करना एक अच्छा उबटन है । गर्मी के दिनों में उठने वाली घमोरियाँ और फुन्सियाँ दूर हो जाती हैं, सिर के बालों को मुलतानी मिट्टी से धोने का रिवाज अभी तक मौजूद है । इससे सिर का मैल दूर हो जाता है । खुरन्ट जमने बन्द हो जाते हैं । बाल काले मुलायम एवं चिकने रहते हैं तथा मस्तिष्क में बड़ी तरावट पहुँचती है । हाथ साफ करने और बर्तन माँजने के लिए मिट्टी से अच्छी और कोई चीज नहीं है ।

फोड़े, फुन्सी, दाद, खाज, गठिया, जहरीले जानवरों के काटने, सूजन, जख्म, गिल्टी, नासूर, दुखती हुई आँख, कुष्ठ उपदंश, रक्त विकार आदि रोगों पर गीली मिट्टी बाँधने से आश्चर्यजनक लाभ होता है । डॉ. लुईकुने ने अपनी जल चिकित्सा में मिट्टी की पट्टी के अनेक उपचार लिखे हैं । चूल्हे की जली हुई मिट्टी से दाँत माँजने, नाक के रोगों में मिट्टी के ढेले पर पानी डालकर सुँघाने, लू लगने पर पैरों के ऊपर मिट्टी थोप लेने की विधि से सब लोग परिचित हैं ।

किसी स्थान पर बहुत समय तक मल-मूत्र डालते रहें, तो डालना बन्द कर देने के बाद भी बहुत समय तक वहाँ दुर्गन्ध आती रहती है । कारण यह है कि भूमि में शोषण शक्ति है, वह पदार्थों को सोख लेती है और उसका प्रभाव बहुत समय तक अपने अन्दर धारण किये रहती है ।

पृथ्वी की सूक्ष्म शक्ति लोगों के सूक्ष्म विचारों और गुणों को सोखकर अपने में धारण कर लेती है । जिन स्थानों पर हत्या, व्यभिचार, जुआ आदि दुष्कर्म होते हैं, उन स्थानों का वातावरण ऐसा घातक हो जाता है कि वहाँ जाने वालों पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता ।

श्मशान भूमि जहाँ अनेक मृत शरीर नष्ट हो जाते हैं, अपने में एक भयंकरता छिपाये बैठी रहती है, वहाँ जाने

पर एक विलक्षण प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है, अनेक तांत्रिक साधनाएँ तो ऐसी हैं, जिनके लिये केवल मात्र मरघट का वातावरण ही उपयुक्त होता है।

भूमिगत प्रभाव से गायत्री साधकों को लाभ उठाना चाहिये। जहाँ सत्पुरुष रहते हैं, जहाँ स्वाध्याय, सद्विचार, सत्कार्य होते हैं, वे स्थान प्रत्यक्ष तीर्थ हैं, उन स्थानों का वातावरण साधना की सफलता में बड़ा लाभदायक होता है। जिन स्थानों में किसी समय में कोई अवतार या दिव्य पुरुष रहे हैं, उन स्थानों की प्रभाव शक्ति का सूक्ष्म निरीक्षण करके तीर्थ बनाये गये हैं। जहाँ कोई सिद्ध पुरुष या तपस्वी बहुत काल तक रहे हैं, वह स्थान सिद्धपीठ बन जाते हैं और वहाँ रहने वालों पर अनायास ही अपना प्रभाव डालते हैं।

सूक्ष्मदर्शी महात्माओं ने देखा है कि भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष लीला तरंगें अभी तक ब्रजभूमि में बड़ी प्रभावपूर्ण स्थिति में मौजूद हैं। तीर्थ- वासियों के दूषित चित्तों के बावजूद इस भूमि की प्रभाव शक्ति अब भी बनी हुई है और साधक को उसका स्पर्श होते ही शान्ति मिलती है। कितने ही मुमुक्षु अपनी आत्मिक शान्ति के लिये इस पुण्यभूमि में निवास करने का स्थाई या अल्पकालीन अवसर निकालते हैं। कारण यह है कि क्लेशयुक्त वातावरण के स्थान में जितने श्रम और समय में जितनी सफलता मिलती है, उसकी अपेक्षा पुण्य भूमि के वातावरण में कहीं जल्दी और कहीं अधिक लाभ होता है। तीर्थ-स्थानों में नंगे पैर भ्रमण करने का भी माहात्म्य इसलिये है कि उन स्थानों की पुण्य तरंगें अपने शरीर से स्पर्श करके आत्म-शान्ति का हेतु बनें।

(५) **आकाश तत्त्व-** आकाश तत्त्व पिछले चार तत्त्वों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने से अधिक शक्तिशाली है। विश्वव्यापी पोल में, शून्याकाश में एक शक्ति-तत्त्व भरा हुआ है, जिसे अंग्रेजी में 'ईथर' कहते हैं। पोले स्थान को खाली नहीं समझना चाहिये। वह वायु से सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं होता, तो भी उसका अस्तित्व पूर्णतया प्रमाणित है।

रेडियो द्वारा जो गायन, समाचार, भाषण आदि हम सुनते हैं, वे ईथर में, प्रकाश तत्त्व में, तरंगों के रूप में आते हैं। जैसे पानी में ढेला फेंक देने पर उसकी लहर बनती है, इसी प्रकार ईथर (आकाश) में शब्दों की तरंगें पैदा होती हैं और पलक मारते विश्व भर में फैल जाती हैं। इसी विज्ञान के आधार पर रेडियो यन्त्र का अविष्कार हुआ है।

एक स्थान पर शब्द तरंगों के साथ बिजली की शक्ति मिलाकर उन्हें अधिक बलवती करके प्रवाहित कर दिया जाता है। अन्य स्थानों पर जहाँ रेडियो यन्त्र लगे हैं, उन आकाश में बहने वाली तरंगों को पकड़ लिया जाता है और प्रेषित सन्देश सुनाई देने लगते हैं।

वाणी चार प्रकार की होती है- १. वैखरी- जो मुँह से बोली और कानों से सुनी जाती है, जिसे शब्द कहते हैं। २. मध्यमा- जो संकेतों से, मुखाकृति से, भावभंगी से, नेत्रों से कही जाती है, इसे भाव कहते हैं। ३. पश्यन्ती- जो मन से निकलती है और मन ही उसे सुन सकता है, इसे विचार कहते हैं। ४. परा- यह आकांक्षा, इच्छा, निश्चय, प्रेरणा, शाप, वरदान आदि के रूप में अन्तःकरण से निकलती है, इसे संकल्प कहते हैं।

यह चारों ही वाणियाँ आकाश में तरंग रूप से प्रवाहित होती हैं। जो व्यक्ति जितना ही प्रभावशाली है, उसके शब्द, भाव, विचार और संकल्प आकाश में उतने ही प्रबल होकर प्रवाहित होते हैं।

आकाश में असंख्य प्रकृति के असंख्य व्यक्तियों द्वारा असंख्य प्रकार की स्थूल एवं सूक्ष्म शब्दावली प्रेषित होती रहती है। हमारा अपना मन जिस केन्द्र पर स्थिर होता है, उसी जाति के असंख्य प्रकार के विचार हमारे मस्तिष्क में धँस जाते हैं और अदृश्य रूप से उन अपने पूर्व निर्धारित विचारों की पुष्टि करना आरम्भ कर देते हैं। यदि हमारा अपना विचार व्यभिचार करने का हो, तो असंख्य व्यभिचारियों द्वारा आकाश में प्रेषित किये गये वैसे ही शब्द, भाव, विचार और संकल्प हमारे ऊपर बरस पड़ते हैं और वैसे उपाय-सुझाव मार्ग बताकर उसी ओर प्रोत्साहित कर देते हैं।

हमारे अपने स्वनिर्मित विचारों में एक मौलिक चुम्बकत्व होता है। उसी के अनुरूप आकाशगामी विचार हमारी ओर खिंचते हैं। रेडियो में जिस स्टेशन के मीटर पर सुई कर दी जाये, उसी के सन्देश सुनाई पड़ते हैं और

उसी समय में जो अन्य स्टेशन बोल रहे हैं, उनकी वाणी हमारे रेडियो से टकराकर लौट जाती है, वह सुनाई नहीं देती। उसी प्रकार हमारे अपने स्वनिर्मित मौलिक विचार ही अपने सजातियों को आमन्त्रित करते हैं।

मरी लाश को देखकर कौआ चिल्लाता है, तो सैकड़ों कौए उसकी आवाज सुनकर जमा हो जाते हैं। ऐसे ही अपने विचार भी सजातियों को बुलाकर एक अच्छी खासी, सेना जमा कर लेते हैं। फिर उस विचार-सैन्य की प्रबलता के आधार पर उसी दिशा में कार्य भी आरंभ हो जाता है।

आकाश तत्त्व की इस विलक्षणता को ध्यान में रखते हुए हमें कुविचारों से विषधर सर्प की भाँति सावधान रहना चाहिये, अन्यथा वे अनेक स्वजातियों को बुलाकर हमारे लिये संकट उत्पन्न कर देंगे। जब कोई कुविचार मन में आये, तो तत्क्षण उसे मार भगाना चाहिये; अन्यथा यह सारे मानस क्षेत्र को वैसे ही खराब कर देगा, जैसे विष की थोड़ी-सी बूँद सारे भोजन को बिगाड़ देती है।

मन में सदा उत्तम, उच्च, उदार, सात्त्विक विचारों को ही स्थान देना चाहिये। जिससे उसी जाति के विचार अखिल आकाश में से खिंचकर हमारी ओर चले आयें और सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें। उत्तम बात सोचते रहने, स्वाध्याय, मनन, आत्म-चिन्तन, परमार्थ और उपासनामयी मनोभूमि हमारा बहुत कुछ कल्याण कर सकती है। यदि प्रतिकूल कार्य नहीं हो रहे हों, तो उच्च विचारधारा से भी सद्गति प्राप्त हो सकती है भले ही उन विचारों के अनुरूप कार्य न हो रहे हों।

संकल्प कभी नष्ट नहीं होते। पूर्वकाल में ऋषि-मुनियों के, महापुरुषों के जो विचार, प्रवचन एवं संकल्प थे, वे अब भी आकाश में गूँज रहे हैं, यदि हमारी मनोभूमि अनुकूल हो, तो उन दिव्य आत्माओं का पथ-प्रदर्शन एवं सहारा भी हमें अवश्य प्राप्त होता रहेगा।

परब्रह्म की ब्राह्मी प्रेरणायें, शक्तियाँ, किरणें एवं तरंगें भी आकाश द्वारा ही मानव अन्तःकरण को प्राप्त होती हैं। दैवी शक्तियाँ ईश्वर की विविध गुणों वाली किरणें ही तो हैं, आकाश द्वारा मन के माध्यम से उनका अवतरण होता है।

शिवजी ने आकाश-वाहिनी गंगा को अपने सिर पर उतारा था, तब वह पृथ्वी पर बही थी। ब्रह्म की सर्वप्रधान दिव्य शक्ति आकाश-वाहिनी गायत्री- गंगा को साधक सबसे पहले अपने मनःक्षेत्र में उतारता है। यह अवतरण होने पर ही जीवन के अन्य अंगों में वह पतितपावनी पुण्यधारा प्रवाहित होती है।

शरीर में मन या मस्तिष्क आकाश का प्रतिनिधि है। उसी में आकाशगामी, परम कल्याणकारक तत्त्वों का अवतरण होता है। इसलिए साधक को अपना मनःक्षेत्र ऐसा शुद्ध, परिमार्जित, स्वस्थ एवं सचेत रखना चाहिये, जिससे गायत्री का अवतरण बिना किसी कठिनाई के हो सके।

तपश्चर्या

तप का अर्थ है- उष्णता, गति, क्रियाशीलता, घर्षण, संघर्ष, तितिक्षा, कष्ट सहना। किसी वस्तु को निर्दोष, पवित्र एवं लाभदायक बनाना होता है, तो उसे तपाया जाता है। सोना तपने से खरा हो जाता है। डॉक्टर पहले अपने औजारों को गरम कर लेते हैं, तब उनसे ऑपरेशन करते हैं। चाकू को शान पर न घिसा जाये, तो काटने की शक्ति खो बैठेगा। हीरा खराद पर न चढ़ाया जाये, तो उसमें चमक और सुन्दरता पैदा न होगी।

व्यायाम का कष्टसाध्य श्रम किये बिना कोई मनुष्य पहलवान नहीं हो सकता। अध्ययन का कठोर श्रम किये बिना विद्वान् बनना सम्भव नहीं। माता बच्चे को गर्भ में रखने एवं पालन- पोषण का कष्ट सहे बिना मातृत्व का सुख लाभ नहीं प्राप्त कर सकती। कपड़ों को धूप में न सुखाया जाए, तो उनमें बदबू आने लगेगी। कोठी में बन्द रखा हुआ अन्न धूप में न डाला जाए तो घुन लग जायेगा। ईंट यदि भट्ठे में न पकें, तो उनमें मजबूती नहीं आ सकती। बिना पके भोजन प्राण रक्षा नहीं कर सकता।

प्राचीनकाल में पार्वती ने तप करके मनचाहा फल पाया था। भगीरथ ने तप करके गंगा को भूलोक में बुलाया था। ध्रुव के तप ने भगवान् को द्रवित कर दिया था, तपस्वी लोग कठोर तपश्चर्या करके सिद्धियाँ प्राप्त करते थे।

रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर आदि ने भी तप के प्रभाव से विलक्षण वरदान पाये थे । आज भी जिस किसी को जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह तप के ही प्रभाव से प्राप्त हुआ है ।

ईश्वर तपस्वी पर प्रसन्न होता है और उसे ही अभीष्ट आशीर्वाद देता है । जो धनी, सम्पन्न, सुन्दर, स्वस्थ, विद्वान्, प्रतिभाशाली, नेता, अधिकारी आदि के रूप में चमक रहे हैं, उनकी चमक वर्तमान के या पिछले तप के ऊपर ही अवलम्बित है । यदि वे नया तप नहीं करते और पुरानी तपश्चर्या की पूँजी को खा रहे हैं, तो उनकी चमक पूर्व पूँजी चुकते ही धुँधली हो जायेगी ।

जो लोग आज गिरे हुए हैं, उनके उठने का एकमात्र मार्ग है- तप । बिना तप के कोई भी सिद्धि, कोई भी सफलता नहीं मिल सकती, न सांसारिक न आत्मिक । कल्याण की ताली तप की तिजोरी में रखी हुई है । जो उसे खोलेगा, वही अभीष्ट वस्तु पाएगा ।

दोनों हथेलियों को रगड़ा जाए, तो वे गरम हो जाती हैं । दो लकड़ियों को घिसा जाए, तो अग्नि पैदा हो जायेगी । गति, उष्णता, क्रिया, यह रगड़ का परिणाम है । मशीन को चलाने के लिए उसके किसी भी भाग में धक्का या दचका लगाना पड़ेगा, अन्यथा कीमती से कीमती मशीन भी बन्द ही पड़ी रहेगी ।

शरीर को झटका लगाने के लिये व्यायाम या परिश्रम करना आवश्यक है । आत्मा में तेजस्विता, सामर्थ्य एवं चैतन्यता उत्पन्न करने के लिये तप करना होता है । बर्तन माँजे बिना, मकान झाड़े बिना अशुद्धि और मलिनता पैदा हो जाती है । तपश्चर्या छोड़ देने पर आत्मा भी अशक्त, निस्तेज एवं विकारग्रस्त हो जाती है । आलसी और आराम-तलब शरीर में अन्नमय कोश की स्वस्थता स्थिर नहीं रह सकती । इसलिये उपवास, आसन, तत्त्व शुद्धि के साथ ही तपश्चर्या को प्रथम कोश की सुव्यवस्था का आवश्यक अंग बताया गया है ।

प्राचीनकाल में तपश्चर्या को बड़ा महत्त्व दिया जाता था । जो व्यक्ति जितना परिश्रमी, कष्टसहिष्णु, साहसी, पुरुषार्थी एवं क्रियाशील होता था, उसकी उतनी ही प्रतिष्ठा होती थी । धनी, अमीर, राजा-महाराजा सभी के बालक गुरुकुलों में भेजे जाते थे; ताकि वे कठोर जीवन की शिक्षा प्राप्त करके अपने को इतना सुदृढ़ बना लें कि आपत्तियों से लड़ना और सम्पत्ति को प्राप्त करना सुगम हो सके ।

आज तप के, कष्ट सहिष्णुता के महत्त्व को लोग भूल गये हैं और आरामतलबी, आलस्य, नजाकत को अमीरी का चिह्न मानने लगे हैं । फलस्वरूप पुरुषार्थ घटता जाता है, योग्यता द्वारा उपार्जन करने की अपेक्षा लोग छल, धूर्तता एवं अन्याय द्वारा बड़े बनने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

गायत्री साधकों को तपस्वी होना चाहिये । अस्वाद व्रत, उपवास, ऋतु-प्रभावों का सहना, तितिक्षा, घर्षण, आत्मकल्प, प्रदातव्य, निष्कासन, साधन ब्रह्मचर्य, चान्द्रायण, मौन, अर्जन आदि तपश्चर्या की विधि गायत्री महाविज्ञान के प्रथम खण्ड में विस्तार से लिख चुके हैं । उनकी पुनरुक्ति करने की आवश्यकता नहीं, यहाँ तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि अन्नमय कोश को स्वस्थ रखना है तो शरीर और मन का कार्य व्यस्त रखना चाहिये । श्रम, कर्तव्यपरायणता, जागरूकता और पुरुषार्थ को सदा साथ रखना चाहिये । समय को बहुमूल्य सम्पत्ति समझकर एक क्षण को भी निरर्थक न जाने देना चाहिये ।

परोपकार, लोक सेवा, सत्कार्य के लिये दान, यज्ञ भावना से किये जाने वाला परमार्थी जीवन प्रत्यक्ष तप है । दूसरों के लाभ के लिये अपने स्वार्थों का बलिदान करना तपस्वी जीवन का प्रधान चिह्न है । आज की स्थिति में प्राचीनकाल की भाँति तो तप नहीं किये जा सकते, अब शारीरिक स्थिति भी ऐसी नहीं रह गयी है कि भगीरथ, पार्वती या रावण के जैसे उग्र तप किये जा सकें । दीर्घकाल तक निराहार रहना या बिना विश्राम किये लम्बे समय तक साधनारत रहना आज सम्भव नहीं है । वैसा करने से शरीर तुरन्त पीड़ा ग्रस्त हो जायेगा ।

सतयुग में लम्बे समय तक दान, तप होते थे । क्योंकि उस समय शरीर में वायु तत्त्व प्रधान था । त्रेता में शरीरों में अग्नि-तत्त्व की प्रधानता थी । द्वापर में जल-तत्त्व अधिक था । उन युगों में जो साधनायें हो सकती थीं, आज नहीं हो सकतीं; क्योंकि आज कलियुग में मानव देहों में पृथ्वी-तत्त्व प्रधान है । पृथ्वी-तत्त्व अन्य सभी तत्त्वों

से स्थूल है, इसलिये आधुनिक काल के शरीर उन तपस्याओं को नहीं कर सकते जो सतयुग, त्रेता आदि में आसानी से होती थीं।

दूसरी बात यह है कि वर्तमान समय में सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन हो जाने से मनुष्य के रहन-सहन में बड़ा अन्तर पड़ गया है। बड़े नगरों में निवासियों को यांत्रिक सभ्यता के बीच रहने के फलस्वरूप शारीरिक-श्रम बहुत कम करना पड़ता है और अधिकांश में कृत्रिम वातावरण के कारण शुद्ध जलवायु से भी वञ्चित रहना पड़ता है।ऐसी अवस्था में शरीर को पूर्वकालीन तप योग्य रहना कहाँ सम्भव हो सकता है?

कुछ समय पूर्व तक नेति, धोति, वस्ति, न्योली, वज्रोली, कपाल, भाति आदि क्रियायें आसानी से हो जाती थीं। उनके करने वाले अनेक योगी देखे जाते थे, पर अब युग प्रभाव से उनकी साधना कठिन हो गयी है। कोई बिरले ही हठयोग में सफल हो पाते हैं। जो किसी प्रकार इन क्रियाओं को करने भी लगते हैं; वे उनसे वह लाभ नहीं उठा पाते, जो इन क्रियाओं से होना चाहिये।

अधिकांश हठयोगी तो इन कठिन साधनाओं के कारण किन्हीं कष्टसाध्य रोगों से ग्रसित हो जाते हैं। रक्त, पित्त, अन्त्रदाह, मूलाधार, कफ, अनिद्रा जैसे रोगों से ग्रसित होते हुए हमने अनेक हठयोगी देखे हैं। इसलिये वर्तमान काल की शारीरिक स्थितियों का ध्यान रखते हुए तपश्चर्या में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है, आज तो समाज सेवा, ज्ञान-प्रचार, स्वाध्याय, दान, इन्द्रिय संयम आदि के आधार पर ही हमारी तप साधना होनी चाहिये।

प्राणमय-कोश की साधना

'प्राण' शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रतीक है। मानव शरीर के बीच जो अन्तर पाया जाता है, वह बहुत साधारण है। एक मनुष्य जितना लम्बा-मोटा एवं भारी है, दूसरा भी उससे थोड़ा-बहुत ही न्यूनाधिक होगा; परन्तु मनुष्य की सामाजिक शक्ति के बीच जो जमीन आसमान का अन्तर पाया जाता है, उसका कारण उसकी आन्तरिक शक्ति है।

विद्या, चतुराई, अनुभव, दूरदर्शिता, साहस, लगन, शौर्य, जीवनीशक्ति, ओज, पुष्टि, पराक्रम, पुरुषार्थ, महानता आदि नामों से इस आन्तरिक शक्ति का परिचय मिलता है। आध्यात्मिक भाषा में इसे प्राणशक्ति कहते हैं।

प्राण नेत्रों में होकर चमकता है, चेहरे पर बिखरता फिरता है, हाव-भाव में उसकी तरंगें बहती हैं। प्राण की गन्ध में एक ऐसी विलक्षण मोहकता होती है, जो दूसरों को विभोर कर देती है। प्राणवान् स्त्री-पुरुष मन को ऐसे भाते हैं कि उन्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता।

प्राण, वाणी में घुला रहता है उसे सुनकर सुनने वालों की मानसिक दीवारें हिल जाती हैं। मौत के दाँत उखाड़ने के लिये जान हथेली पर रखकर जब मनुष्य चलता है, तो उसकी प्राण शक्ति ही ढाल-तलवार होती है। चारों ओर निराशाजनक घनघोर अन्धकार छाया होने पर भी प्राणशक्ति आशा की प्रकाश रेखा बनकर चमकती है। बालू में तेल निकालने की, मरुभूमि में उपवन लगाने की, असम्भव को सम्भव बनाने की, राई को पर्वत करने की सामर्थ्य केवल प्राणवान् में ही होती है। जिसमें स्वल्प प्राण हैं, उसे जीवित मृतक कहा जाता है। शरीर से हाथी के समान स्थूल होने पर भी उसे पराधीन परमुखापेक्षी ही रहना पड़ता है। यह अपनी कठिनाइयों का दोष दूसरों पर थोपकर किसी प्रकार मन को सन्तोष देता है। उज्ज्वल भविष्य की आशा के लिये वह अपनी सामर्थ्य पर विश्वास नहीं करता। किसी सबल व्यक्ति की, नेता की, अफसर की, धनी की, सिद्ध पुरुष की, देवी-देवताओं की सहायता ही उसकी आशाओं का केन्द्र होती है। ऐसे लोग सदा ही अपने दुर्भाग्य का रोना रोते हैं।

प्राण द्वारा ही यह श्रद्धा, निष्ठा, दृढ़ता, एकाग्रता और भावना प्राप्त होती है, जो भव-बन्धनों को काटकर आत्मा को परमात्मा में मिलाती है, 'मुक्ति' को परम पुरुषार्थ माना गया है। संसार के अन्य सुख-साधनों को प्राप्त करने के लिये जितने विवेक, प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है, मुक्ति के लिये उससे कम नहीं वरन् अधिक की ही आवश्यकता है।

मुक्ति विजय का उपहार है, जिसे साहसी शूरवीर ही प्राप्त करते हैं । भगवान् अपनी ओर से न किसी को बन्धन देते हैं न मुक्ति । दूसरा न कोई स्वर्ग में ले जा सकता है न नरक में, हम स्वयं अपनी आन्तरिक स्थिति के आधार पर जिस दिशा में चलें, उसी लक्ष्य पर पहुँचते हैं ।

उपनिषद् का वचन है कि **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"** वह आत्मा बलहीनों को प्राप्त नहीं होती । निस्तेज व्यक्ति अपने घरवालों, पड़ोसियों, रिश्तेदारों, मित्रों को प्रभावित नहीं कर सकते, तो भला परम-आत्मा (परमात्मा) पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा, तेजस्वी व्यक्ति ही आत्म-लाभ कर सकते हैं, इसलिये प्राण-संचय के लिये योग-शास्त्र में अत्यधिक बल दिया गया है । प्राणायाम की महिमा से सारा अध्यात्म-शास्त्र भरा पड़ा है ।

जैसे सर्वत्र ईश्वर की महामहिमामयी गायत्री शक्ति व्याप्त है, वैसे ही निखिल विश्व में प्राण का चैतन्य समुद्र भी भरा पड़ा है । जैसे श्रद्धा और साधना से गायत्री शक्ति को खींचकर अपने में धारण किया जाता है, वैसे ही अपने प्राणामय कोश को सतेज और चेतन करके विश्वव्यापी प्राण से यथेष्ट मात्रा में प्राण-तत्त्व खींचा जा सकता है । यह भण्डार जितना अधिक होगा, उतने ही हम प्राणवान् बनेंगे और उसी अनुपात से सांसारिक एवं आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ प्राप्त करने के अधिकारी हो जायेंगे ।

दीर्घजीवन, उत्तम स्वास्थ्य, चैतन्यता, स्फूर्ति, उत्साह, क्रियाशीलता, कष्ट सहिष्णुता, बुद्धि की सूक्ष्मता, सुन्दरता, मनमोहकता आदि विशेषतायें प्राणशक्ति रूपी फुलझड़ी की छोटी-छोटी चिनगारियाँ हैं ।

प्राणायाम- श्वास को खींचने, उसे अन्दर रोके रखने और बाहर निकालने की एक विशेष क्रिया पद्धति है, इस विधान के अनुसार प्राण को उसी प्रकार अन्दर भरा जाता है जैसे साइकिल के पम्प से ट्यूब में हवा भरी जाती है । यह पम्प इस प्रकार का बना होता है कि हवा को भरता है, पर वापस नहीं खींचता । प्राणायाम की व्यवस्था भी इसी प्रकार की है । साधारण श्वास-प्रश्वास क्रिया में वायु के साथ वह प्राण भी इसी प्रकार आता-जाता रहता है जैसे सड़क पर मुसाफिर चलते रहते हैं । किन्तु प्राणायाम विधि के अनुसार जब श्वास-प्रश्वास क्रिया होती है, तो वायु में से प्राण खींचकर खासतौर से उसे शरीर में स्थापित किया जाता है जैसे कि धर्मशाला में यात्री को व्यवस्थापूर्वक टिकाया जाता है ।

भारतीय योगशास्त्र षट्चक्रों में सूर्यचक्र को बहुत अधिक महत्त्व देता है । अब पाश्चात्य विज्ञान ने भी सूर्य-ग्रन्थि को सूक्ष्म तन्तुओं का केन्द्र स्वीकार किया है और माना है कि मानव शरीर में प्रतिक्षण होती रहने वाली क्रिया प्रणाली का संचालन इसी के द्वारा होता है ।

कुछ विद्वानों ने इसे 'पेट का मस्तिष्क' नाम दिया है । यह सूर्यचक्र या सोलर प्लेक्सस आमाशय के ऊपर हृदय की धुक-धुकी के पीछे मेरुदण्ड के दोनों ओर स्थित है । यह एक प्रकार की सफेद और भूरी गद्दी से बना हुआ है । पाश्चात्य वैज्ञानिक शरीर की आन्तरिक क्रिया विधि पर इसका अधिकार मानते हैं और कहते हैं कि भीतरी अंगों की उन्नति अवनति का आधार यही केन्द्र है । किन्तु सच बात यह है कि खोज अभी अपूर्ण है । सूर्य चक्र का कार्य और महत्त्व उससे अनेक गुना अधिक है, जितना कि वे लोग मानते हैं । ऐसा देखा गया है कि इस केन्द्र पर यदि जरा कड़ी चोट लगे, तो मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो जाती है ।

योगशास्त्र इस केन्द्र को प्राणकोश मानता है और कहता है कि वहीं से निकलकर एक प्रकार का मानवी विद्युत् प्रवाह सम्पूर्ण नाड़ियों में प्रवाहित होता है । ओजस् शक्ति इस संस्थान में रहती है ।

प्राणायाम द्वारा सूर्य-चक्र की एक प्रकार की हलकी-हलकी मालिश होती है जिससे उसमें गर्मी, तेजी और उत्तेजना का संचालन होता है और उसकी क्रियाशीलता बढ़ती है । प्राणायाम से फुफ्फुसों में वायु भरती है और वे फूलते हैं और यह फूलकर सूर्यचक्र की परिधि में स्पर्श करता है ।

बार-बार स्पर्श करने से जिस प्रकार काम-सेवन वाले अंगों में उत्तेजना उत्पन्न होती है, उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा फुस-फुस से सूर्य चक्र का स्पर्श होना वहाँ एक सनसनी उत्तेजना और हलचल पैदा करता है । यह उत्तेजना व्यर्थ नहीं जाती वरन् सम्बन्धित सारे अंग-प्रत्यंगों को जीवन और बल प्रदान करती है, जिससे शारीरिक और मानसिक उन्नतियों का द्वार खुल जाता है ।

मेरुदण्ड के दाहिने, बाँये दोनों ओर नाड़ी-गुच्छकों की दो शृंखलायें चलती हैं। ये गुच्छक आपस में सम्बन्धित हैं और इन्हीं में सिर, गले, छाती, पेट आदि के गुच्छक भी आकर शामिल हो गये हैं। अन्य अनेक नाड़ी तन्तुओं का भी वहाँ जमघट है। इनका प्रथम विभाग जिसे मस्तिष्क मेरु विभाग कहते हैं शरीर के ज्ञान-तंतुओं से घनीभूत हो रहा है। इसी संस्थान से असंख्य 'बहुत ही बारीक' भूरे तन्तु निकलकर रुधिर नाड़ियों में फैल गये हैं और अपने अन्दर रहने वाली विद्युत् शक्ति से भीतरी शारीरिक अवयवों को संचालित किये रहते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि मेरुदण्ड के दाँये-बाँये नाड़ी गुच्छकों की दो पृथक् शृंखलायें चलती हैं, इन्हीं को योग में इड़ा और पिंगला कहा गया है। रुधिर संचार, श्वास क्रिया, पाचन आदि प्रमुख कार्यों को सुसंचालित रखने की जिम्मेदारी उपरोक्त नाड़ी गुच्छकों के ऊपर प्रधान रूप से है। प्राणायाम साधना में इन इड़ा-पिंगला नाड़ियों को नियत विधि के अनुसार बलवान् बनाया जाता है, जिससे उनसे सम्बन्धित शरीर की सहानुभावी क्रिया के विकार दूर होकर आनन्दमयी स्वस्थता प्राप्त हो सके।

अत्यन्त प्राचीनकाल से अध्यात्मवेत्ता पुरुष प्राणायाम के महत्त्व और उनके लाभों को अनुभव करते रहे हैं। तदनुसार समस्त भू-मण्डल में योगी लोग अपनी विधि से इन क्रियाओं को करते रहते हैं। महापुरुष ईसामसीह अपने शिष्यों सहित एक पर्वत पर चढ़कर ईश्वर प्रार्थना किया करते थे। कहा जाता है कि इस ऊँची चढ़ाई में आध्यात्मिक श्वास-क्रियाओं का रहस्य छिपा हुआ था।

बौद्ध धर्म में 'जजन' नामक प्राणायाम बहुत काल से चलता आया है। प्रसिद्ध जापानी पुरोहित हकुइन जेशी ने प्राणायाम का खूब विस्तार किया था। यूनान में प्लेटो से भी बहुत पहले इस विज्ञान की जानकारी का पता चलता है। अन्यान्य देशों में भी किसी न किसी रूप में इस विद्या के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

योगदर्शन 'साधना पाद' के सूत्र ५२, ५४ में बताया गया है कि प्राणायाम से अविद्या का अन्धकार दूर होकर ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है और मन एकाग्र होने लगता है। ऐसी गाथायें भी सुनी जाती हैं कि प्राण को वश में करके योगी लोग मृत्यु को जीत लेते हैं और जब तक चाहें वे जीवित रह सकते हैं। प्राण शक्ति से अपने और दूसरे के रोगों को नष्ट करने का एक अलग विज्ञान है, अनेक प्रकार के प्राणायामों से होने वाले लाभ सुने और देखे जाते हैं। यह लाभ कभी-कभी इतने विचित्र होते हैं कि उन पर आश्चर्य करना पड़ता है।

इन पंक्तियों में उन अद्भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं की चर्चा न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्राणायाम से शरीर की सूक्ष्म क्रिया पद्धति के ऊपर अदृश्य रूप से ऐसे विज्ञान-सम्मत प्रभाव पड़ते हैं, जिनके कारण रक्त संचार, नाड़ी-संचालन, पाचन-क्रिया, स्नायविक दृढ़ता, प्रगाढ़-निद्रा, स्फूर्ति एवं मानसिक विकास के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं एवं स्वस्थता, बलशीलता, प्रसन्नता, उत्साह तथा परिश्रम की योग्यता बढ़ती है।

आत्मोन्नति, चित्त की एकाग्रता, स्थिर दृढ़ता आदि मानसिक गुणों की मात्रा में प्राण साधना के साथ-साथ ही वृद्धि तो हो जाती है। इन लाभों पर विचार किया जाये तो प्रतीत होता है कि प्राणायाम आत्मोन्नति की महत्त्वपूर्ण साधना है।

प्राण तत्त्व का वायु से विशेष सम्बन्ध है। पाश्चात्य वैज्ञानिक तो प्राण को वायु का ही एक सूक्ष्म भेद मानते हैं। साँस को ठीक तरह लेने न लेने पर प्राण की मात्रा का घटना-बढ़ना निर्भर रहता है। इसलिये कम से कम साँस लेने के सही तरीके से प्रत्येक बाल-वृद्ध को परिचित होना चाहिये।

हमें गहरी और पूरी साँस लेना चाहिये, जिससे वायु फेफड़े के हर भाग में जाकर सम्पूर्ण वायु-मन्दिरों में रक्त की सफाई कर सके। अधूरी और उथली साँस लेने से कुछ थोड़े से वायु-मन्दिरों की सफाई हो पाती है; क्योंकि उथली साँस का दबाव इतना नहीं होता कि वह हर एक कोष्ठ पर पहुँच सके। जब हवा वहाँ तक पहुँचेगी ही नहीं, तो सफाई किस प्रकार होगी ? साँस का सम्पर्क होने पर रक्त की अशुद्धता-कार्बोनिक एसिड गैस-बाहर निकल जाती है और साँस का प्राण-आक्सीजन में घुल जाता है।

यह प्राण शक्ति उस शुद्ध रक्त के दूसरे दौरे के साथ शरीर के अंग-प्रत्यंगों में पहुँचकर उन्हें ताजगी और

स्फूर्ति प्रदान करती है । शुद्ध रुधिर में एक चौथाई भाग ऑक्सीजन का होता है । यदि इसमें न्यूनता हो जाय तो उसका प्रभाव पाचन-क्रिया पर अनिवार्य रूप से पड़ता है । ऐसे व्यक्तियों की जठराग्नि मन्द होने लगती है ।

इन सब क्रियाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि हमें पूरी गहरी साँस लेने की आवश्यकता है । जिससे रक्त में पर्याप्त आक्सीजन मिल जाय, अंग-प्रत्यंगों में ताजगी एवं स्फूर्ति पहुँचती रहे और पाचन-शक्ति में निर्बलता न आने पाये ।

जठराग्नि मन्द होने से अन्य अंगों में शिथिलता आने लगती है और वे अपने को अधूरा एवं दोषपूर्ण बनाते हैं । यही क्रम यदि कुछ समय जारी रहे, तो जीवन यात्रा में नाना प्रकार की विघ्न-बाधायें उपस्थित हो सकती हैं और विविध भाँति के रोगों का सामना करना पड़ता है ।

अधूरी साँस लेने वाले के फेफड़े का बहुत-सा भाग निकम्मा पड़ा रहता है । जिन मकानों की सफाई नहीं होती, उनमें गन्दगी, मकड़ी, मच्छर, छिपकली, कीड़े-मकोड़े आदि का जमघट होने लगता है । इसी तरह फेफड़े के जिन वायु-कोष्ठों में साँस की वायु नहीं पहुँचती, उनमें क्षय, खाँसी, जुकाम, उरक्षत, कफ, दमा आदि के रोग कीट जड़ जमा लेते हैं । धीरे-धीरे वहाँ वे निर्बाध रीति से पलते रहते हैं और भीतर ही भीतर अपना इतना आधिपत्य जमा लेते हैं कि फिर उनका निकाल बाहर करना कठिन या असम्भव हो जाता है ।

प्राणायाम विज्ञान का सबसे पहला और आरम्भिक पाठ यह है कि हमें पूरी तरह गहरी साँस लेनी चाहिये । ऐसी आदत डालने का प्रयत्न करना चाहिये कि सदैव इस प्रकार साँस ली जाय कि वायु से पूरे फेफड़े भर जायें । यह कार्य झटके से या उतावली में नहीं होना चाहिये । धीरे-धीरे इस प्रकार पूरी साँस खींचनी चाहिये कि छाती भरपूर चौड़ी हो जाए और फिर उसी क्रम से धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल देना चाहिये ।

यही रीति फेफड़ों को स्वस्थ रखने वाली, रक्त को शुद्ध करने वाली, शरीर के अंग-प्रत्यंग में चैतन्यता देने वाली, पाचन शक्ति ठीक बनाये रखने वाली है, इसलिये आरोग्य और दीर्घ-जीवन देने वाली भी है ।

पूरी साँस लेने का अभ्यास डालने से छाती की चौड़ाई बढ़ती है, फेफड़ों की मजबूती और वजन में वृद्धि होती है, हृदय की कमजोरी में सुधार होकर रक्तसंचार की क्रिया में चैतन्यता दिखाई देने लगती है । पाठकों का श्वास-विज्ञान के इस तथ्य को गम्भीरतापूर्वक विचारना चाहिये और अविलम्ब पूरी एवं गहरी साँस लेने की आदत डालने का प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिये । कुछ दिन श्वास क्रिया पर ध्यान रखने से भूल सुधारती रहने से यह आदत भली प्रकार पड़ जाती है ।

प्राणायाम विज्ञान की दूसरी शिक्षा 'नाक से साँस लेना' है । यद्यपि मुँह से भी साँस ली जा सकती है, पर वह इतनी उपयोगी कदापि नहीं हो सकती, जितनी कि नाक से लेने पर होती है । एक बार एक जंगी जहाज के यात्रियों में चेचक बड़े उग्र रूप से फैली । डाक्टरों ने इनकी विशेष सावधानी से जाँच करते रहने का प्रयत्न किया । मृतकों के बारे में उनकी रिपोर्ट थी कि ये सभी मुँह से साँस लेते थे । उस जहाज में एक भी ऐसा आदमी न मरा जिसे नाक से साँस लेने की आदत थी । जुकाम और सर्दी के रोगों के बारे में भी डाक्टरी जाँच का यही निष्कर्ष है कि मुँह खोलकर साँस लेने से इसका प्रकोप विशेष रूप से होता है और भी अनेक छोटे बड़े रोग इसी बुरी आदत के कारण होते देखे गये हैं ।

नाक से फेफड़ों तक जो हवा पहुँचाने वाली नली गयी है, उसकी रचना इस प्रकार हुई है कि वह वायु को उचित रूप से संशोधन-परिमार्जन करके भीतर पहुँचाए । नासिका के छिद्रों में छोटे-छोटे बाल होते हैं । यह एक प्रकार की चलनी है, जिसमें धूल व गन्दगी के अणु अटके रह जाते हैं और छनी हुई वायु भीतर जाती है । जब आप नासिका के छिद्रों में अंगुली डालकर उनकी सफाई करते हैं, तो उनमें से कुछ मैल निकलता है । यह मैल कचरा है, जो वायु के छनने से बचा रहता है ।

नासिका में एक प्रकार का तरल पदार्थ स्रवित होता रहता है, बालों में अटकने के सिवाय जो कचरा बचा रहता है, वह इस स्राव में चिपक जाता है । वायु का इतना संशोधन नासिका के छिद्रों में हो जाने के उपरांत वह आगे चलती है । श्वास नली जो फेफड़ों तक मस्तिष्क में होती हुई गयी है, काफी लम्बी है । इतनी लम्बाई में यात्रा

करती हुई वायु का तापमान सह्य हो जाता है। यदि ठण्डी हुई तो गरम हो जाती है। इस प्रकार फेफड़ों तक पहुँचते-पहुँचते वह सब प्रकार सह्य संशोधित हो जाती है। किन्तु यदि मुँह से साँस लें, तो परिणाम बिलकुल दूसरी ही प्रकार का हो जाता है।

मुँह में नासिका की तरह बाल नहीं होते जो वायु को छानें, दूसरे मुँह का छिद्र इतना बड़ा है कि उसमें वायु गर्द-गुबार बिना रुकावट के चल सकता है। तीसरे मुँह से फेफड़ों की दूरी बहुत कम है, इसलिये वायु की सर्दी-गर्मी में भी विशेष परिवर्तन नहीं होने पाता। इस प्रकार बिना छनी गर्द गुबार युक्त सर्द-गर्म हवा मुँह के द्वारा जब फेफड़ों में पहुँचती है, तो उन्हें हानि पहुँचाती है और बीमारियों की उत्पत्ति करती है। देखा गया है कि जो लोग रात को मुँह से साँस लेते हैं सबेरे उनका मुँह सूखा, कड़ुवा और बदबूदार होता है। रोगियों को यह लत हो, तो उनको स्वस्थ होने में अनावश्यक देरी लग जाती है।

प्राणायाम के अभ्यासियों को योगियों की यह कड़ी ताकीद होती है कि वे सदा नाक से साँस लिया करें। यदि नासिका भाग में कुछ रुकावट हो जिसके कारण मुँह से साँस लेने के लिये बाध्य होना पड़ता है, तो नासिका रन्ध्रों की सफाई कर लेनी चाहिये।

संगीत से फेफड़े बहुत मजबूत होते हैं। गायन में जिन्हें रुचि होती है, उन्हें छाती सम्बन्धी रोग कम होते देखे गये हैं। अत्यधिक गाने से या अनुचित अवस्था में अविधिपूर्वक गाने से बीमारियाँ हो सकती हैं, परन्तु साधारणतः संगीत की गणना फेफड़ों को मजबूत बनाने वाले अभ्यासों में है।

कण्ठ, हृदय, पसली, आमाशय, आँत, यकृत आदि सभी का, धड़ के अन्तर्गत रहने वाले अंगों का संगीत से अच्छा व्यायाम होता है। यदि अच्छे बाजे के साथ ध्वनिपूर्वक गाया बजाया जाए, तो एक प्रकार की विद्युत् तरंगें उत्पन्न होकर स्नायु-तंतुओं को तरंगित करती रहती हैं, जिससे श्वास-संचालन क्रिया में विशेष रूप से सहायता मिलती है और मन्द एवं शिथिल गति से काम करने वाले अंगों में गतिशीलता का आविर्भाव होता है। जिन्हें गाना-बजाना आता है, उन्हें भोजन के पश्चात् कम से कम दो-तीन घंटे बचाकर सुविधानुसार अभ्यास करना चाहिये। जो बजा न सकते हों, उन्हें केवल गाना ही चाहिये। सुविधानुसार यदि वाद्य-गान सुनने का अवसर मिले, तो उससे लाभ उठाना चाहिये, क्योंकि संगीत से उत्पन्न होने वाली लहरें सुनने वालों को भी प्रभावित करती हैं।

प्रातः-सायं गायन-वाद्य तथा नृत्य के साथ संकीर्तन करने की धार्मिक प्रथा का स्वास्थ्य से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। संकीर्तन में सम्मिलित होने वालों के गले एवं फेफड़े का व्यायाम हो जाता है। जोर-जोर से धार्मिक भजन गाने या शंख बजाने से भी फेफड़ों का व्यायाम होता है और बहुत अंशों में प्राणायाम का लाभ मिलता है।

प्राणाकर्षण की सुगम क्रियायें

प्रातःकाल नित्य-कर्म से निवृत्त होकर साधना के लिये किसी शान्तिदायक स्थान पर आसन बिछाकर बैठिये, दोनों हाथों को घुटनों पर रखिये, मेरुदण्ड सीधा रहे, नेत्र बन्द कर लीजिये।

फेफड़ों में भरी हुई सारी हवा बाहर निकाल दीजिये, अब धीरे-धीरे नासिका द्वारा साँस लेना आरम्भ कीजिये। जितनी अधिक मात्रा में भर सकें फेफड़ों में हवा भर लीजिये। अब कुछ देर उसे भीतर ही रोके रहिये। इसके पश्चात् साँस को धीरे-धीरे नासिका द्वारा बाहर निकालना आरंभ कीजिये। हवा को जितना अधिक खाली कर सकें, कीजिये। अब कुछ देर साँस को बाहर ही रोक दीजिये अर्थात् बिना साँस के रहिये। इसके बाद पूर्ववत् वायु को खींचना आरंभ कीजिये। यह एक प्राणायाम हुआ।

साँस निकालने को रेचक, खींचने को पूरक और रोके रहने को कुम्भक कहते हैं। कुम्भक के दो भेद हैं। साँस को भीतर भरकर रोके रखना 'अन्तः-कुम्भक' और खाली करके बिना साँस रहना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। रेचक और पूरक में समय बराबर लगना चाहिये, पर कुम्भक में उसका आधा समय ही पर्याप्त है।

पूरक करते समय भावना करनी चाहिये कि मैं जन शून्य लोक में अकेला बैठा हूँ और मेरे चारों ओर विद्युत् जैसी चैतन्य जीवनी शक्ति का समुद्र लहरें ले रहा है । साँस द्वारा वायु के साथ-साथ प्राण शक्ति को मैं अपने अन्दर खींच रहा हूँ ।

अन्तः कुम्भक करते समय भावना करनी चाहिये कि उस चैतन्य प्राण-शक्ति को मैं अपने भीतर भरे हूँ । समस्त नस-नाड़ियों में, अंग-प्रत्यंगों में वह शक्ति स्थिर हो रही है । उसे सोखकर देह का रोम-रोम चैतन्य, प्रफुल्लित, सतेज एवं परिपुष्ट हो रहा है ।

रेचक करते समय भावना करनी चाहिये कि शरीर में सञ्चित मल, रक्त में मिले हुए विष, मन में धँसे हुए विकार साँस छोड़ने पर वायु के साथ-साथ बाहर निकाले जा रहे हैं ।

बाह्य कुम्भक करते समय भावना करनी चाहिये कि अन्दर के दोष साँस के द्वारा बाहर निकलकर भीतर का दरवाजा बन्द कर दिया गया है; ताकि वे विकार वापस न लौटने पाएँ ।

इन भावनाओं के साथ प्राणाकर्षण प्राणायाम करना चाहिये । आरम्भ में पाँच प्राणायाम करें; फिर क्रमशः सुविधानुसार बढ़ाते जाएँ ।

कहीं एकान्त में जाओ । समतल भूमि पर नरम बिछौना बिछाकर पीठ के बल लेट जाओ, मुँह ऊपर की ओर रहे । पैर, कमर, छाती, सिर सब एक सीध में रहें । दोनों हाथ सूर्य चक्र पर (आमाशय का वह स्थान जहाँ पसलियाँ और पेट मिलता है) रहें । मुँह बन्द रखो । शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दो, मानों वह कोई निर्जीव वस्तु है और उससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । कुछ देर शिथिलता की भावना करने पर शरीर बिलकुल ढीला पड़ जायेगा । अब धीरे-धीरे नाक द्वारा साँस खींचना आरम्भ करो और दृढ़ शक्ति के साथ भावना करो कि विश्व-व्यापी महान् प्राण-भण्डार में से मैं स्वच्छ प्राण, साँस के साथ खींच रहा हूँ और वह प्राण मेरे रक्त-प्रवाह तथा समस्त नाड़ी तन्तुओं में प्रवाहित होता हुआ सूर्य चक्र में इकट्ठा हो रहा है । इस भावना को कल्पना लोक में इतनी दृढ़ता के साथ उतारो कि प्राण शक्ति की बिजली जैसी किरणें नासिका द्वारा देह में घूमती हुई चित्रवत् दीखने लगें तथा उसमें प्राण- प्रवाह बहता हुआ आये । भावना की जितनी अधिकता होगी उतनी ही अधिक मात्रा में तुम प्राण खींच सकोगे ।

फेफड़ों को वायु से अच्छी तरह भर लो और पाँच से दस सेकेण्ड तक उसे रोके रहो । आरम्भ में पाँच सेकेण्ड काफी हैं, पश्चात् अभ्यास बढ़ने पर दस सेकेण्ड तक रोक सकते हैं । साँस के रोकने के समय अपने अन्दर प्रचुर परिमाण में प्राण भरा हुआ है, यह अनुभव करना चाहिये । अब वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालो । निकालते समय ऐसा अनुभव करो कि शरीर के सारे दोष, रोग और विष इनके द्वारा निकाल बाहर किये जा रहे हैं । दस सेकेण्ड तक बिना हवा के रहो और पूर्ववत् प्राणाकर्षण प्राणायाम करना प्रारम्भ कर दो । स्मरण रखो कि प्राणाकर्षण का मूलतत्त्व साँस खींचने-छोड़ने में नहीं वरन् आकर्षण की उस भावना में है, जिसके अनुसार अपने शरीर में प्राण का प्रवेश होता हुआ चित्रवत् दिखाई देने लगता है ।

इस प्रकार श्वास-प्रश्वास की क्रियायें दस मिनट से लेकर धीरे-धीरे आधे घण्टे तक बढ़ा लेनी चाहिये । श्वास द्वारा खींचा हुआ प्राण सूर्य चक्र में जमा होता जा रहा है, इसकी विशेष रूप से भावना करो । मुँह द्वारा साँस छोड़ते समय आकर्षित प्राण को छोड़ने की भी कल्पना करने लगें, तो यह सारी क्रिया व्यर्थ हो जायेगी और कुछ लाभ न मिलेगा ।

ठीक तरह से प्राणाकर्षण करने पर सूर्य-चक्र जाग्रत् होने लगता है । ऐसा प्रतीत होता है कि पसलियों के जोड़ और आमाशय के स्थान पर जो गड्ढा है, वह सूर्य के समान एक छोटा-सा प्रकाश बिन्दु मानव नेत्रों से दीख रहा है । यह गोला आरंभ में छोटा, थोड़े प्रकाश का और धुँधला मालूम देता है; किन्तु जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ने लगता है, वैसे-वैसे साफ, स्वच्छ, बड़ा और प्रकाशवान् होता है । जिनका अभ्यास बढ़ा-चढ़ा है उन्हें आँख बन्द करते ही अपना सूर्य चक्र साक्षात् सूर्य की तरह तेजपूर्ण दिखाई देने लगता है । वह प्रकाशित तत्त्व सचमुच प्राण शक्ति है । इसकी शक्ति से कठिन कार्यों में अद्भुत सफलता प्राप्त होगी ।

अभ्यास पूरा करके उठ बैठो । तुम्हें मालूम पड़ेगा कि रक्त का दौरा तेजी से हो रहा है और सारे शरीर में एक बिजली-सी दौड़ रही है । अभ्यास के उपरान्त कुछ देर शान्तिमय स्थान में बैठना चाहिये । अभ्यास से उठकर एक दम किसी काम में जुट जाना, स्नान, भोजन, मैथुन करना निषिद्ध है ।

ऊपर सर्वसाधारण के उपयोग की श्वास-प्रश्वास क्रियाओं का वर्णन हो चुका है । इसके उपयोग से गायत्री साधकों की आन्तरिक दुर्बलता दूर होती है और प्राणवान् होने के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, प्राणमय कोश की भूमिका को पार करते हुए दस प्राणों को संशोधित करना पड़ता है ।

मनुष्य शरीर में दस जाति के प्राणों का निवास है । इनमें से पाँच को महाप्राण और पाँच को लघुप्राण कहते हैं । १- प्राण, २- अपान, ३-समान, ४-उदान, ५- व्यान, यह पाँच महाप्राण हैं और १-नाग, २-कूर्म, ३- कृकल, ४-देवदत्त, ५- धनञ्जय, यह पाँच लघुप्राण हैं । शरीर में कुछ ऐसे भ्रमर हैं, जिनमें जाने से प्राण-तत्त्व की क्रिया एवं स्थिति उन भ्रमरों के अनुकूल ही हो जाती है । बिजली की धारा बल्ब के स्पर्श से प्रकाश करती है, पंखे के साथ मिलकर हवा करती है, मोटर में आकर ताकत पैदा करती है, रेडियो में उसका कार्य ध्वनि को पकड़ना होता है । प्राण तत्त्व एक प्रकार की विद्युत् शक्ति के समान है । बहते हुए पानी में जैसे भ्रमरों के गड्ढे पड़ते हैं, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में कुछ ऐसे भ्रमर हैं, जिनके साथ प्राण का सम्मिश्रण होने से एक विशेष प्रक्रिया की जाती है ।

पाँच महाप्राणों को 'ओजस्' और पाँच लघुप्राणों को 'रेतस्' कहते हैं । दोनों प्राण एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं । दोनों नेत्र, दोनों नथुने, दोनों कान, दोनों हाथ, दोनों पैर एक-दूसरे के सहायक एवं साथी हैं । इसी प्रकार महाप्राण और लघुप्राण भी आपस में सम्बद्ध तथा सहायक हैं । इनको एक ही प्राण के दो भाग कहा जा सकता है । एक होते हुए भी कुछ भेदों के कारण मस्तिष्क को अगला(बड़ा मस्तिष्क) और पिछला (छोटा मस्तिष्क) दो भागों में बाँटा गया है, वैसे ही प्राण-तत्त्व भी दो भागों में विभाजित हुआ है ।

'प्राण वायु' का निवास स्थान हृदय है । 'नाग' भी उसके समीप रहता है । 'अपान' गुदा और मूत्रेन्द्रिय के बीच में मूलाधार के निकट रहता है, उसी के पास 'कूर्म' लघुप्राण का निवास है । 'समान और कृकल' नाभि में रहते हैं । 'उदान' और 'देवदत्त' का स्थान कण्ठ है ।'व्यान' और 'धनञ्जय' में आकाश-तत्त्व का अधिक मिश्रण रहने से ये सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहते हैं, पर उसका प्रधान केन्द्र मस्तिष्क का मध्य भाग है ।

साधारणतः ऐसा माना जाता है कि प्राण के द्वारा शब्द एवं मस्तिष्क का पोषण होता है । अपान से मल-मूत्र, स्वेद आदि का विसर्जन होता है । समान से पाचन, परिपाक और उष्णता का संचार होता है । उदान विविध वस्तुयें बाहर से शरीर के भीतर ग्रहण करता है । व्यान का काम रक्त-संचार है । लघु प्राणों में नाग से डकार आती है । कूर्म से पलक मारने और बन्द होने की क्रिया होती है । कृकल से छींकें और देवदत्त से जँभाई आती है । धनञ्जय जीवित अवस्था में शरीर का पोषण करता है और मरने पर देह को सड़ा-गला कर शीघ्र नष्ट करने का प्रबन्ध करता है ।

ये मान्यतायें सर्वांगपूर्ण नहीं हैं । जिस स्थान पर जिस प्राण का निवास बताया गया है, वहाँ एक प्रकार के वायु भ्रमर होते हैं, जिनमें प्राणों का विशेष संचार रहता है । गर्मी के दिनों में जलवायु अधिक गरम हो जाती है तो एक प्रकार के वायु 'भ्रमर' उत्पन्न होते हैं, जो घूमते और नाचते हुए अन्धड़ की तरह आगे चलते हैं, उसी प्रकार के कुछ भ्रमर शरीर में पाये जाते हैं ।

सूक्ष्म निरीक्षण करने पर पता चलता है कि इन स्थानों पर शरीरगत वायु और प्राण की उष्णता के कारण एक प्रकार के भ्रमर चक्र उत्पन्न हो जाते हैं । भ्रमर सदा ऊपर चौड़े होते हैं और नीचे की तरफ ढलवाँ होते जाते हैं तथा अन्त में बहुत ही छोटे नोंक मात्र हो जाते हैं । ऊपर के सबसे चौड़े भाग को 'स्तर' और नीचे से सबसे नुकीले भाग को 'बिन्दु' कहते हैं । इसी प्रकार प्राण वायु के भ्रमर का ऊर्ध्व भाग महाप्राण और अधो भाग लघुप्राण कहा जाता है । एक स्तर है तो दूसरा बिन्दु । वस्तुतः दोनों एक ही महातत्त्व के दो विभाग मात्र हैं ।

वस्तुतः प्राण का कार्य जीवन चलाना है । हृदय की धड़कन जीवन की प्रतीक है । घड़ी में फिनर की ऐंठ ही सब कल-पुर्जों को चलाती है । फिनर की चाबी नष्ट हो जाए, तो पुर्जों का चलना बन्द हो जायेगा । प्राण के द्वारा

हृदय की धड़कन होती है; फिर उससे रक्त सञ्चार होता है, साँस आ जाती है, इसके बाद शरीर की अन्य क्रियायें होती हैं ।

प्राण में शिथिलता आने पर जीवनी शक्ति घट जाती है और उसके अत्यन्त न्यून हो जाने पर हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है । समाधि लगाने वाले महात्माओं का प्राण पर अधिकार होता है । ये दीर्घ काल तक निस्तब्ध रहने पर जब चाहते हैं , तब शरीर में प्राण का स्पन्दन बढ़ाकर हृदय का धड़कना आरंभ कर देते हैं और साधारण जीवन जीने लगते हैं । जब तक उनका प्राण खिंचकर ब्रह्माण्ड में संचित किया रहता है तब तक हृदय की धड़कन बन्द रहती है और शरीर मृततुल्य हो जाता है, इसलिये उनको दीर्घकालीन समाधि सुख मिलता रहता है ।

प्राण पर अधिकार प्राप्त किये बिना लम्बे समय तक स्थिर समाधि नहीं लग सकती । प्राण पर अधिकार करके दीर्घकाल तक जीवन स्थिर रखना, मृत्यु को इच्छानुवर्ती बना लेना सम्भव है, एक मनुष्य दूसरे को प्राण-दान दे सकता है, जैसे एक मनुष्य का रक्त दूसरे के शरीर में पहुँचाया जा सकता है, वैसे ही एक का प्राण दूसरे के शरीर में प्रवेश करके उसे जीवन एवं मनोबल दे सकता है ।

'अपान' का स्थूल कार्य मलों का ठीक प्रकार विसर्जन करना है । देह के भीतर सदा पैदा होने वाले मल, मूत्र, पसीना, कफ, कीचड़, विष, विजातीय पदार्थ आदि त्याज्य पदार्थों को अपान अनेक छिद्रों द्वारा शरीर से बाहर निकालता रहता है । यदि अपान अपनी यह क्रिया न करे , तो शरीर में मल निकालने की शक्ति घट जायेगी और अपच, जुकाम आदि अनेक रोग पैदा हो जायेंगे ।

इसके अतिरिक्त अपान की सूक्ष्म क्रिया जननेन्द्रिय में होती है । काम-वासना का आधार इसी पर निर्भर है । मन को मथ डालने वाली, चित्त को अधीर, व्यग्र एवं आतुर कर डालने वाली वासना, अपान के उत्तेजित हो जाने से होती है । यह यदि शिथिल हो जाए, तो तरुण पुरुष भी नपुंसक हो जायेगा । सन्तान का सौन्दर्य, स्वास्थ्य, बुद्धि, पराक्रम एवं स्वभाव अपान से बहुत कुछ सम्बन्धित है । अपान का सहवर्ती 'कूर्म' लघुप्राण यदि सुषुप्त अवस्था में होगा तो, शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ होने पर भी गर्भ की स्थापना कदापि न हो सकेगी ।

जिन स्त्री-पुरुषों में अपान साम्य होता है, उन्हें काम-सेवन में असाधारण आनन्द आता है । रूप-सौन्दर्य पर नहीं, कामतुष्टि अपान की समानता पर निर्भर करती है । पुरुष में अपान और स्त्री में कूर्म प्रधान होता है दोनों के परस्पर मिलन से एक ऐसा प्राण परिवर्तन होता है, जो अनेक शारीरिक और मानसिक अभावों की पूर्ति करता है । अपान पर अधिकार की पद्धति न जानते हुए भी जिन्हें हठपूर्वक ब्रह्मचर्य रखना पड़ता है वे प्राय: किन्हीं रोगों से ग्रसित रहते हैं ।

आज विधुर और विधवाओं में से अधिकांश का स्वास्थ्य खराब देखा जाता है और जन-गणना की रिपोर्ट से पता चलता है कि गृहस्थों की अपेक्षा विधुरों की मृत्यु संख्या का अनुपात कहीं अधिक है, जिनमें अपान की समानता है, वे अकारण ही आपस में घनिष्ट मित्र बन जाते हैं । उन्हें एक-दूसरे के साथ रहने में बड़ी शान्ति मिलती है । ऐसे मित्रों को ही 'प्राणसखा' कहते हैं । उन्हें आपसी वियोग मर्मान्तक दु:ख देता है ।

समान प्राण उदर में नाभि के नीचे रहता है । पाचन इसका मुख्य कार्य है । गर्मी, उष्णता एवं पित्त को समान का प्रतीक कहते हैं । शरीर में चञ्चलता, स्फूर्ति, उत्साह, छरहरापन एवं चमक इसी के कारण होती है । त्वचा की चिकनाई, कोमलता, चमक में कृकल-प्राण का अस्तित्व परिलक्षित होता है । खूब भूख लगना, अधिक आहार करना, जल्दी पचा लेना, सर्दी के प्रभाव से व्यथित न होना समान की विशेषता है । जिनमें यह प्राण कम होगा; वे सर्दी बर्दाश्त न कर सकेंगे, जाड़ों में उनकी देह लुञ्ज-पुञ्ज सी हो जायेगी । कानों को, उँगलियों को , पैरों को बड़ी ठण्ड लगेगी, ठण्डे जल में जाड़े के दिनों में स्नान करना उन्हें बड़ा कष्टकर होगा । अधिक कपड़े लादे रहने पर भी ठण्ड न छूटेगी ।

ऐसे लोगों का जरा से भोजन से पेट भर जाता है । गरम पदार्थ खाने की, धूप या अग्नि के निकट बैठने की इच्छा रहती है । ऐसे मनुष्य अपनी दुर्बलता के कारण सर्दी को बर्दाश्त नहीं कर पाते, पर गर्मी का मौसम उनकी

प्रकृति के अनुकूल पड़ता है । 'समान' की न्यूनता के कारण शरीर में उष्णता कम रहती है, उसकी पूर्ति गरम मौसम से हो जाती है । ऐसे लोगों की नाड़ी पतली चलती है ।

समान-प्राण का स्वास्थ्य से बड़ा सम्बन्ध है । इन्द्रियों की रसानुभूति समान के आधार पर घटती-बढ़ती रहती है । स्वादिष्ट पदार्थ, मनोरम दृष्टि, मधुर ध्वनि, सुखद स्पर्श, सुरभित गंध को भली प्रकार ग्रहण करने और इससे आनन्दित होने की क्षमता 'समान' प्राण वालों में होती है । जिसका 'समान' घट जायेगा वह सब प्रकार की सुखद परिस्थिति होते हुए भी खिन्न, असंतुष्ट एवं झुँझलाया हुआ रहेगा, देह का कोई न कोई अंग बीमारी का कष्ट पाता रहेगा ।

ऐसे लोगों को सन्निपात, मोतीझरा आदि तीव्र रोग तो नहीं होते, पर जुकाम, खाँसी, पेट का भारीपन, सिरदर्द, दाँतों का हिलना, आँखों की कमजोरी, देह का टूटना, थकान जैसे मन्द रोग घेरे रहेंगे । एक से पीछा छूटने से पहले ही दूसरा नया उत्पन्न हो जायेगा ।

'समान' पित्त का प्रतीक है । 'कृकल' कफ का प्रतिनिधि है । दोनों के मिलने से 'बाद' बनता है । इन तीनों के उलझने-सुलझने और घटने-बढ़ने से बीमारी और तन्दुरुस्ती का चक्र घूमता है । कहा जाता है कि बीमारी की जड़ पेट में है, इसका अर्थ यही है कि नाभि चक्र के निवासी 'समान' और 'कृकल' ही हमारे स्वास्थ्य के अधिपति हैं । इन पर अधिकार होने से चिरस्थायी स्वास्थ्य का स्वामित्व प्राप्त होता है ।

'उदान' प्राण का निवास कण्ठ है । यह श्री और समृद्धि का स्थान है । लक्ष्मी जी का केन्द्रं कण्ठकूप की 'स्फुटा' ग्रन्थि को माना गया है । लक्ष्मी जी की पूजा एवं 'स्फुटा' के उत्तेजन से निर्मित कण्ठ में स्वर्णाभूषण धारण किये जाते हैं । 'स्फुटों' पर धातुओं और रत्नों का जो प्रभाव पड़ता है, उसे जानने वाले गले में रत्न, कवच, आभूषण एवं मालायें बनाकर कण्ठ में धारण करते हैं और उनके सूक्ष्म परिणामों से लाभान्वित होते हैं ।

उदान के परिपूर्ण होने से मनुष्य को वे योग्यतायें , सामर्थ्य, शक्तियाँ, विशेषतायें एवं चतुरतायें प्राप्त होती हैं, जिनके कारण सांसारिक आवश्यकता की वस्तुयें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती रहती हैं । तृष्णाओं का तो अन्त नहीं, उन्हें तो कुबेर भी पूरी नहीं कर सकता, पर जीवनोपयोगी कोई वस्तु ऐसी नहीं, जिसे उदान प्राण की सामर्थ्य से प्राप्त न किया जा सकता हो । जिनकी 'स्फुटा' ग्रन्थि जाग्रत् है, वे कभी भी अभावग्रस्त नहीं रह सकते, उनकी हर उचित आवश्यकता समय पर पूरी हो जाती है ।

'देवदत्त' सूक्ष्म प्राण आध्यात्मिकता और सम्पदाओं का स्वामी है । अष्ट सिद्धियाँ, नव निधियाँ देवदत्त से सम्बन्धित हैं । शाप-वरदान, दूर-श्रवण, अणिमा, महिमा, लघिमा आदि चमत्कारों का केन्द्र यही है ।

अमीर, सम्पन्न, बड़े आदमी, व्यापारी, धनी, लक्ष्मीपति बनना, वैसे घर में जन्म पाना वैसी आकस्मिक सहायतायें प्राप्त होना, वैसे अवसर, सुझाव या मित्र मिल जाना उदान-प्राण के शक्तिशाली होने पर निर्भर है । जब यह प्राण निर्बल हो जाता है, तो लक्ष्मी विदा होते देर नहीं लगती । ऐसे गलत कदम उठ जाते हैं, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण घाटे पर घाटा होने लगता है, चोट पर चोट लगती है और मनुष्य कुछ ही दिनों में निर्धन एवं दीन-हीन बन जाता है ।

जब तक स्फुटा जाग्रत् रहती है, तब तक बड़ी-बड़ी हानि होने पर भी स्थायी रूप से दरिद्रता नहीं आ सकती । कारण यह है कि स्फुटा में उदान प्राण के सम्पर्क से एक ऐसी चैतन्य स्फुरणा उत्पन्न होती है, जो अदृश्य लोक में छिपे हुए भविष्य का परिचय पाती रहती है । उसे अज्ञात रूप से अनायास ही ऐसा आभास होता रहता है कि यह करना ठीक है और यह करन अनिष्टकारक होगा । एक अज्ञात शक्ति उसका पथ प्रदर्शन करती सी मालूम होती है । वह खतरों से बचाती है, आगे बढ़ने का मार्ग बताती है और कठिन परिस्थितियों में सहारा देती है, जिससे कि डूबता हुआ बेड़ा पार हो जाता है । उदान द्वारा चैतन्य 'स्फुटा' को शरीर-वासिनी लक्ष्मी कहा जाता है ।

जिसका कण्ठ-कूप का 'देवदत्त' प्रबुद्ध होता है, ऐसा पुरुष महा चमत्कारी, परम सिद्ध पुरुष बन जाता है । वह चाहे तो प्राण बल से अद्‌भुत उथल-पुथल उत्पन्न कर सकता है ।

'व्यान' का स्थान मस्तिष्क का मध्य भाग है । यह चार अन्य प्राणों का नियन्त्रण करता है । दोनों कानों के

बीच एक रेखा खींची जाए और दूसरी रेखा भ्रूमध्य भाग से लेकर सिर के पीछे तक खींची जाए, तो दोनों जहाँ मिलेंगी, वह स्थान त्रिकुटी कहा जायेगा। यही 'ध्यान' का स्थान माना जाता है। इसका सहायक 'धनञ्जय' है। व्यान को कृष्ण, धनञ्जय को अर्जुन कहते हैं। इसी त्रिकुटी में, युद्धस्थली के मध्य भाग में कृष्णार्जुन सम्वाद रूपी गीता का आविर्भाव होता है। मध्य मस्तक में शतदल कमल में अवस्थित जिस अमृतकलश का योगशास्त्रों में वर्णन है, उसे व्यान और धनञ्जय का प्रसाद ही समझना चाहिये।

'व्यान' के प्रबुद्ध होने से ऋतम्भरा प्रज्ञा मिलती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा उस उच्च विचारधारा को कहते हैं, जो जीव को आत्मकल्याण की ओर ले जाती है। सत्कर्म, शुभ-संकल्प, सद्वृत्ति आदि दैवी गुण, कर्म, स्वभावों का प्रकाश व्यान द्वारा ही होता है। आत्म-साक्षात्कार, ईश्वर-दर्शन, ब्रह्म-प्राप्ति, दिव्य-दृष्टि एवं समाधि का केन्द्र व्यान है। व्यान को गरुड़ कहा गया है। भगवान् का वाहन गरुड़ है। जिसका व्यान जाग्रत् हो गया उसके मानस में परमात्मा का प्रत्यक्ष विकास परिलक्षित होने लगता है।

मस्तिष्क में अनेक शक्तियाँ हैं, जिनके कारण मनुष्य अपनी सर्वोपरि प्रधानता सिद्ध करता है। संसार में ऐसे कितने ही महापुरुष हुए हैं, जिनकी अद्भुत मानसिक योग्यता एवं प्रतिभा ने लोगों को हैरत में डाल दिया है। यह धनञ्जय प्राण के विकास का चमत्कार है। मस्तिष्क में अनेक शक्तियों का निवास है। व्यवस्था-शक्ति, ग्रहण-शक्ति, निर्णय-शक्ति, रचना-शक्ति, आमोद-शक्ति, उपक्रान्ति-शक्ति, अनुवर्तन-शक्ति आदि अगणित शक्तियाँ मस्तिष्क में भरी पड़ी हैं।

सभी प्रकार की भली-बुरी, तुच्छ- महान् शक्तियों का भण्डार, मस्तिष्क है। इस आधार पर सुव्यवस्था एवं अव्यवस्था का आधार धनञ्जय प्राण है। यदि उसमें कुछ गड़बड़ी हो, तो मनुष्य में अनेक मानसिक त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे लोग मूर्ख, मन्दबुद्धि, चिंतित, दुःखी एवं उलझनों में उलझे रहते हैं। किसी व्यक्ति का पूर्ण मस्तिष्कीय विकास तभी हो सकता है, जब उसका 'व्यान' ठीक हो और उसका मन्त्री 'धनञ्जय' जाग्रत् होकर काम करे।

दस प्राणों को सुषुप्त दशा से उठाकर जाग्रत् करने, उसमें उत्पन्न हुई कुप्रवृत्तियों का निवारण करने, प्राण शक्ति पर परिपूर्ण अधिकार करने एवं इस महाशक्ति द्वारा सांसारिक एवं आत्मिक जीवन को सुसम्पन्न बनाने के लिये 'प्राणविद्या' का जानना आवश्यक है। जो इस विद्या को जानता है, उसको प्राण सम्बन्धी न्यूनता एवं विकृति के कारण उत्पन्न होने वाली, कठिनाइयाँ दुःख नहीं देतीं।

प्राण विद्या को ही हठयोग भी कहते हैं। हठयोग के अन्तर्गत प्राण परिपाक के लिये (१) बन्ध (२) मुद्रा और (३) प्राणायाम के साधन बताये गये हैं। तीन बन्ध और नौ प्राणायामों का वर्णन नीचे दिया जाता है।

तीन बन्ध

मूलबन्ध- प्राणायाम करते समय गुदा के छिद्रों को सिकोड़कर ऊपर की ओर खींचे रखना मूल-बन्ध कहलाता है। गुदा को संकुचित करने से 'अपान' स्थिर रहता है। वीर्य का अधः प्रभाव रुककर स्थिरता आती है। प्राण की अधोगति रुककर ऊर्ध्वगति होती है। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में मूल-बन्ध से चैतन्यता उत्पन्न होती है। आँतें बलवान् होती हैं, मलावरोध नहीं होता, रक्त संचार की गति ठीक रहती है। अपान और कूर्म दोनों पर ही मूलबन्ध का प्रभाव पड़ता है। वे जिन तन्तुओं में बिखरे हुए फैले रहते हैं, उनका संकुचन होने से यह बिखरापन एक केन्द्र में एकत्रित होने लगता है।

जालन्धर बन्ध- मस्तक को झुकाकर टोड़ी को कण्ठ-कूप (कण्ठ में पसलियों के जोड़ पर जो गड्ढा है, उसे कण्ठ-कूप कहते हैं) में लगाने को जालन्धर बन्ध कहते हैं। जालन्धर बन्ध से श्वास-प्रश्वास क्रिया पर अधिकार होता है। ज्ञान-तन्तु बलवान् होते हैं। हठयोग में बताया गया है कि इस बन्ध का सोलह स्थान की नाड़ियों पर प्रभाव पड़ता है।१-पादांगुष्ठ, २- गुल्फ, ३- घुटने, ४- जंघा, ५- सीवनी, ६- लिंग, ७- नाभि, ८- हृदय, ९- ग्रीवा,

१०- कण्ठ, ११- लम्बिका, १२- नासिका, १३- भ्रू, १४- कपाल, १५- मूर्धा और १६- ब्रह्मरंध्र, यह सोलह स्थान जालन्धर बन्ध के प्रभाव क्षेत्र हैं, विशुद्धि चक्र के जागरण में जालन्धर बन्ध से बड़ी सहायता मिलती है ।

उड्डियान बन्ध- पेट में स्थित आँतों को पीठ की ओर खींचने की क्रिया को उड्डियान बन्ध कहते हैं । पेट को ऊपर की ओर जितना खींचा जा सके उतना खींचकर उसे पीछे की ओर पीठ में चिपका देने का प्रयत्न इस बन्ध में किया जाता है । इसे मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाला कहा गया है ।

जीवनी शक्ति को बढ़ाकर दीर्घायु तक जीवन स्थिर रखने का लाभ उड्डियान से मिलता है । आँतों की निष्क्रियता दूर होती है । अन्त्र पुच्छ, जलोदर, पाण्डु, यकृत वृद्धि, बहु मूत्र सरीखे उदर तथा मूत्राशय के रोगों में इस बन्ध में बड़ा लाभ होता है । नाभि स्थित 'समान' और 'कृकल' प्राणों में स्थिरता तथा वात, पित्त, कफ की शुद्धि होती है । सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है और स्वाधिष्ठान चक्र में चेतना आने से वह स्वल्प श्रम से ही जाग्रत् होने योग्य हो जाता है ।

सात मुद्रायें

महामुद्रा- बायें पैर की एड़ी को गुदा तक मूत्रेन्द्रिय के बीच सीवन भाग में लगाएँ और दाहिना पैर लम्बा कर दीजिये । लम्बे किये हुए पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़े रहिये । शिर को घुटने से लगाने का प्रयत्न कीजिये । नासिका के बायें छिद्र से साँस पूरक खींचकर कुछ देर कुम्भक करते हुए दाहिने छिद्र से रेचक प्राणायाम कीजिये । आरम्भ में पाँच प्राणायाम बायीं मुद्रा से करने चाहिये, फिर दायें पैर को सिकोड़कर गुदा भाग से लगाये और बायें पैर को फैलाकर दोनों हाथों से उसका अँगूठा पकड़ने की क्रिया करनी चाहिये । इस दशा में दायें नथुने से पूरक और बायें से रेचक करना चाहिये । जितनी देर बायें भाग से यह मुद्रा की थी, उतनी ही देर दायें भाग से करनी चाहिये ।

इस महा-मुद्रा से कपिल मुनि ने सिद्धि प्राप्त की थी । इससे अहंकार, अविद्या, भय, द्वेष, मोह आदि के पंच क्लेशदायक विकारों का शमन होता है । भगन्दर, बवासीर, संग्रहिणी, प्रमेह आदि रोग दूर होते हैं । शरीर का तेज बढ़ता है और वृद्धावस्था दूर हटती जाती है ।

खेचरी मुद्रा- जीभ को उलटी करके उसे उलटना और तालू के गड्ढे में जिह्वा का अग्र भाग लगा देने को खेचरी-मुद्रा कहते हैं । तालू के गड्ढे वाले भाग में एक पोला स्थान है, जिसमें आगे चलकर मांस की एक सूँड़ सी लटकती है, उसे कपिल कुहर भी कहते हैं । यही स्थान जिह्वा के अग्रभाग को लगाने का होता है ।

प्राचीनकाल में जिह्वा को लम्बी करने के लिये कुछ ऐसे उपाय काम में लाये जाते थे, जो वर्तमान परिस्थिति में आवश्यक नहीं हैं । १- जिह्वा को इस तरह दुहना जैसे पशु के थन को दुहते हैं, २- जिह्वा को शहद, कालीमिर्च आदि से सहलाते हुए आगे की ओर सूँतना या खींचना । ३- जीभ के नीचे नाड़ी तन्तुओं को काट देना, ४- लोहे की शलाका में दबा-दबा कर जीभ बढ़ाना । यह क्रिया देश, काल, ज्ञान की वर्तमान स्थिति के अनुरूप नहीं है । जैसे अब प्राचीनकाल की भाँति हजारों वर्ष तक निराहार तप कोई नहीं कर सकता, वैसे ही खेचरी मुद्रा के लिये जिह्वा बढ़ाने के कष्टसाध्य उपाय भी अब असामयिक हैं ।

काली मिर्च और शहद की जिह्वा पर हल्की मालिश कर देने से वहाँ के तन्तुओं में उत्तेजना आ जाती है और उसे पीछे की ओर लौटने में सहायता मिलती है । इस रीति से जिह्वा के अग्रभाग को तालू गह्वर में लगाने का प्रयत्न करना चाहिये । जिह्वा धीरे-धीरे चलती रहे, जिसमें तालू गह्वर की हलकी मालिश होती रहे । दृष्टि भ्रूमध्य भाग में रखनी चाहिये ।

खेचरी मुद्रा से कपाल गह्वर में होकर प्राण-शक्ति का संचार होने लगता है और सहस्रदल कमल में अवस्थित अमृत निर्झर झरने लगता है, जिसके आस्वादन से एक बड़ा ही दिव्य आनन्द आता है । प्राण की ऊर्ध्वगति हो जाने से मृत्यु काल में जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर ही प्रयाण करता है, इसलिये उसे मुक्ति या सद्गति प्राप्त होती है । गुदा आदि अधोमार्गों से जिनका प्राण निकलता है, वह नरकगामी तथा मुख, नाक, कान से प्राण छोड़ने वाला

मृत्युलोक में भ्रमण करता है; किन्तु जिसका जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर जायेगा वह अवश्य ही सद्गति को प्राप्त करेगा। खेचरी मुद्रा द्वारा ब्रह्माण्ड स्थित शेषशायी सहस्रदल निवासी परमात्मा से साक्षात्कार होता है। यह मुद्रा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है।

विपरीतकरणी मुद्रा- मस्तक को जमीन पर रखकर दोनों हाथों को उसके समीप रखना और पैरों को सीधे ऊपर की ओर उल्टे करना, इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। शीर्षासन भी इसी का नाम है। शिर का नीचा और पैर का ऊपर होना इसका प्रधान लक्षण है।

तालू के मूल से चन्द्र नाड़ी और नाभि के मूल से सूर्य नाड़ी निकलती है। इन दोनों के उद्गम स्थान विपरीत-करणी मुद्रा द्वारा सम्बन्धित हो जाते हैं। ऋण-प्राण और धन-प्राण का इस मुद्रा द्वारा एकीकरण होता है। जिससे मस्तिष्क को बल मिलता है।

योनिमुद्रा- इसे षड्मुखी भी कहते हैं। पद्मासन पर बैठकर दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कान, दोनों हाथ की तर्जनियों से दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों कानों के छिद्र और दोनों अनामिकाओं से मुँह बन्द कर देना चाहिये। होठों को कौए की चोंच की तरह बाहर निकाल कर धीरे-धीरे साँसें खींचते हुए उसे गुदा तक ले जाना चाहिये। फिर उल्टे क्रम से धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिये। योनिमुद्रा की यह साधना योग सिद्धि में बड़ी सहायक सिद्ध होती है।

शाम्भवी मुद्रा- आसन लगाकर दोनों भौहों के बीच में दृष्टि को जमाकर भ्रकुटी में ध्यान करने को शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। कहीं-कहीं अधखुले नेत्र और ऊपर चढ़ी हुई पुतलियों से जो शान्त चित्त ध्यान किया जाता है, उसे भी शाम्भवी मुद्रा कहा है। भगवान् शम्भू के द्वारा साधित होने के कारण इन साधनाओं का नाम शाम्भवी मुद्रा पड़ा है।

अगोचरी मुद्रा- मन को रोककर नासिका के अग्रभाग पर मन को रोकना।

भूचरी मुद्रा- नासिका से चार अँगुल आगे के शून्य स्थान पर दोनों की दृष्टि नेत्रों को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना।

इसके अतिरिक्त नभोमुद्रा, महा-बन्ध शक्तिचालिनी मुद्रा, ताड़गी, माण्डवी अधोधारण, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी, नभोधारणा, अश्वनी, पाशनी, काकी, मातंगी, भुंजगिनी आदि २५ मुद्राओं का घेरण्ड-संहिता में सविस्तार वर्णन है। यह सभी अनेक प्रयोजनों के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। प्राणमय कोश के अनावरण में जिन मुद्राओं का प्रमुख कार्य है, उन सात का वर्णन ऊपर कर दिया है। अब ९६ प्राणायामों में से प्रधान ९ प्राणायामों का उल्लेख नीचे करते हैं।

नौ प्राणायाम

(१) लोम-विलोम प्राणायाम- सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिकासन पर मूल-बन्ध लगाकर बैठें। मेरुदण्ड को सीधा रखें। भीतर भरी हुई साँस बाहर निकाल दें। अब नासिका से साँस खींचिये और जालन्धर-बन्ध लगाकर उड्डियान बन्ध लगाकर दाहिने नथुने से धीरे-धीरे वायु निकाल दीजिये। फिर एक सेकेण्ड बिना वायु के रहिये, तत्पश्चात् दाहिने नथुने से साँस खींचिये, फिर कुछ देर तक भीतर साँस रोक कर बायें नथुने से उसे बाहर निकाल दीजिये। इस प्रकार दो प्राणायाम हो जाते हैं।

पुन: एक सेकेण्ड बाह्य-कुम्भक करके पहले की भाँति दुहराना चाहिये। इस प्रकार आरम्भ में १० प्राणायाम करने चाहिये और प्रति दिन एक-एक बढ़ाते हुए अन्त में उन्हें ४० तक पहुँचा देना चाहिए। दाहिने नथुने से रेचक या पूरक करना हो, साँस छोड़ना या खींचना हो तो हाथ की अनामिका और कनिष्ठा उँगलियों से बायें नथुने को बन्द कर लें। इसी प्रकार जब बायें नथुने से वायु ग्रहण करनी या छोड़नी हो, तो दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिने नथुने को बन्द करें।

(२) सूर्य-भेदन प्राणायाम- दाहिने नथुने से वायु खींचिए, यथाशक्ति कुम्भक कीजिये और बायें नथुने से बाहर निकाल दीजिये । इस प्रकार इस क्रिया को बार-बार करें । यही सूर्य- भेदन प्राणायाम है । अनुलोम, विलोम, प्राणायाम में नथुनों से पूरक और रेचक होता है, परन्तु इसमें एक ही नथुने से (दाहिने में पूरक और बायें से रेचक) होता है ।

इस प्राणायाम से शरीर में उष्णता बढ़ती है, इसलिये यह शीत प्रकृति वालों के लिये अथवा शीत ऋतु में विशेष उपयोगी सिद्ध होता है ।

(३) उज्जायी प्राणायाम- सिर को कुछ झुका लें । कण्ठ से वायु खींचने का घर्षण शब्द करते हुए बायें से पूरक करें । चार-पाँच सेकेण्ड कुम्भक करें । इसके पश्चात् बायें नथुने से वायु बाहर निकाल दें । इस प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों ही थोड़ी मात्रा में होते हैं । इसमें बन्धों का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है । चलते-फिरते, उठते-बैठते या सोते हुए यह उज्जायी प्राणायाम आसानी से किया जा सकता है । रोगी लोग शय्या पर पड़े-पड़े इसे कर सकते हैं । पेट के रोगों के लिए यह उपयोगी है । इससे भी उष्णता बढ़ती है ।

(४) शीतकारी प्राणायाम- दोनों नथुने बन्द करके जिह्वा और होंठों द्वारा वायु खींचें । यथाशक्ति रोके रहें और फिर धीरे-धीरे दोनों नथुनों से वायु को बाहर निकाल दें ।

दाँतों के बीच जिह्वा को बाहर ओंठों तक निकालकर ओंठों को फुलाकर मुख के बीच सीत्कार करते हुए श्वास खींचने की क्रिया प्रधान होने के कारण इसे शीतकारी प्राणायाम कहते हैं । इस प्राणायाम में जिह्वा के सहारे वायु भीतर प्रवेश करती है । यह प्राणायाम शीतल है इसलिये उष्ण प्रकृति वालों के लिये अथवा ग्रीष्म ऋतु में यह विशेष उपयोगी है । यह शरीर को निर्विष बनाता है । कहते हैं काकभुशुण्डि जी ने इसी विधि से प्राणायाम में सिद्धि प्राप्त की थी ।

(५) शीतली प्राणायाम- दोनों नथुने बन्द कर दीजिये । ओंठों को कौए की चोंच की तरह बनाकर जिह्वा को उनमें से थोड़ा बाहर निकाल दीजिये । फिर मुख द्वारा धीरे-धीरे वायु भीतर खींचिये । यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल दीजिये, यह शीतली प्राणायाम कहलाता है । यह भी शीतल प्रकृति का है । रूप लावण्य में वृद्धि करता है ।

(६) भस्त्रिका प्राणायाम- पद्मासन लगाकर बाँयीं नासिका से वेगपूर्वक जल्दी-जल्दी दस बार लगातार पूरक रेचक कीजिये । कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं है । फिर ग्यारहवीं बार उसी नासिका से लम्बा पूरक कीजिये, यथाशक्ति कुम्भक करने के उपरान्त दाहिने नथुने से धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल दीजिये । फिर इसी क्रिया को दाहिने-नथुने से दुहराइये । यह भस्त्रिका प्राणायाम है । आरम्भ में इसे पाँच-पाँच बार से अधिक नहीं करना चाहिये ।

यह सम-शीतोष्ण है । ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्र ग्रन्थि तीनों का यह भेदन करता है । इसके द्वारा सुषुम्ना में से प्राण-तत्त्व की विहंगम गति ऊर्ध्व-प्रदेश की ओर बढ़ती है । इसी से अग्नितत्त्व प्रदीप्त होता है । इसे आरम्भ में अधिक संख्या में या अधिक वेग से नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करने से फुफ्फुस कोश पर आघात पहुँचने का भय रहता है ।

(७) भ्रामरी प्राणायाम- पद्मासन लगाकर नेत्र बन्द करके बैठिये । भ्रकुटि के मध्य भाग में ध्यान कीजिये । जालन्धर-बन्ध लगाइये । फिर नाक द्वारा भ्रमर नाद के समान गुञ्जन स्वर करते हुए पूरक कीजिये । पश्चात् तीन सेकेण्ड कुम्भक करके धीरे-धीरे भ्रमर गुञ्जन ध्वनि के साथ रेचक कीजिये । यही भ्रामरी प्राणायाम है ।

कोई योगी दोनों नासापुटों से वायु खींचने और छोड़ने के पक्ष में हैं और कोई लोम, विलोम प्राणायाम की भाँति दाहिने-बायें नथुनों से इसे करने को अच्छा बताते हैं ।

कुम्भक की अवस्था में रुकी हुई वायु को मस्तिष्क में बायीं ओर से दाहिनी ओर लगातार कई बार घुमाकर तब रेचक करते हैं । इस वायु को भ्रमण कराने की क्रिया के कारण तथा भ्रमण-नाद जैसी ध्वनि होने के कारण इस प्राणायाम का नाम भ्रामरी रखा गया है । यह मन की एकाग्रता एवं प्राण की स्थिरता के लिये लाभदायक है ।

(८) **मूर्छा प्राणायाम-** दोनों हाथों के अँगूठे दोनों कानों में, दोनों तर्जनी दोनों आँखों पर, दोनों मध्यमा नासिका पुटों पर और अनामिकायें तथा कनिष्ठायें मुख पर रखकर मूलबन्ध तथा जालन्धर बन्ध का आरंभ से अन्त तक स्थिर रख करके बाँयें नथुने से पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिने नथुने से रेचक करें। यह मूर्छा प्राणायाम हुआ।

इस प्राणायाम में रेचक करते समय बन्द नेत्रों से भ्रूमध्य भागों में ध्यान करने पर पञ्च तत्त्वों के रंग दिखाई पड़ते हैं। शरीर में जो तत्त्व अधिक होगा, उसी का रंग अधिक दृष्टिगोचर होगा। पृथ्वी का रंग पीला, जल का सफेद, अग्नि का लाल, वायु का हरा और आकाश का नीला होता है। इन तत्त्वों का शोधन करने से नादानुसंधान तथा समाधि में सुविधा रहती है।

(९) **प्लाविनि प्राणायाम-** पद्मासन से बैठिए, दोनों भुजाओं को ऊपर की ओर लम्बी तथा सीधी रखिए, अब दोनों नथुनों से पूरक कीजिये और सीधा लेट जाइए। लेटते समय दोनों हाथों को समेट कर तकिए की तरह सिर के नीचे लगा लीजिए, कुम्भक कीजिये और जब तक कुम्भक रहे, तब तक भावना कीजिए कि मेरी देह रुई के समान हल्की है। फिर बैठकर पूर्व स्थिति में आ जाइए और धीरे-धीरे दोनों नथुनों से वायु को बाहर निकाल दीजिए, यह प्लाविनि प्राणायाम है। इनसे ऋद्धियों और सिद्धियों का मार्ग प्रशस्त होता है।

किस प्राणायाम को किस मात्रा, किस प्रयोजन के लिए, किस प्रकार जाग्रत् किया जाय ? इसका निर्णय करना इतना सुगम नहीं है कि उसे एक साँस में बताया जा सके। कारण यह है कि साधक की आन्तरिक स्थिति, सांसारिक परिस्थिति, शरीर का गठन, आयु, मनोभूमि, संस्कार आदि के आधार पर ही विचार किया जा सकता है कि उनके लिए वर्तमान स्थिति में किस प्रकार की साधना उपयोगी एवं आवश्यक है।

प्राणायाम कोश की सुव्यवस्था करने के लिए साधारणत: बन्ध-मुद्रा तथा प्राणायाम की क्रियायें ही प्रयुक्त होती हैं। इन्हीं में हेर-फेर करके दस प्राणों का उन्नायक विधान बनाया जाता है। फिर भी कई बार ऐसे अवसर प्राप्त होते हैं, जिनमें इन साधनों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती और प्राण-विद्या की सांगोपांग सफलता मिल जाती है।

गायत्री का द्वितीय मुख प्राणमय कोश है। इसको अनुकूल बना लेना ही वेदमाता को प्रसन्न करके उनके दूसरे मुख से आशीर्वाद प्राप्त कर लेना है। प्राणमय को शुद्ध एवं प्रशुद्ध करना यानी एक प्रकार से गायत्री माता की प्राणमयी उपासना है। इसे ही आत्मोन्नति की द्वितीय भूमिका कहा जाता है।

मनोमय कोश

पंचकोशों में तीसरा 'मनोमय कोश' है। इसे गायत्री का तृतीय मुख भी कहा गया है। मन बड़ा चंचल और वासनामय है। यह सुख प्राप्ति की अनेक कल्पनाएँ किया करता है। कल्पनाओं के ऐसे रंग-बिरंगे चित्र तैयार करता है कि उन्हें देखकर बुद्धि भ्रमित हो जाती है और मनुष्य ऐसे कार्यों को अपना लेता है, जो उसके लिए अनावश्यक एवं हानिकारक होते हैं तथा जिनके लिए उसको पीछे पश्चात्ताप करना पड़ता है। अच्छे और प्रशंसनीय कार्य भी मन की कल्पना पर अवलम्बित हैं। मनुष्य को नारकीय एवं घृणित पतितावस्था तक पहुँचा देना अथवा उसे मानव-भूसुर बना देना मन का ही खेल है।

'मन' में प्रचण्ड प्रेरक शक्ति है। इस प्रेरक शक्ति से अपने कल्पना चित्रों को वह ऐसा सजीव कर देता है कि मनुष्य बालक की तरह उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ने लगता है। रंग-बिरंगी तितलियों के पीछे जैसे बच्चे दौड़ते-फिरते हैं, तितलियाँ जिधर जाती हैं, उधर ही उन्हें भी जाना पड़ता है, इस प्रकार मन में जैसी कल्पनाएँ, इच्छाएँ, वासनाएँ, तृष्णाएँ उठती हैं उसी ओर शरीर चल पड़ता है।

चूँकि सुख की आकांक्षा ही मन के अन्तराल में प्रधान रूप से काम करती है, इसलिए वह जिस बात में, जिस-जिस दिशा में सुख प्राप्ति की कल्पना कर सकता है, उसी के अनुसार एक सुन्दर मनमोहक रंग-बिरंगी

योजना तैयार कर देता है, मस्तिष्क उसी ओर लपकता है । शरीर उसी दिशा में काम करता है; परन्तु साथ ही मन की चंचलता भी प्रसिद्ध है, इसलिए वह नई कल्पनाएँ करने में पीछे नहीं रहता । कल की योजना पूरी नहीं हो पाई थी कि उसमें भी एक नई और तैयार हो गई । पहली छोड़कर नई में प्रवृत्ति हुई । फिर वही क्रम आगे भी चला । उसे छोड़कर और नया आयोजन किया ।

इस प्रकार अनेक अधूरी योजनाएँ पीछे छूटती जाती हैं और नई बनती जाती हैं । 'अनियन्त्रित' मन का यह कार्यक्रम है । वह मृग तृष्णाओं में मनुष्य को भटकाता है और असफलताओं की, अधूरे कार्यक्रमों की अगणित ढेरियाँ लगाकर जीवन को मरघट जैसा कर्कश बना देता है ।

वर्तमान युग में यह दोष और अधिक बढ़ गया है । इस समय मनुष्य भौतिकता के पीछे पागल हो रहा है । आत्म-कल्याण की बात को सर्वथा भूलकर वह कृत्रिम सुख-सुविधाओं के लिए लालायित हो रहा है और जिनके पास ऐसे साधन जितने अधिक होते हैं, उसे उतना ही भाग्यवान् समझने लगता है । जो संयोगवश अथवा शक्ति के अभाव के कारण उन 'सुख-साधनों' से वंचित रह जाता है, वे अपने को परम अभागा, दीन-हीन अनुभव करते हैं । उनका मन सदैव घोर उद्विग्न रहता है और अतृप्त लालसाओं के कारण भी शान्ति का अनुभव करने में असमर्थ रहते हैं ।

गीता में कहा गया है कि 'मन ही मनुष्य का शत्रु और मन ही मित्र है, बन्धन और मोक्ष का कारण भी यही है ।' वश में किया हुआ मन अमृत के समान और अनियंत्रित मन को हलाहल विष जैसा अहितकर बताया गया है । कारण यह है कि मन के ऊपर जब कोई नियंत्रण या अनुशासन नहीं होता, तो वह सबसे पहले इन्द्रिय भोगों में सुख खोजने के लिए दौड़ता है ।

जीभ से तरह-तरह के स्वाद चाटने की ललक उसे सताती है । रूप यौवन के क्षेत्र में काम-किलोल करने के लिए इन्द्र के परिस्तान को कल्पना जगत् में ला खड़ा करता है, नृत्य, गीत, वाद्य, मनोरंजन, सैर-सपाटा, मनोहर दृश्य, सुवासित पदार्थ उसे लुभाते हैं और उनके निकट अधिक से अधिक समय बिताना चाहता है । सरकस, थियेटर, सिनेमा, क्लब, खेल आदि के मनोरंजन, क्रीड़ास्थल उसे रुचिकर लगते हैं । शरीर को सजाने या आराम देने के लिए बहुमूल्य वस्त्राभूषण, उपचार, मोटर-विमान आदि सवारियाँ, कोमल पलंग, पंखे आदि की व्यवस्था आवश्यक प्रतीत होती है । इन सब भोगों को भोगने एवं वाहवाही लूटने, अहंकार की पूर्ति करने, बड़े बनने का शौक पूरा करने के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है । उसके लिए अर्थ संग्रह की योजना बनाना मन का प्रधान काम हो जाता है ।

असंस्कृत, छुट्टल मन प्राय: इन्द्रिय भोग, अहंकार की तृप्ति और धन संचय के तीन क्षेत्र में ही सुख ढूँढ़ पाता है । उसके ऊपर कोई अंकुश न होने से वह उचित-अनुचित का विचार नहीं करता और 'जैसे बने वैसे करने' की नीति अपनाकर जीवन की गतिविधि को कुमार्गगामी बना देता है । मन की दौड़ स्वच्छन्द होने पर बुद्धि का अंकुश भी नहीं रहता । फलस्वरूप एक योजना छोड़ने, दूसरी अपनाने में योजना के गुण-दोष ढूँढ़ने की बाधा नहीं रहती ।

पाशविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए अव्यवस्थित कार्यक्रम बनाते-बिगाड़ते रहना और इस अव्यवस्था के कारण जो उलझनें उत्पन्न होती हैं, उनमें भटकते हुए ठोकर खाते रहना साधारणत: यही एक कार्यप्रणाली सभी स्वच्छन्द मन वालों की होती है । इसकी प्रतिक्रिया जीवनभर क्लेश, असफलता, पाप, अनीति, निन्दा और दुर्गति होना ही हो सकता है ।

मन का वश में होने में अर्थ है उसका बुद्धि के, विवेक के नियंत्रण में होना । बुद्धि जिस बात में औचित्य अनुभव करे, कल्याण देखे, आत्मा का हित, लाभ-स्वार्थ समझे, उसके अनुरूप कल्पना करने, योजना बनाने, प्रेरणा देने का काम करने को मन तैयार हो जाय तो समझना चाहिए कि मन वश में हो गया है । क्षण-क्षण में अनावश्यक दौड़ लगाना, निरर्थक स्मृतियों और कल्पनाओं में भ्रमण करना अनियन्त्रित मन का काम है । जब वह वश में हो जाता है तो जिस एक काम पर लगा दिया जाए, उसमें लग जाता है ।

मन की एकाग्रता एवं तन्मयता में इतनी प्रचण्ड शक्ति है कि उस शक्ति की तुलना संसार की और किसी

शक्ति से नहीं हो सकती, जितने भी विद्वान्, लेखक, कवि, वैज्ञानिक, अन्वेषक, नेता, महापुरुष अब तक हुए हैं, उन्होंने मन की एकाग्रता से ही काम किया है ।

सूर्य की किरणें चारों ओर बिखरी पड़ी रहती हैं, तो उनका कोई विशेष उपयोग नहीं होता, पर जब आतिसी शीशे द्वारा उन किरणों को एकत्रित कर दिया जाता है, तो जरा से स्थान की धूप से अग्नि जल उठती है और उस जलती हुई अग्नि से भयंकर दावानल लग सकता है । जैसे दो इन्च क्षेत्र में फैली हुई धूप का केन्द्रीकरण भयंकर दावानल के रूप में प्रकट हो सकता है, वैसे ही मन की बिखरी हुई कल्पना, आकांक्षा और प्रेरणा शक्ति भी जब एक केन्द्र- बिन्दु पर एकाग्र होती हैं, तो उसके फलितार्थों की कल्पना मात्र से आश्चर्य होता है ।

पतञ्जलि ऋषि ने 'योग' की परिभाषा करते हुए कहा कि **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'** अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना, रोककर एकाग्र करना ही योग है । योग साधना का विशाल कर्मकाण्ड इसलिए है कि चित्त वृत्तियाँ एक बिन्दु पर केन्द्रित होने लगें तथा आत्मा के आदेशानुसार उनकी गतिविधि हो । इस कार्य में सफलता मिलते ही आत्मा अपने पिता परमात्मा में सन्निहित समस्त ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी बन जाता है । वश में किया हुआ मन ऐसा शक्तिशाली अस्त्र है कि उसे जिस ओर भी प्रयुक्त किया जायेगा, उसी ओर आश्चर्यजनक चमत्कार उपस्थित हो जायेंगे । संसार के किसी कार्य में प्रतिभा, यश, विद्या, स्वास्थ्य, भोग, अन्वेषण आदि जो भी वस्तु अभीष्ट होगी, वह वशवर्ती मन के प्रयोग से निश्चित ही प्राप्त होकर रहेगी । उसकी प्राप्ति में संसार की कोई शक्ति बाधक नहीं हो सकती ।

सांसारिक उद्देश्य ही नहीं, वरन् उससे पारमार्थिक आकांक्षाएँ भी पूरी होती हैं । समाधि सुख भी 'मनोबल' का एक चमत्कार है । एकाग्र मन से की हुई उपासना से इष्टदेव का सिंहासन हिल जाता है और उसे गज के लिए गरुड़ को छोड़कर नंगे पैर भागने वाले भगवान् की तरह भागना पड़ता है । अधूरे मन की साधना, अधूरी और स्वल्प होने से न्यून फलदायक होती है, परन्तु एकाग्र वशवर्ती मन तो वह लाभ क्षणभर में प्राप्त कर लेता है, जो योगी लोगों को जन्म- जन्मांतरों की तपस्या से मिलता है । सदनकसाई, गणिका, गीध, अजामिल आदि असंख्य पापी जो जीवन भर दुष्कर्म करते रहे, क्षणभर के आर्त्तनाद से तर गये ।

मेस्मरेजम, हिप्नोटिज्म, परसनल मैग्नेटिज्म, मेण्टलथैरपी, आकल्ट साइन्स, मेण्टल हीलिंग, स्प्रिचुअलिज्म आदि के चमत्कारों की पाश्चात्य देशों में धूम है । तन्त्र क्रिया, मन्त्र क्रिया, प्राण विनिमय, सवारी विद्या, छाया-पुरुष, पिशाच सिद्धि, शव साधन, दृष्टि बन्ध, अभिचार, घात, चौकी, सर्प कीलन, जादू आदि चमत्कारी शक्तियों से भारतवासी भी चिर परिचित हैं । यह सब खेल- खिलौने एकाग्र मन की प्रचण्ड संकल्प शक्ति के छोटे-छोटे मनोविनोद मात्र हैं ।

संकल्प की अपूर्व शक्ति से हमारे पूजनीय पूर्वज परिचित थे, जिन्होंने अपने महान् आध्यात्मिक गुणों के कारण समस्त भूमण्डल में एक चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित किया था और जिन्हें जगद्गुरु कहकर सर्वत्र पूजा जाता था । उसकी संकल्प शक्ति ने भूलोक, स्वर्गलोक, पाताल लोक को पड़ौसी-मुहल्लों की तरह सम्बद्ध कर लिया था । उस शक्ति के थोड़े-थोड़े भौतिक चमत्कारों को लेकर अनेकों व्यक्तियों ने रावण जैसी उछल-कूद मचायी थी, परन्तु अधिकांश योगियों ने मन की एकाग्रता से उत्पन्न होने वाली प्रचण्ड शक्ति को परकल्याण में लगाया था ।

अर्जुन को पता था कि मन को वश में करने से कैसी अद्भुत सिद्धियाँ मिल सकती हैं । इसलिये उसने गीता में भगवान् कृष्ण से पूछा- "हे अच्युत ! मन को वश में करने की विधि मुझे बताइए, क्योंकि वह वायु को वश में करने के समान कठिन है । वश में किया हुआ मन भूलोक का कल्प-वृक्ष है । ऐसे महान् पदार्थ को प्राप्त करना कठिन होना भी चाहिए ।"

अर्जुन ने ठीक कहा है कि मन को वश में करना वायु को वश में करने के समान कठिन है । वायु को तो यंत्रों द्वारा किसी डिब्बे में बन्द भी किया जा सकता है, पर मन को वश में करने का तो कोई यन्त्र भी नहीं है ।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दो उपाय मन को वश में करने के बताये । (१) अभ्यास और (२) वैराग्य । अभ्यास का अर्थ है- वे योग साधनायें जो मन को रोकती हैं । वैराग्य का अर्थ है- व्यावहारिक जीवन को संयमशील

और व्यवस्थित बनाना । विषय-विकार, आलस्य-प्रमाद, दुर्व्यसन-दुराचार, लोलुपता, समय का दुरुपयोग, कार्यक्रम की अव्यवस्था आदि कारणों से सांसारिक अधोगति होती है और लोभ, क्रोध, तृष्णा आदि से मानसिक अध:पतन होता है ।

शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बुराइयों से बचते हुए सादा, सरल, आदर्शवादी, शान्तिमय जीवन बिताने की कला वैराग्य कहलाती है । कई आदमी घर छोड़कर भीख-टूक माँगते फिरना, विचित्र वेश बनाना, अव्यवस्थित कार्यक्रम से जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरना ही वैराग्य समझते हैं और ऐसा ही ऊटपटांग जीवन बनाकर पीछे परेशान होते हैं । वैराग्य का वास्तविक तात्पर्य है- राग से निवृत्त होना ।

बुरी भावनाओं और आदतों से बचने का अभ्यास करने के लिए ऐसे वातावरण में रहना पड़ता है, जहाँ उनसे बचने का अवसर हो । तैरने के लिए पानी का होना आवश्यक है । तैरने का प्रयोजन ही यह है कि पानी में डूबने के खतरे से बचने की योग्यता मिल जाए । पानी से दूर रहकर तैरना नहीं आ सकता । इसी प्रकार राग-द्वेष जहाँ उत्पन्न होता है, उस क्षेत्र में रहकर उन बुराइयों पर विजय प्राप्त करना ही वैराग्य की सफलता है ।

कोई व्यक्ति जंगल में एकान्तवासी रहे, तो नहीं कहा जा सकता कि वैराग्य हो गया; क्योंकि जंगल में वैराग्य की अपेक्षा ही नहीं होती । जब तक परीक्षा द्वारा यह नहीं जान लिया गया कि हमने राग उत्पन्न करने वाले अवसर होते हुए भी उस पर विजय प्राप्त कर ली, तब तक यह नहीं समझना चाहिए कि कोई एकान्तवासी वस्तुत: वैरागी ही है । प्रलोभनों को जीतना ही वैराग्य है और यह विजय वहीं हो सकती है, जहाँ वे बुराइयाँ मौजूद हों । इसलिए गृहस्थ में, सांसारिक जीवन में सुव्यवस्थित रहकर रागों पर विजय प्राप्त करने को वैराग्य कहना चाहिए ।

अभ्यास के लिए योगशास्त्रों में ऐसी कितनी ही साधनाओं का वर्णन है, जिनके द्वारा मन की चञ्चलता, घुड़दौड़, विषय लोलुपता और एषणा प्रवृत्ति को रोककर उसे ऋतम्भरा बुद्धि के, अन्तरात्मा के अधीन किया जा सकता है । इन साधनाओं को मनोलय योग कहते हैं । मनोलय के अन्तर्गत १- ध्यान, २- त्राटक, ३- जप, ४- तन्मात्रा साधन । यह चार साधन प्रधान रूप से आते हैं । इन चारों का मनोमय कोश की साधना में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

ध्यान

ध्यान वह मानसिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार किसी वस्तु की स्थापना अपने मन:क्षेत्र में की जाती है । मानसिक क्षेत्र में स्थापित की हुई वस्तु हमारे आकर्षण का प्रधान केन्द्र बनती है । उस आकर्षण की ओर मस्तिष्क की अधिकांश शक्तियाँ खिंच जाती हैं । फलस्वरूप एक स्थान पर उनका केन्द्रीकरण होने लगता है । चुम्बक पत्थर अपने चारों ओर बिखरे हुए लौहकणों को सब दिशाओं से खींचकर अपने पास जमा कर लेता है । इसी प्रकार ध्यान द्वारा मन सब ओर से खिंचकर एक केन्द्र बिन्दु पर एकाग्र होता है, बिखरी हुई चित्त-प्रवृत्तियाँ एक जगह सिमट जाती हैं ।

कोई आदर्श, लक्ष्य, इष्ट निर्धारित करके उसमें तन्मय होने को ध्यान कहते हैं । जैसा ध्यान किया जाता है मनुष्य वैसा ही बनने लगता है । साँचे में गीली मिट्टी को दबाने से वैसी आकृति बन जाती है, जैसी उस साँचे में होती है । कीट-भृंग का उदाहरण प्रसिद्ध है । झींगुर को भृंग पकड़ ले जाती है और उसके चारों ओर लगातार गुञ्जन करती है । झींगुर इस गुञ्जन को तन्मय होकर सुनता है और भृंग के रूप को, उसकी चेष्टाओं को एकाग्र भाव से निहारता रहता है । झींगुर का मन भृंगमय हो जाने से उसका शरीर भी उसी ढाँचे में ढलना आरम्भ हो जाता है । उसके रक्त, मांस, नस, नाड़ी, त्वचा आदि में मन के साथ ही परिवर्तन आरंभ हो जाता है और थोड़े समय में वह झींगुर मन से और शरीर से भी असली भृंग के समान बन जाता है । इसी प्रकार ध्यान शक्ति द्वारा साधक का सर्वांगपूर्ण कायाकल्प होता है ।

साधारण ध्यान से मनुष्य का शरीर परिवर्तन नहीं होता । इसके लिए विशेष रूप से गहन साधनाएँ करनी पड़ती हैं; परन्तु मानसिक कायाकल्प करने में हर मनुष्य ध्यान-साधना से भरपूर लाभ उठा सकता है । ऋषियों ने

इस बात पर जोर दिया है कि हर साधक को इष्टदेव चुन लेना चाहिए । इष्टदेव चुनने का अर्थ है- जीवन का प्रधान लक्ष्य निर्धारित करना । इष्टदेव उपासना का अर्थ है- उस लक्ष्य में अपनी मानसिक चेतना को तन्मय कर देना । इस प्रकार की तन्मयता का परिणाम यह होता है कि मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एक बिन्दु पर एकत्रित हो जाती हैं । एक स्थानीय एकाग्रता के कारण उसी दिशा में सभी मानसिक शक्तियाँ लग जाती हैं, फलस्वरूप साधक के गुण, स्वभाव, विचार, उपाय एवं काम अद्भुत गति से बढ़ते हैं, जो उसे अभीष्ट लक्ष्य तक सरलतापूर्वक स्वल्प काल में ही पहुँचा देते हैं । इसी को इष्ट सिद्धि कहते हैं ।

ध्यान साधना के लिए ही आदर्शों को, इष्टों को, दिव्य रूपधारी देवताओं के रूप में मानकर उनमें मानसिक तन्मयता स्थापित करने का यौगिक विधान है । प्रीति सजातियों में होती है । इसलिए लक्ष्य रूप इष्ट को दिव्य देहधारी देव मानकर उसमें तन्मय होने का गूढ़ एवं रहस्यमय मनोवैज्ञानिक आधार स्थापित करना पड़ा है । एक-एक अभिलाषा एवं आदर्श का एक-एक इष्टदेव है । जैसे बल की प्रतीक दुर्गा, धन की प्रतीक लक्ष्मी, बुद्धि की प्रतीक सरस्वती, धार्मिक सम्पदा की गायत्री एवं भौतिक विज्ञान की प्रतीक सावित्री मानी गई है । गौरी, पद्मा, शची, मेधा, सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, मातर, लोकमातर, धृति, तुष्टि, पुष्टि, आत्मदेवी यह षोडश मातृकाएँ प्रसिद्ध हैं । शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी, सिद्धिदात्री यह नव दुर्गाएँ अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण हैं ।

ऐसा भी हो सकता है कि एक ही इष्टदेव को आवश्यकतानुसार विभिन्न गुणों वाला मान लिया जाए । एक महाशक्ति की, विविध प्रयोजनों के लिए काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी-छिन्नमस्ता, त्रिपुर भैरवी, बगला, मातंगी, कमला, इन्द्राणी, वैष्णवी, ब्रह्माणी, कौमारी, नरसिंही, वाराही, माहेश्वरी, भैरवी आदि विविध रूपों में उपासना की जाती है । एक ही महागायत्री की ह्रीं, श्रीं, क्लीं (सरस्वती, लक्ष्मी, काली) के तीनों रूपों में आराधना होती है । फिर इन तीनों में अनेक भेद हो जाते हैं । जो साधक मातृशक्ति की अपेक्षा पितृशक्ति में अधिक रुचि रखते हैं, जिन्हें नारी-परक शक्ति तत्त्व की अपेक्षा पुरुषतत्त्व प्रधान (पुल्लिंग) दिव्य तत्त्व में विशेष मन लगता है, वे गणेश, नृसिंह, भैरव, शिव, विष्णु आदि इष्टों की उपासना करते हैं ।

यहाँ किसी को भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं । अनेक देवताओं का कोई स्वतन्त्र आधार नहीं है । ईश्वर एक है । उसकी अनेक शक्तियाँ ही अनेक देवों के नाम से पुकारी जाती हैं । मनुष्य अपनी इच्छा, रुचि और आवश्यकतानुसार उन ईश्वरीय शक्तियों को प्राप्त करने के लिए, अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपना इष्ट लक्ष्य चुनता है और उनमें तन्मय होते ही मनोवैज्ञानिक उपासना पद्धति द्वारा उन शक्तियों को अपने अन्दर प्रचुर परिमाण में धारण कर लेता है ।

ध्यान-योग साधना में मन की एकाग्रता के साथ-साथ लक्ष्य को, इष्ट को भी प्राप्त करके योगस्थिति उत्पन्न करने का दुहरा लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है । इसलिए इष्टदेव का मनःक्षेत्र में उसी प्रकार ध्यान करने का विधान किया गया है । ध्यान में पाँच अंग हैं । १-स्थिति, २- संस्थिति, ३- विगति, ४- प्रगति, ५- संस्मिति । इन पर कुछ प्रकाश डाला जाता है ।

स्थिति का तात्पर्य है- साधक की उपासना करते समय की स्थिति । मन्दिर में, नदी तट पर, एकान्त में, श्मशान में, स्नान करके, बिना स्नान किए, पद्मासन से , सिद्धासन से, किस ओर मुँह करके, किस मुद्रा में, किस समय, किस प्रकार ध्यान किया जाए ? इस सम्बन्ध की व्यवस्था को स्थिति कहते हैं ।

संस्थिति का अर्थ- इष्टदेव की छवि का निर्धारण । उपास्य देव का मुख आकृति, आकार, मुद्रा, वस्त्र, आभूषण, वाहन, स्थान, भाव को निश्चित करना संस्थिति कहलाती है ।

विगति कहते हैं- गुणावली को । इष्टदेव में क्या विशेषताएँ, शक्तियाँ, सामर्थ्य, परम्पराएँ एवं गुणावलियाँ हैं ? उनको जानना विगति कहा जाता है ।

'प्रगति' कहते हैं - उपासना काल में साधक के मन में रहने वाली भावना को । दास्य, सखा, गुरु, बन्धु, मित्र, माता-पिता, पति, पुत्र, सेवक, शत्रु आदि जिस रिश्ते से उपास्य देव को मानना हो उस रिश्ते की स्थिरता तथा उस

रिश्ते को प्रगाढ़ बनाने के लिए इष्टदेव को प्रमुख ध्यानावस्था में, अपनी आंतरिक भावनाओं को विविध शब्दों तथा चेष्टाओं द्वारा उपस्थित करना 'प्रगति' कहलाती है ।

'संस्मिति' वह व्यवस्था है जिसमें साधक और साध्य, उपासक और उपास्य, एक हो जाते हैं । दोनों में कोई भेद नहीं रहता है । भृंग कीट की सी तन्मयता, द्वैत के स्थान पर अद्वैत की झाँकी उपास्य और उपासक का अभेद, मैं स्वयं इष्टदेव हो गया हूँ या इष्टदेव में पूर्णतया लीन हो गया हूँ, ऐसी अनुभूति का होना अग्नि में पड़कर जैसे लकड़ी भी अग्निमय लाल वर्ण हो जाती है, वैसी ही अपनी स्थिति जिन क्षणों में अनुभव होती है उसे 'संस्मिति' कहते हैं ।

एक ही इष्टदेव के अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक प्रकार से ध्यान किए जाते हैं । साधक की आयु, स्थिति, मनोभूमि, वर्ण, संस्कार आदि के विचार से भी ध्यान की विधियों में स्थिति, संस्थिति, विगति, प्रगति एवं संस्मिति की जो कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ हैं, उनका सविस्तार वर्णन इन पृष्ठों में नहीं हो सकता । यहाँ तो हमारा प्रयोजन मनोमय कोश को व्यवस्थित बनाने के लिए ध्यान द्वारा मन को एकाग्र करने की, वश में करने की विधि बताना मात्र है । इसके लिए कुछ ध्यान नीचे दिये जाते हैं-

१- चिकने पत्थर या धातु की सुन्दर-सी गायत्री प्रतिमा लीजिए । उसे एक सुसज्जित आसन पर स्थापित कीजिए । प्रतिदिन उसका जल, धूप, दीप, गन्ध, नैवेद्य, अक्षत, पुष्प आदि मांगलिक द्रव्यों से पूजन कीजिए । इस प्रकार नित्य-प्रति पूजन आरम्भिक साधकों के लिए श्रद्धा बढ़ाने वाला, मन की प्रवृत्तियों को इस ओर झुकाने वाला होता है । साधक में अरुचि को हटाकर रुचि उत्पन्न करने का प्रथम सोपान, यह पार्थिव पूजन ही है । मन्दिरों में मूर्ति पूजा का आधार यह प्राथमिक शिक्षा के रूप में साधना का आरम्भ करना ही है ।

२- शुद्ध होकर पूरब की ओर मुँह करके, कुश के आसन पर पद्मासन लगाकर बैठिये । सामने गायत्री का चित्र रख लीजिए । विशेष मनोयोगपूर्वक उसकी मुखाकृति या अंग-प्रत्यंगों को देखिये । फिर नेत्र बन्द कर लीजिए । ध्यान द्वारा उस चित्र की बारीकियाँ भी ध्यानावस्था में भलीभाँति परिलक्षित होने लगेंगी । इस प्रतिमा को मानसिक साष्टांग प्रणाम कीजिए और अनुभव कीजिए कि उत्तर में आपको आशीर्वाद प्राप्त हो रहा है ।

३- एकान्त स्थान में सुस्थिर होकर बैठिए । ध्यान कीजिए कि निखिल नील-आकाश में और कोई वस्तु नहीं है, केवल एक स्वर्णिम वर्ण का सूर्य पूर्व दिशा में चमक रहा है । उस सूर्य को ध्यानावस्था में विशेष मनोयोगपूर्वक देखिये । उसके बीच में हंसारूढ़ माता गायत्री की धुँधली-सी छबि दृष्टिगोचर होगी, अभ्यास से धीरे-धीरे यह छबि स्पष्ट दीखने लगेगी ।

४- भावना कीजिए कि इस गायत्री-सूर्य की स्वर्णिम किरणें मेरे नग्न शरीर पर पड़ रही हैं और वे रोमकूपों में होकर प्रवेश हुई आभा से देह के समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म अंगों को अपने प्रकाश में पूरित कर रही हैं ।

५- दिव्य तेजयुक्त, अत्यन्त सुन्दर, इतनी सुन्दर जितनी कि आप अधिक से अधिक कल्पना कर सकते हों, आकाश में दिव्य वस्त्रों, आभूषणों से सुसज्जित माता का ध्यान कीजिए । किसी सुन्दर चित्र के आधार पर ऐसा ध्यान करने की सुविधा होती है । माता के एक-एक अंग को विशेष मनोयोगपूर्वक देखिए । उसकी मुखाकृति, चितवन, मुस्कान, भाव-भंगिमा पर विशेष ध्यान दीजिए । माता अपनी अस्पष्ट वाणी, चेष्टा तथा संकेतों द्वारा आपके मन:क्षेत्र में नवीन भावों का संचार करेंगी ।

६- शरीर को बिल्कुल ढीला कर दीजिए । आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा लेकर, शरीर की नस-नाड़ियों को निर्जीव की भाँति शिथिल कर दीजिए । भावना कीजिए कि सुन्दर आकाश में अत्यधिक ऊँचाई पर अवस्थित ध्रुव तारे से निकल कर एक नीलवर्ण की शुभ्र किरण सुधा धारा की तरह अपनी ओर चली आ रही है और अपने मस्तिष्क या हृदय में ऋतम्भरा बुद्धि के रूप में तरणतारिणी प्रज्ञा के रूप में प्रवेश कर रही है । उस परम दिव्य, परम प्रेरक शक्ति को पाकर अपने हृदय में सद्‌भाव और मस्तिष्क में सद्‌विचार उमड़ रहे हैं जैसे समुद्र

में ज्वार-भाटा उमड़ते हैं। वह ध्रुव तारा, जो इस दिव्य धारा में प्रेरक है, सत् लोकवासिनी गायत्री माता ही है। भावना कीजिए कि जैसे बालक अपनी माता की गोद में खेलता और क्रीड़ा करता है, वैसे ही आप भी गायत्री माता की गोद में खेल और क्रीड़ा कर रहे हैं।

७- मेरुदण्ड को सीधा करके पद्मासन से बैठिए। नेत्र बन्द कर लीजिए। भ्रू-मध्य भाग (भृकुटि) में शुभ्र वर्ण दीपक की लौ के समान दिव्य ज्योति का ध्यान कीजिए। यह ज्योति विद्युत् की भाँति क्रियाशील होकर अपनी शक्ति से मस्तिष्क क्षेत्र में बिखरी हुई अनेक शक्तियों का पोषण एवं जागरण कर रही है, ऐसा विश्वास कीजिए।

८- भावना कीजिए कि आपका शरीर एक सुन्दर रथ है, उसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूपी घोड़े जुते हैं। इस रथ में दिव्य तेजोमयी माता विराजमान हैं और घोड़ों की लगाम उसने अपने हाथ में थाम रखी है। जो घोड़ा बिचकता है, वह चाबुक से उसका अनुशासन करती है और लगाम झटककर उसको सीधे मार्ग पर ठीक रीति से चलने में सफल पथ-प्रदर्शन करती हैं। घोड़े भी माता से आतंकित होकर उनके अंकुश को स्वीकार करते हैं।

९- हृदय स्थान के निकट, सूर्य चक्र में सूर्य जैसे छोटे प्रकाश का ध्यान कीजिए। यह आत्मा का प्रकाश है। इसमें माता की शक्ति मिलती है और प्रकाश बढ़ता है। इस बढ़े हुए प्रकाश में आत्मा के वस्तु स्वरूप की झाँकी होती है। आत्म साक्षात्कार का केन्द्र यह सूर्य चक्र ही है।

१०- ध्यान कीजिए कि चारों ओर अन्धकार है। उसमें होली की तरह पृथ्वी से लेकर आकाश तक प्रचण्ड तेज जाज्वल्यमान हो रहा है। उसमें प्रवेश करने से अपने शरीर का प्रत्येक अंग, मनःक्षेत्र से उस परम तेज के समान अग्निमय हो गया है। अपने समस्त पाप-ताप, विकार-संस्कार जल गये हैं और शुद्ध सच्चिदानन्द शेष रह गया है।

ऊपर कुछ सुगम एवं सर्वोपयोगी ध्यान बताये गए हैं। यह सरल हैं और प्रतिबन्ध रहित हैं। इनके लिए किन्हीं विशेष नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध होकर साधना के समय उनका करना उत्तम है। वैसे अवकाश के अन्य समयों में भी जब चित्त शान्त हो तो, इन ध्यानों में से, अपनी रुचि के अनुकूल ध्यान किया जा सकता है। इन ध्यानों में मन को संयत, एकाग्र करने की बड़ी शक्ति है। साथ ही उपासना का आध्यात्मिक लाभ भी मिलने से यह ध्यान दुहरा हित साधन करते हैं।

त्राटक

त्राटक भी ध्यान का एक अंग है अथवा यों कहिए कि त्राटक का ही एक अंग ध्यान है। अन्तः-त्राटक और बाह्य-त्राटक दोनों का उद्देश्य मन को एकाग्र करना है। नेत्र बन्द करके किसी एक वस्तु पर भावना को जमाने और उसे आन्तरिक नेत्रों से देखते रहने की क्रिया अन्तः-त्राटक कहलाती है। पीछे जो दस ध्यान लिखे गये हैं, वे सभी अन्तः-त्राटक हैं। मैस्मरेजम के ढंग से जो लोग अन्तः-त्राटक करते हैं, वे केवल प्रकाश बिन्दु पर ध्यान करते हैं। इससे एकांगी लाभ होता है। प्रकाश बिन्दु पर ध्यान करने से मन तो एकाग्र होता है, पर उपासना का आत्म-लाभ नहीं मिल पाता। इसलिए भारतीय योगी सदा ही अन्तः-त्राटक का इष्ट ध्यान के रूप में प्रयोग करते रहे हैं।

बाह्य त्राटक का उद्देश्य बाह्य-साधनों के आधार पर मन को वश में करना एवं चित्त प्रवृत्तियों का एकीकरण करना है। मन की शक्ति प्रधानतया नेत्रों द्वारा बाहर आती है। दृष्टि को किसी विशेष वस्तु पर जमाकर उसमें मन को तन्मयतापूर्वक प्रवेश कराने से नेत्रों द्वारा विकीर्ण होने वाला मनःतेज एवं विद्युत् प्रवाह एक स्थान पर केन्द्रीभूत होने लगता है। इससे एक तो एकाग्रता बढ़ती है, दूसरे नेत्रों का प्रवाह-चुम्बकत्व बढ़ जाता है। ऐसी बढ़ी हुई आकर्षण शक्ति वाली दृष्टि को 'बेधक दृष्टि' कहते हैं।

बेधक दृष्टि से देखकर किसी व्यक्ति को प्रभावित किया जा सकता है। मैस्मरेजम करने वाले अपने नेत्रों में त्राटक द्वारा ही इतना विद्युत् प्रवाह उत्पन्न कर लेते हैं कि उसे जिस किसी शरीर में प्रवेश कर दिया जाए, वह तुरन्त

बेहोश एवं वशवर्ती हो जाता है। उस बेहोश या अर्द्धनिद्रित व्यक्ति के मस्तिष्क पर बेधक दृष्टि वाले व्यक्ति का कब्जा हो जाता है और उससे जो चाहे वह काम ले सकता है। मैस्मरेजम करने वाले किसी व्यक्ति को अपनी त्राटक शक्ति से पूर्णनिद्रित या अर्द्धनिद्रित करके उसे नाना प्रकार के नाच नचाते हैं।

मैस्मरेजम द्वारा सत्संकल्प, दान, रोग निवारण, मानसिक त्रुटियों का परिमार्जन आदि लाभ हो सकते हैं और उससे ऊँची अवस्था में जाकर अज्ञात वस्तुओं का पता लगाना, अप्रकट बातों को मालूम करना आदि कार्य भी हो सकते हैं। दुष्ट प्रकृति के बेधक दृष्टि वाले अपने दृष्टि तेज से किन्हीं स्त्री-पुरुषों के मस्तिष्क पर अपना अधिकार करके उन्हें भ्रम ग्रस्त कर देते हैं और उनका सतीत्व तथा धन लूटते हैं। कई बेधक दृष्टि से खेल-तमाशे करके पैसा कमाते हैं। यह इस महत्त्वपूर्ण शक्ति का दुरुपयोग है।

बेधक दृष्टि द्वारा किसी के अन्तःकरण में भीतर तक प्रवेश करके उसकी सारी मनःस्थिति को, मनोगत भावनाओं को जाना जा सकता है। बेधक दृष्टि फेंककर दूसरों को प्रभावित किया जा सकता है। नेत्रों में ऐसा चुम्बकत्व त्राटक द्वारा पैदा हो सकता है। मन की एकाग्रता, चूँकि त्राटक के अभ्यास में अनिवार्य रूप से करनी पड़ती है, इसलिए उसका साधन साथ-साथ होते चलने से मन पर बहुत कुछ काबू हो सकता है।

१- एक हाथ लम्बा एक हाथ चौड़ा, चौकोर कागज का पुट्ठा लेकर उसके बीच में रुपये के बराबर एक काला गोल निशान बना लो। स्याही एक सी हो, कहीं कम ज्यादा न हो। इसके बीच में सरसों के बराबर निशान छोड़ दो और उसमें पीला रंग भर दो और तुम उससे चार फीट की दूरी पर इस प्रकार बैठो कि वह काला गोला तुम्हारी आँखों के सामने, सीध में रहे।

साधना का एक कमरा ऐसा होना चाहिए कि जिसमें न अधिक प्रकाश रहे न अँधेरा। न अधिक सर्दी हो, न गर्मी। पालथी मारकर, मेरुदण्ड सीधा रखते हुए बैठो और काले गोले के बीच में जो पीला निशान हो , उस पर दृष्टि जमाओ। चित्त की सारी भावनायें एकत्रित करके, उस बिन्दु को इस प्रकार देखो, मानो तुम अपनी सारी शक्ति नेत्रों द्वारा उसमें प्रवेश कर देना चाहते हो। ऐसा सोचते रहो कि मेरी तीक्ष्ण दृष्टि से इस बिन्दु में छेद हुआ जा रहा है, कुछ देर इस प्रकार देखने से आँखों में दर्द होने लगेगा और पानी बहने लगेगा, तब अभ्यास बन्द कर दो।

अभ्यास के लिए प्रातःकाल का समय ठीक है। पहले दिन देखो कि कितनी देर में आँखें थक जाती हैं और पानी आ जाता है। पहले दिन जितनी देर अभ्यास किया है, प्रतिदिन उससे एक या आधा मिनट बढ़ाते जाओ।

दृष्टि को स्थिर करने पर तुम देखोगे कि उस काले गोले में तरह-तरह की आकृतियाँ पैदा होती हैं। कभी वह सफेद रंग का हो जायेगा, तो कभी सुनहरा। कभी छोटा मालूम पड़ेगा, कभी चिन्गारियाँ-सी उड़ती दीखेंगी, कभी बादल से छाये हुए प्रतीत होंगे। इस प्रकार यह गोला अपनी आकृति बदलता रहेगा, किन्तु जैसे-जैसे दृष्टि स्थिर होना शुरू हो जायेगी, उसमें दीखने वाली विभिन्न आकृतियाँ बन्द हो जायेंगी और बहुत देर तक देखते रहने पर भी गोला ज्यों का त्यों बना रहेगा।

२- एक फुट लम्बे-चौड़े दर्पण के बीच चाँदी की चवन्नी के बराबर काले रंग के कागज का एक गोल टुकड़ा काटकर, चिपका दिया जाता है। उस कागज के मध्य में सरसों के बराबर पीला बिन्दु बनाते हैं। इस बिन्दु पर दृष्टि स्थिर करते हैं। इस अभ्यास को एक-एक मिनट बढ़ाते जाते हैं। जब इस तरह की दृष्टि स्थिर हो जाती है, तब और भी आगे का अभ्यास शुरू हो जाता है। दर्पण पर चिपके हुए कागज को छुड़ा देते हैं और उसमें अपना मुँह देखते हुए अपनी बाँई आँख की पुतली पर दृष्टि जमा कर लेते हैं और उस पुतली में ध्यानपूर्वक अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं।

३- गो घृत का दीपक जलाकर नेत्रों की सीध में चार फुट की दूरी पर रखिए। दीपक की लौ आधा इन्च से कम उठी हुई न हो, इसलिए मोटी बत्ती डालना और पिघला हुआ घृत भरना आवश्यक है। बिना पलक झपकाये इस अग्नि-शिखा पर दृष्टिपात कीजिए और भावना कीजिए कि आपके नेत्रों की ज्योति दीपक की लौ से टकराकर उसी में घुली जा रही है।

४- प्रातःकाल के सुनहरे सूर्य पर या रात्रि को चन्द्रमा पर भी त्राटक किया जाता है। सूर्य या चन्द्रमा जब

मध्य आकाश में होंगे, तब त्राटक नहीं हो सकता। कारण कि उस समय तो शिर ऊपर को करना पड़ेगा या लेटकर ऊपर को आँखें करनी पड़ेंगी, यह दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक हैं। इसलिए उदय होता सूर्य या चन्द्रमा ही त्राटक के लिए उपयुक्त माना जाता है।

५- त्राटक के अभ्यास के लिए स्वस्थ नेत्रों का होना आवश्यक है। जिनके नेत्र कमजोर हों या कोई रोग हो, उन्हें बाह्य-त्राटक की अपेक्षा अन्तः-त्राटक उपयुक्त है, जो कि ध्यान प्रकरण में लिखा जा चुका है। अन्तः-त्राटक को पाश्चात्य योगी इस प्रकार करते हैं कि दीपक की अग्नि-शिखा, सूर्य-चन्द्रमा आदि कोई चमकता प्रकाश पन्द्रह सेकेण्ड खुले नेत्रों से देखा, फिर आँखें बंद कर लीं और ध्यान किया कि वह प्रकाश मेरे सामने मौजूद है। एकटक दृष्टि से मैं उसे घूर रहा हूँ तथा अपनी सारी इच्छा शक्ति को तेज नोंकदार कील की तरह उसमें घुसाकर आर-पार कर रहा हूँ।

अपनी सुविधा, स्थिति या रुचि के अनुरूप इन त्राटकों में से किसी को चुन लेना चाहिए और उसे नियत समय पर नियमपूर्वक करते रहना चाहिए। इससे मन एकाग्र होता है और दृष्टि में बेधकता, पारदर्शिता एवं प्रभावोत्पादकता की अभिवृद्धि होती है।

त्राटक पर से उठने के पश्चात् गुलाब जल से आँखों को धो डालना चाहिए। गुलाब जल न मिले तो स्वच्छ छना हुआ ताजा पानी भी काम में लाया जा सकता है। आँख धोने के लिए छोटी काँच की प्यालियाँ अंग्रेजी दवा बेचने वालों की दुकान पर मिलती हैं, वह सुविधाजनक होती हैं। न मिलने पर कटोरी में पानी भरकर उसमें आँख खोलकर डुबाने और पलक हिलाने में आँख धुल जाती है। इस प्रकार के नेत्र स्नान से त्राटक के कारण उत्पन्न हुई आँखों की उष्णता शान्त हो जाती है। त्राटक का अभ्यास समाप्त करने के उपरान्त साधना के कारण बढ़ी हुई मानसिक गर्मी के समाधान के लिए दूध, दही, लस्सी, मक्खन, मिश्री, फल, शर्बत, ठण्डाई आदि कोई ठण्डी पौष्टिक चीजें, ऋतु का ध्यान रखते हुए सेवन करनी चाहिए। जाड़े के दिनों में बादाम का हलुवा, च्यवनप्राश अवलेह आदि वस्तुएँ भी उपयोगी होती हैं।

जप साधना

मनोमय कोश की स्थिति एवं एकाग्रता के लिए जप का साधन बड़ा ही उपयोगी है। इसकी उपयोगिता इससे निर्विवाद है कि सभी धर्म, मजहब, सम्प्रदाय इसकी आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जप करने से मन की प्रवृत्तियों को एक ही दिशा में लगा देना सरल हो जाता है।

कहते हैं कि एक बार एक मनुष्य ने किसी भूत को सिद्ध कर लिया। भूत बड़ा बलवान् था उसने कहा- मैं तुम्हारे वश में आ गया, ठीक है, जो आज्ञा होगी सो करूँगा, मुझसे बेकार नहीं बैठा जाता। यदि बेकार रहा तो, आपको ही खा जाऊँगा। यह मेरी शर्त अच्छी तरह समझ लीजिए। उस आदमी ने भूत को बहुत काम बताये, उसने थोड़ी-थोड़ी देर में सब काम कर दिये। भूत की बेकारी से उत्पन्न होने वाला संकट उस सिद्ध को बेतरह परेशान कर रहा था। तब वह दुःखी होकर अपने गुरु के पास गया। गुरु ने सिद्ध को बताया कि आँगन में एक बाँस गाढ़ दिया जाए और भूत से कह दो कि जब तक दूसरा काम न बताया जाया करे, तब तक उस बाँस पर बार-बार चढ़े और बार-बार उतरे। यह काम मिल जाने पर भूत से काम लेते रहने की भी सुविधा हो गई और सिद्ध के आगे उपस्थित रहने वाला संकट हट गया।

मन ऐसा ही भूत है, जो जब भी निरर्थक बैठता है, तभी कुछ न कुछ खुराफात करता है। इसलिए यह जब भी काम से छुट्टी पाये, तभी इसे जप पर लगा देना चाहिए। जप केवल समय काटने के लिए ही नहीं है, वरन् वह एक बड़ा ही उत्पादक एवं निर्माणात्मक, मनोवैज्ञानिक श्रम है। निरन्तर पुनरावृत्ति करते रहने से मन में उस प्रकार का अभ्यास एवं संस्कार बन जाता है, जिससे वह स्वभावतः उसी ओर चलने लगता है।

पत्थर को बार-बार रस्सी की रगड़ लगने से उसमें गड्ढा पड़ जाता है। पिंजड़े में रहने वाला कबूतर बाहर

निकाल देने पर भी लौटकर उसी में वापस आ जाता है। गाय को जंगल में छोड़ दिया जाए, तो भी वह रात को स्वयमेव लौट आती है। निरन्तर अभ्यास से मन भी ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि अपने दीर्घकाल तक सेवन किए गये कार्यक्रम में अनायास ही प्रवृत्त हो जाता है।

अनेक निरर्थक कल्पना-प्रपञ्चों में उछलते कूदते फिरने की अपेक्षा आध्यात्मिक भावना की एक सीमित परिधि में भ्रमण के लिए जप का अभ्यास करने से मन एक ही दिशा में प्रवृत्त होने लगता है। आत्मिक क्षेत्र में मन लगा रहना, उस दिशा में एक दिन पूर्ण सफलता प्राप्त होने का सुनिश्चित लक्षण है। मन रूपी भूत बड़ा बलवान् है। यह सांसारिक कार्यों को भी बड़ी सफलतापूर्वक करता है और जब आत्मिक क्षेत्र में जुट जाता है, तो भगवान् के सिंहासन को हिला देने में भी नहीं चूकता। मन की उत्पादक, रचनात्मक एवं प्रेरक शक्ति इतनी विलक्षण है कि उसके लिए संसार की कोई वस्तु असम्भव नहीं। भगवान् को प्राप्त करना भी उसके लिए बिलकुल असम्भव नहीं। भगवान् को प्राप्त करना भी उसके लिए बिलकुल सरल है। कठिनाई केवल एक नियत क्षेत्र में जमने की है, सो जप के व्यवस्थित विधान से वह भी दूर हो जाती है।

हमारा मन कैसा ही उच्छृंखल क्यों न हो, पर जब उसको बार-बार किसी भावना पर केन्द्रित किया जाता रहेगा, तो कोई कारण नहीं कि कालान्तर में उसी प्रकार का न बनने लगे। लगातार प्रयत्न करने से सरकस में खेल दिखाने वाले बन्दर, सिंह, बाघ, रीछ जैसे उद्दण्ड जानवर मालिक की मर्जी पर काम करने लगते हैं, उसके इशारे पर नाचते हैं, तो कोई कारण नहीं कि चञ्चल और कुमार्गगामी मन को वश में करके इच्छानुवर्ती न बनाया जा सके। पहलवान लोग नित्यप्रति अपनी नियत मर्यादा में दण्ड-बैठक आदि करते हैं, उनकी इस क्रिया पद्धति से उनका शरीर दिन-दिन हृष्ट-पुष्ट होता जाता है और एक दिन वे अच्छे पहलवान बन जाते हैं। नित्य का जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे आध्यात्मिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ और सूक्ष्म शरीर को बलवान् बनाने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है।

एक-एक बूँद जमा करने से घड़ा भर जाता है। चींटी एक-एक दाना ले जाकर अपने बिलों में मनों अनाज जमा कर लेती है। एक-एक अक्षर पढ़ने से थोड़े दिनों में विद्वान् बना जा सकता है। एक-एक कदम चलने से लम्बी मंजिल पार हो जाती है, एक-एक पैसा जोड़ने से खजाने जमा हो जाते हैं, एक-एक तिनका मिलने से मजबूत रस्सी बन जाती है। जप में भी वही होता है। माला का एक-एक दाना फेरने से बहुत जमा हो जाता है। इसलिए योग ग्रन्थों में जप को, यज्ञ बताया गया है। उसकी बड़ी महिमा गाई है और आत्म-मार्ग पर चलने की इच्छा करने वाले पथिक के लिए जप करने का कर्तव्य आवश्यक रूप से निर्धारित किया गया है।

गीता के अध्याय १० श्लोक २५ में कहा गया है कि 'यज्ञों में जप-यज्ञ श्रेष्ठ है।' मनुस्मृति में, अध्याय २ श्लोक ८६ में बताया गया कि होम, बलिकर्म, श्राद्ध, अतिथि-सेवा, पाकयज्ञ, विधियज्ञ, दर्शपौर्ण-मासादि यज्ञ, सब मिलकर भी जप-यज्ञ के सोलहवें भाग के बराबर नहीं होते। महर्षि भारद्वाज ने गायत्री व्याख्या में कहा है कि "समस्त यज्ञों में जप-यज्ञ अधिक श्रेष्ठ है। अन्य यज्ञों में हिंसा होती है, पर जप-यज्ञ में नहीं होती, जितने कर्म, यज्ञ दान, तप हैं, सब जप-यज्ञ की सोलहवीं कला के समान भी नहीं होते। समस्त पुण्य साधना में जप-यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है।" इस प्रकार के अगणित प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध हैं। उन शास्त्र वचनों में, जप-यज्ञ की उपयोगिता एवं महत्ता को बहुत जोर देकर प्रतिपादन किया गया है। कारण यह है कि जप, मन को वश में करने का रामबाण अस्त्र है और यह सर्वविदित तथ्य है कि मन को वश में करना इतनी बड़ी सफलता है कि उसकी प्राप्ति होने पर जीवन को धन्य माना जा सकता है। समस्त आत्मिक और भौतिक सम्पदायें, संयत मन से ही तो उपलब्ध की जाती हैं।

जप-यज्ञ के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक जानकारियाँ नीचे दी जाती हैं -

१- जप के लिए प्रातःकाल एवं ब्राह्म-मुहूर्त सर्वोत्तम काल है। दो घण्टे रात में रहने से सूर्योदय तक

ब्राह्म-मुहूर्त कहलाता है। सूर्योदय से दो घण्टे दिन चढ़े तक प्रातःकाल होता है। प्रातःकाल से भी ब्राह्म मुहूर्त अधिक श्रेष्ठ है।

२- जप के लिए पवित्र, एकान्त स्थान चुनना चाहिए। मन्दिर, तीर्थ, बगीचा, जलाशय आदि एकान्त के शुद्ध स्थान जप के लिए अधिक उपयुक्त हैं। घर में करना हो, तो भी ऐसी जगह चुननी चाहिए, जहाँ अधिक खटपट न हो।

३- सन्ध्या को जप करना हो, तो सूर्य अस्त से एक घण्टा उपरान्त तक जप कर लेना चाहिए। प्रातःकाल के दो घण्टे और सायंकाल का एक घण्टा इन तीनों घण्टों को छोड़कर रात्रि के अन्य भागों में गायत्री मन्त्र नहीं जपा जाता।

४- जप के लिए शुद्ध शरीर और शुद्ध वस्त्रों से बैठना चाहिये। साधारणतः स्नान द्वारा ही शरीर की शुद्धि होती है; पर किसी विवशता, ऋतु प्रतिकूलता या अस्वस्थता की दशा में मुँह धोकर या गीले कपड़े से शरीर पोंछकर भी काम चलाया जा सकता है, नित्य धुले वस्त्रों की व्यवस्था न हो सके, तो रेशमी या ऊनी वस्त्रों से काम लेना चाहिए।

५- जप के लिये बिना बिछाये न बैठना चाहिये। कुश का आसन, चटाई आदि घास के बने आसन अधिक उपयुक्त हैं। पशुओं के चमड़े, मृगछाला आदि आजकल उनकी हिंसा से प्राप्त होते हैं, इसलिये वे निषिद्ध हैं।

६- पद्मासन में पालथी मारकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए जप के लिये बैठना चाहिये। मुँह प्रातः पूरब की ओर, सायंकाल पश्चिम की ओर रहे।

७- माला तुलसी की या चन्दन की होनी चाहिये। कम से कम एक माला नित्य जपनी चाहिये। माला पर जहाँ बहुत आदमियों की दृष्टि पड़ती हो, वहाँ हाथ को कपड़े से या गौ मुखी से ढक लेना चाहिए।

८- माला जपते समय सुमेरु (माला के प्रारम्भ का सबसे बड़ा केन्द्रीय दाना) का उल्लंघन न करना चाहिए। एक माला पूरी करके उसे मस्तिष्क तथा नेत्रों से लगाकर पीछे की तरह उलटा ही वापस कर लेना चाहिये, इस प्रकार माला पूरी होने पर हर बार उलट कर ही नया आरम्भ करना चाहिये।

९- लम्बे सफर में, स्वयं रोगी हो जाने पर, किसी रोगी की सेवा में संलग्न होने पर, जन्म-मृत्यु का सूतक लग जाने पर स्नान आदि पवित्रताओं की सुविधा नहीं रहती। ऐसी दशा में मानसिक जप चालू रखना चाहिये। मानसिक जप बिस्तर पर पड़े-पड़े, रास्ता या किसी भी पवित्र, अपवित्र दशा में किया जा सकता है।

१०- जप नियत समय पर, नियत संख्या में, नियत स्थान पर, शान्त चित्त एवं एकाग्र मन से करना चाहिये। पास में जलाशय या जल से भरा पात्र होना चाहिये। आचमन के पश्चात् जप आरम्भ करना चाहिये। किसी दिन अनिवार्य कारण से जप स्थगित करना पड़े, तो दूसरे दिन प्रायश्चित्त स्वरूप एक माला अधिक जपनी चाहिए।

११- जप इस प्रकार करना चाहिये कि कण्ठ से ध्वनि होती रहे, होंठ हिलते रहें, परन्तु समीप बैठा हुआ मनुष्य भी स्पष्ट रूप से मन्त्र को सुन न सके। मल-मूत्र त्याग या किसी अनिवार्य कार्य के लिये साधना के बीच में ही उठना पड़े, तो शुद्ध जल से साफ होकर तब दुबारा बैठना चाहिये। जपकाल में यथासम्भव मौन रहना उचित है। कोई बात कहना आवश्यक हो, तो इशारे से कह देनी चाहिये।

१२- जप के समय मस्तिष्क के मध्य भाग में इष्टदेव का, प्रकाश ज्योति का ध्यान करते रहना चाहिये। साधक का आहार तथा व्यवहार सात्त्विक होना चाहिये। शारीरिक एवं मानसिक दोषों से बचने का यथासम्भव पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

१३- जप के लिये गायत्री मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। गुरु द्वारा ग्रहण किया हुआ मन्त्र ही सफल होता है। स्वेच्छापूर्वक मनचाही विधि से मनचाहा मन्त्र जपने से विशेष लाभ नहीं होता, इसलिये अपनी स्थिति के अनुकूल आवश्यक विधान, किसी अनुभवी पथ प्रदर्शक से मालूम कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त नियमों के आधार पर किया हुआ गायत्री जप मन को वश में करने एवं मनोमय कोश को सुविकसित करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।

तन्मात्रा साधना

यह बात प्रकट है कि हमारा शरीर एवं समस्त संचारतन्त्र पंचतत्त्वों का बना हुआ है । पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच तत्त्वों की मात्रा में अन्तर होने के कारण विविध आकार- प्रकार और गुणधर्म की वस्तुयें बन जाती हैं ।

इन पाँच तत्त्वों की जो सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, इनकी इन्द्रियजन्य अनुभूति को 'तन्मात्रा' कहते हैं । शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । यह पाँच तत्त्वों से बने हुए पदार्थों के संसर्ग में आने पर जैसा अनुभव करती हैं, उस अनुभव को 'तन्मात्रा' नाम से पुकारते हैं । शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाँच तन्मात्रायें हैं ।

आकाश की तन्मात्रा 'शब्द' है । वह कान द्वारा हमें अनुभव होता है । कान ही आकाश तत्त्व की प्रधानता वाली इन्द्रिय है । अग्नि तत्त्व की तन्मात्रा 'रूप' है । यह अग्नि-प्रधान इन्द्रिय नेत्र द्वारा अनुभव किया जाता है । रूप को आँखें ही देखती हैं । जल तत्त्व की तन्मात्रा 'रस' है । रस का जल-प्रधान इन्द्रिय जिह्वा द्वारा अनुभव होता है, षड्रसों का खट्टे, मीठे, खारी, तीखे, कड़ुवे, कसैले का स्वाद जीभ पहचानती है । पृथ्वी तत्त्व की तन्मात्रा 'गन्ध' को पृथ्वी गुण प्रधान नासिका इन्द्रिय मालूम करती है । इसी प्रकार वायु की तन्मात्रा 'स्पर्श' का ज्ञान, त्वचा को होता है । त्वचा में फैले हुए ज्ञान तन्तु दूसरी वस्तुओं का ताप, भार, घनत्व एवं उनके स्पर्श की प्रतिक्रिया का अनुभव कराते हैं ।

इन्द्रियों में तन्मात्राओं का अनुभव कराने की शक्ति न हो, तो संसार का और शरीर का सम्बन्ध ही टूट जाए । जीव को संसार में जीवन-यापन की सुविधा भले ही हो, पर किसी प्रकार का आनन्द शेष न रहेगा । संसार के विविध पदार्थों में जो हमें मनमोहक आकर्षण प्रतीत होते हैं, उनका एकमात्र कारण 'तन्मात्रा' शक्ति है । कल्पना कीजिये कि हम संसार के किसी पदार्थ के रूप को न देख सकें, तो सर्वत्र मौन एवं नीरवता ही रहेगी । स्वाद न चख सकें तो खाने में कोई अन्तर न रहेगा । गंध का अनुभव न हो, तो हानिकारक सड़ाँध और उपयोगी उपवन में क्या फर्क किया जा सकेगा । त्वचा की शक्ति न हो, तो सर्दी, गर्मी, स्नान, वायु-सेवन, कोमल शय्या के सेवन आदि से कोई प्रयोजन न रह जायेगा ।

परमात्मा ने पंच तत्त्वों में तन्मात्रायें उत्पन्न कर और उनके अनुभव के लिये शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ बनाकर, शरीर और संसार को आपस में घनिष्ठ आकर्षण के साथ सम्बद्ध कर दिया है । यदि पंचतत्त्व केवल स्थूल ही होते, उनमें तन्मात्रायें न होतीं, तो इन्द्रियों को संसार के किसी पदार्थ में कुछ आनन्द न आता । सब कुछ नीरस, निरर्थक और बेकार-सा दीख पड़ता । यदि तत्त्वों में तन्मात्रायें होतीं, पर शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ न होतीं, तो जैसे वायु में फिरते रहने वाले कीटाणु केवल जीवन धारण ही करते हैं, उन्हें संसार में किसी प्रकार की रसानुभूति नहीं होती, इसी प्रकार मानव-जीवन भी नीरस हो जाता । इन्द्रियों की संवेदना-शक्ति और तत्त्वों की तन्मात्रायें मिलकर प्राणी को ऐसे अनेक शारीरिक और मानसिक रस अनुभव कराती हैं, जिनके लोभ से वह जीवन धारण किये रहता है । इस संसार को छोड़ना नहीं चाहता । उसकी यह चाहना ही जन्म-मरण के चक्र में भव-बन्धन में बँधे रहने के लिये बाध्य करती है ।

आत्मा की ओर न मुड़कर, आत्म-कल्याण में प्रवृत्त न होकर सांसारिक वस्तुओं को संग्रह करने की, उनका स्वामी बनने की, उनके सम्पर्क की रसानुभूति को चखते रहने की लालसा में मनुष्य डूबा रहता है । रंग-बिरंगे खिलौने से खेलने में जैसे बच्चे बेतरह तन्मय हो जाते हैं और खाना पानी सभी भूलकर खेल में लगे रहते हैं, उसी प्रकार तन्मात्राओं के खिलौने मन में ऐसे बस जाते हैं, इतने सुहावने लगते हैं कि उनसे खेलना छोड़ने की इच्छा नहीं होती, कई दृष्टियों से कष्टकर जीवन व्यतीत करते हुए भी लोग मरने को तैयार नहीं होते, मृत्यु का नाम सुनते ही काँपते हैं, इसका एकमात्र कारण यही है कि सांसारिक पदार्थों की तन्मात्राओं में जो मोहक आकर्षण है, वह कष्ट और अभाव की तुलना में मोहक और सरस है । कष्ट सहते हुए भी प्राणी उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होता ।

पाँच इन्द्रियों के खूँटे से, पाँच तन्मात्राओं के रस्सों से जीव बँधा हुआ है । यह रस्से बड़े ही आकर्षक हैं, इन रस्सों में चमकीला, रंगीन, रेशम और सुनहरी कलावत्तू लगा हुआ है । खूँटे चाँदी सोने के बने हुए हैं, उनमें

हीरे जवाहरात जगमगा रहे हैं । जीवनरूपी घोड़ा इन रस्सों में बँधा है । वह बन्धन के दुःख को भूल जाता है और रस्सों तथा खूँटों की सुन्दरता को देखकर छुटकारे की इच्छा तक करना छोड़ देता है । उसे वह बन्धन भी अच्छा लगता है । दिन भर गाड़ी में जुतने और चाबुक खाने के कष्टों को भी इन चमकीले रस्सों और खूँटों की तुलना में कुछ नहीं समझता । इसी बाल बुद्धि को, अदूरदर्शिता को, वास्तविकता न समझने को शास्त्रों में अविद्या, माया, भ्रांति आदि नियमों से पुकारा गया है और इस भूल से बचने के लिए अनेक प्रकार की धार्मिक कथा, गाथाओं, उपासनाओं एवं साधनाओं का विधान किया गया है ।

इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के मिश्रण से ख़ुजली उत्पन्न होती है, उसे ही खुजाने के लिए मनुष्य के विविध विचार और कार्य होते हैं, वह दिन-रात इसी खाज को खुजाने के लिए गोरखधन्धे में लगा रहता है । मन को वश में करने एवं एकाग्र करने में बड़ी बाधा यह खुजली है, जो दूसरी ओर चित्त को जाने ही नहीं देती । खुजाने में जो मजा आता है, उसकी तुलना में और सब बातें हलकी मालूम होती हैं । इसलिए एकाग्रता की साधना पर से मन अक्सर उचट जाता है ।

तन्मात्राओं की रसानुभूति घोड़े की रस्सी अथवा खुजली के समान है । यह बहुत ही हल्की, छोटी और महत्त्वहीन वस्तु है । यह भावना अन्तःभूमि में जमाने के लिए, मनोमय कोश की सुव्यवस्था के लिए तन्मात्राओं की साधना के अभ्यास बताये गये हैं । इन साधनाओं से अन्तःकरण यह अनुभव कर लेता है कि 'तन्मात्रायें' अनात्म वस्तु हैं । यह जड़ पंच-तत्त्वों की सूक्ष्म प्रक्रिया मात्र है । यह मनोमय कोश में खुजली की तरह चिपट जाती है और एक निरर्थक से झमेले गोरखधन्धे में हमें फँसा कर लक्ष्य प्राप्ति से वंचित कर देती है । इसलिए इनकी वास्तविकता, व्यर्थता एवं तुच्छता को भली प्रकार समझ लेना चाहिये ।

आगे चलकर पाँचों तन्मात्राओं की छोटी-छोटी सरल साधनायें बताई जायेंगी, जिनकी साधना करने से बुद्धि यह अनुभव कर लेती है कि शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श का जीवन को चलाने में केवल उतना ही उपयोग है, जितना मशीन के पुर्जों में तेल का । इनमें आसक्त होने की आवश्यकता नहीं है ।

दूसरी बात यह भी है कि मन स्वयं एक इन्द्रिय है । उसका लगाव सदा तन्मात्राओं की ओर रहता है । मन का विषय ही रसानुभूति है । साधनात्मक रसानुभूति में उसे लगा दिया जाए, तो वह अपने विषय में भी लगता है और जो सूक्ष्म परिश्रम करना पड़ता है, उसके कारण अति सूक्ष्म मनःशक्तियों का जागरण होने से अनेक प्रकार के मानसिक लाभ भी होते हैं । पंच तन्मात्राओं की साधनायें इस प्रकार हैं -

शब्द साधना

एकान्त स्थान में जाइये, जहाँ किसी प्रकार शब्द या कोलाहल न होता हो । बाहर के शब्द भी न सुनाई पड़ते हों । रात्रि को जब चारों ओर शांति हो जाती हो, तब इस साधना के लिए बड़ा अच्छा अवसर मिलता है । दिन में करना हो तो कमरे के किवाड़ बन्द कर लेना चाहिए, ताकि बाहर से शब्द भीतर न आएँ ।

१- शान्त चित्त से पद्मासन लगाकर बैठिये । नेत्र बन्द कर लीजिए । एक छोटी घड़ी कान के पास ले जाइये और उसकी टिक-टिक को ध्यानपूर्वक सुनिये । अब धीरे-धीरे घड़ी को कान से दूर हटाते जाइये और ध्यान देकर उसकी टिक-टिक को सुनने का प्रयत्न कीजिए । घड़ी और कान की दूरी को बढ़ाते जाइये । धीरे-धीरे अभ्यास से घड़ी बहुत दूर रखी होने पर भी टिक-टिक कान में आती रहेगी । बीच में जब ध्वनि प्रभाव शिथिल हो जाय, तो घड़ी को कान के पास लगाकर कुछ देर तक उस ध्वनि को अच्छी तरह सुन लेना चाहिए और फिर दूर हटा कर सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से उस शब्द प्रवाह को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए ।

२- घड़ियाल में एक चोट मारकर, उसकी आवाज को बहुत देर तक सुनते रहना और फिर बहुत देर तक उसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से सुनने का प्रयत्न करना । जब पूर्व ध्यान शिथिल हो जाय तो फिर घड़ियाल में हथौड़ी मारकर, फिर उस ध्यान को ताजा कर लेना, इसी साधना का 'मुष्टि योग' नाम से योग ग्रन्थों में वर्णन है ।

किसी झरने के निकट या नहर की झील के निकट जाइए जहाँ प्रपात का शब्द हो रहा हो । शान्त चित्त से

इस शब्द-प्रवाह को कुछ देर सुनते रहिए। फिर कानों को उँगली डालकर बन्द कर लीजिए और सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय द्वारा उस ध्वनि को सुनिये। बीच में जब शब्द शिथिल हो जाए तो उँगली ढीली करके उसे सुनिये और कान बन्द करके फिर उसी प्रकार ध्यान द्वारा ध्वनि ग्रहण कीजिए।

इन शब्द साधनाओं में लगे रहने से मन एकाग्र होता है। साथ ही सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय जाग्रत् होती है, जिनके कारण दूर बैठकर बात करने वाले लोगों के शब्द सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय में आ जाते हैं। सुदूर हो रही गुप्त वार्ताओं का अभ्यास हो जाता है। देश-विदेश में हो रहे नृत्य, गीत—वाद्य आदि की ध्वनि तरंगें कानों में आकर चित्त को उल्लास-आनन्द से भर देती हैं। आगे चलकर यही साधना 'कर्ण पिशाचिनी' सिद्धि के रूप में प्रकट होती है। कहाँ क्या हो रहा है, किसके मन में क्या विचार उठ रहा है, किसकी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणियाँ क्या-क्या कर रही हैं, भविष्य में क्या होने वाला है ? आदि बातों को कोई शक्ति सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय में आकर इस प्रकार कह जाती है, मानो कोई अदृश्य प्राणी कान पर मुँह रखकर सारी बात कह रहा है। इस सफलता को 'कर्ण पिशाचिनी सिद्धि' कहते हैं।

रूप साधना

१- वेदमाता गायत्री का या सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, राम, कृष्ण आदि इष्टदेव का जो सबसे सुन्दर चित्र या प्रतिमा मिले, उसे लीजिये। एकान्त स्थान में ऐसी जगह बैठिये जहाँ पर्याप्त प्रकाश हो, इस चित्र या प्रतिमा के अंग-प्रत्यंगों को मनोयोग पूर्वक देखिये, इसके सौन्दर्य एवं विशेषताओं को खूब बारीकी के साथ देखिये, एक मिनट इस प्रकार देखने के बाद नेत्रों को बन्द कर लीजिये, अब उस चित्र के रूप का ध्यान कीजिए और जो बारीकियाँ, विशेषताएँ अथवा सुन्दरताएँ चित्र में देखीं थीं, उन सबको कल्पनाशक्ति द्वारा ध्यान के चित्र में आरोपित कीजिए। फिर नेत्र खोल लीजिए और उस छबि को देखिए, ध्यान के साथ-साथ ॐ मन्त्र जपते रहिए। इस प्रकार बार-बार करने से वह रूप मन में बस जायेगा। उसका दिव्य नेत्रों से दर्शन करते हुए बड़ा आनन्द आयेगा। धीरे-धीरे इस चित्र की मुखाकृति बदलती मालूम देगी, हँसती मुस्कुराती, नाराज होती, उपेक्षा करती हुई भावभंगी दिखाई देगी। यह प्रतिमा स्वप्न में अथवा जाग्रत् अवस्था में, नेत्रों के सामने आयेगी और कभी ऐसा अवसर आ सकता है, जिसे प्रत्यक्ष साक्षात्कार कहा जा सके। आरम्भ में यह साक्षात्कार धुँधला होता है। फिर धीरे-धीरे ध्यान सिद्ध होने से वह छबि अधिक स्पष्ट होने लगती है। पहले दिव्य दर्शन ध्यान क्षेत्र में ही रहता है, फिर प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगता है।

२- किसी मनुष्य के रूप का ध्यान, जिन भावनाओं के साथ, प्रबल मनोयोगपूर्वक किया जायेगा, उन भावनाओं के अनुरूप उस व्यक्ति पर प्रभाव पड़ेगा। किसी के विचारों को बदलने, द्वेष मिटाने, मधुर सम्बन्ध उत्पन्न करने, बुरी आदतें छुड़ाने, आशीर्वाद या शाप से लाभ हानि पहुँचाने आदि के प्रयोग इस साधना के आधार पर होते हैं। तान्त्रिक लोग विशेष कर्मकाण्डों एवं मन्त्रों द्वारा किसी मनुष्य का रूप आकर्षण करके उसे रोगी, पागल एवं वशवर्ती करते देखे गये हैं।

३-छाया पुरुष की सिद्धि भी रूप-साधना का एक अंग है। शुद्ध शरीर और शुद्ध वस्त्रों से, बिना भोजन किये मनुष्य की लम्बाई के दर्पण के सामने खड़े होकर अपनी आकृति ध्यानपूर्वक देखिये। थोड़ी देर बाद नेत्र बन्द कर लीजिए और उस दर्पण की आकृति का ध्यान कीजिए। अपनी छबि आपको दृष्टिगोचर होने लगेगी, कई व्यक्ति दर्पण की अपेक्षा स्वच्छ पानी में, तिल के तेल या पिघले हुए घृत में अपनी छबि देखकर उसका ध्यान करते हैं। दर्पण की साधना-शांतिदायक, तेल की संहारक और घृत की उत्पादक होती है। सूर्य और चन्द्रमा जब मध्य आकाश में ऐसे स्थान पर हों कि उनके प्रकाश में खड़े होने पर अपनी छाया ३ ॥ हाथ रहे, उस समय अपनी छाया पर भी उस प्रकार साधन कल्याणकारक माना गया है।

दर्पण, जल, तेल, घृत आदि में मुखाकृति स्पष्ट दीखती है और नेत्र बन्द करके वैसा ही ध्यान हो जाता है। सूर्य, चन्द्र की ओर पीठ करके खड़े होने से अपनी छाया सामने आती है। उसे खुले नेत्रों से भली प्रकार देखने

के उपरान्त आँखें बन्द करके उसकी छाया का ध्यान करते हैं । कुछ दिनों के नियमित अभ्यास से उस छाया में अपनी आकृति भी दिखाई देने लगती है ।

कुछ काल निरन्तर इस छाया-साधना को करते रहा जाए, तो अपनी आकृति की एक अलग सत्ता बन जाती है और उसमें अपने संकल्प एवं प्राण का सम्मिश्रण होते जाने से वह एक स्वतंत्र चेतना का प्राणी बन जाता है । उसके अस्तित्व को 'अपना जीवित भूत' कह सकते हैं । आरम्भिक अवस्था में यह आकाश में उड़ता या अपने आस-पास फिरता दिखाई देता है । फिर उस पर जब अपना नियंत्रण हो जाता है तो आज्ञानुसार प्रकट होता तथा आचरण करता है । जिनका प्राण निर्बल है उनका यह मानस-पुत्र (छाया पुरुष) भी निर्बल होगा और अपना रूप दिखाने के अतिरिक्त और कुछ विशेष कार्य न कर सकेगा । पर जिनका प्राण प्रबल होता है उनका छाया-पुरुष, दूसरे अदृश्य शरीर की भाँति कार्य करता है । एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म देह, दो प्रकट देहें पाकर साधक बहुत से महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त कर लेता है । साथ ही रूप-साधना द्वारा मन का वश में होना तथा एकाग्र होना तो प्रत्यक्ष लाभ है ही ।

रस साधना

जो फल आपको सबसे स्वादिष्ट लगता हो, उसे इस साधना के लिए लीजिए । जैसे आपको कलमी आम अधिक रुचिकर है, तो उसके छोटे-छोटे पाँच टुकड़े कीजिए । एक टुकड़ा जिह्वा के अग्र भाग पर एक मिनट तक रखा रहने दें और उसके स्वाद का स्मरण इस प्रकार करें कि बिना आम के भी आम का स्वाद जिह्वा को होता रहे । दो मिनट में वह अनुभव शिथिल होने लगेगा, फिर दूसरा टुकड़ा जीभ पर रखिये और पूर्ववत् उसे फेंककर आम के स्वाद का अनुभव कीजिए । इस प्रकार पाँच बार करने में पन्द्रह मिनट लगते हैं ।

धीरे-धीरे जिह्वा पर कोई वस्तु रखने का समय कम करना चाहिए और बिना किसी वस्तु के रस के अनुभव करने का समय बढ़ाना चाहिए । कुछ समय पश्चात् बिना किसी वस्तु को जीभ पर रखे भी केवल भावना मात्र से इच्छित वस्तु का पर्याप्त समय तक रसास्वादन किया जा सकता है ।

शरीर के लिए जिन रसों की आवश्यकता है, वे पर्याप्त मात्रा में आकाश में भ्रमण करते रहते हैं । संसार में जितने पदार्थ हैं उनका कुछ अंश वायु में, कुछ तरल रूप में और कुछ ठोस आकृति में रहता है । अन्न को हम ठोस आकृति में ही देखते हैं । भूमि में, जल में वह परमाणु रूप से रहता है और आकाश में अन्न का वायु अंश उड़ता रहता है । साधना की सिद्धि हो जाने पर आकाश में उड़ते फिरने वाले अन्नों को मनोबल द्वारा, संकल्प शक्ति के आकर्षण द्वारा खींचकर उदरस्थ किया जा सकता है । प्राचीन काल में ऋषि लोग दीर्घकाल तक बिना अन्न, जल के तपस्यायें करते थे । वे इस सिद्धि द्वारा आकाश में से ही अभीष्ट आहार प्राप्त कर लेते थे, इसलिए बिना अन्न, जल के भी उनका काम चलता था । इस साधना का साधक बहुमूल्य पौष्टिक पदार्थों, औषधियों एवं स्वादिष्ट रसों का उपभोग अपने साधना बल द्वारा ही कर सकता है तथा दूसरों के लिए वह वस्तुयें आकाश में उत्पन्न करके इस तरह दे सकता है, मानों किसी के द्वारा कहीं से मँगाकर दी हों ।

गन्ध साधना

नासिका के अग्र भाग पर त्राटक करना इस साधना में आवश्यक है । दोनों नेत्रों से एक साथ नासिका के अग्र भाग पर त्राटक नहीं हो सकता । इसलिए एक मिनट दाहिनी ओर तथा एक मिनट बायीं ओर करना उचित है । दाहिने नेत्र को प्रधानता देकर उससे नाक के दाहिने हिस्से को और फिर बायें नेत्र को प्रधानता देकर बायें हिस्से को गम्भीर दृष्टि से देखना चाहिए । आरम्भ एक-एक मिनट से करके अन्त में पाँच-पाँच मिनट तक बढ़ाया जा सकता है । इस त्राटक में नासिका की सूक्ष्म शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं ।

इस त्राटक के बाद कोई सुगन्धित तथा सुन्दर पुष्प लीजिए । उसे नासिका के समीप ले जाकर एक मिनट

तक धीरे-धीरे सूँघिये और उसी गन्ध का भली प्रकार स्मरण कीजिए। इसके बाद फूल को फेंक दीजिए और बिना फूल के ही उस गन्ध को दो मिनट तक स्मरण कीजिए। इसके बाद दूसरा फूल लेकर फिर इसी क्रम की पुनरावृत्ति कीजिए। पाँच फूलों पर पन्द्रह मिनट प्रयोग करना चाहिए। स्मरण रहे कम-से-कम एक सप्ताह तक एक ही फूल का प्रयोग होना चाहिए। इसी प्रकार रस साधना में एक फल का एक सप्ताह तक प्रयोग होना चाहिए।

कोई भी सुन्दर पुष्प गन्ध-साधना के लिए लिया जा सकता है। भिन्न पुष्पों के भिन्न गुण हैं। गुलाब-प्रेमोत्पादक, चमेली-बुद्धिवर्धक, गैंदा- उत्साह बढ़ाने वाला, चम्पा- सौन्दर्यदायक, कनेर- उष्ण, सूर्यमुखी-ओजवर्धक है। प्रत्येक पुष्प में कुछ सूक्ष्म गुण होते हैं। जिस पुष्प को सामने रखकर उसका ध्यान किया जायेगा, उसी के सूक्ष्म गुण अपने में बढ़ेंगे।

हवन, गन्ध-योग से सम्बन्धित है। किन्हीं पदार्थों की सूक्ष्म प्राण—शक्ति को प्राप्त करने के लिए उनसे विधि पूर्वक हवन किया जाता है। जिससे उनका स्थूल रूप तो जल जाता है, पर सूक्ष्म रूप से वायु के साथ चारों ओर फैलकर निकटस्थ लोगों की प्राण-शक्ति में अभिवृद्धि करता है। सुगन्धित वातावरण में अनुकूल प्राण की मात्रा अधिक होती है, इससे उसे नासिका द्वारा प्राप्त करते हुए अन्तःकरण प्रसन्न होता है।

गन्ध- साधना से मन की एकाग्रता के अतिरिक्त भविष्य का आभास करने की शक्ति बढ़ती है। सूर्य स्वर (दायाँ) और चन्द्र स्वर (बायाँ) सिद्ध हो जाने पर साधक अच्छा भविष्य- ज्ञाता हो सकता है। नासिका द्वारा साधा जाने वाला स्वर-योग भी गन्ध-साधना की एक शाखा है।

स्पर्श - साधना

१- बर्फ या कोई अन्य शीतल वस्तु शरीर पर एक मिनट लगा कर फिर उसे उठाये और दो मिनट तक अनुभव करें कि वह ठण्डक मिल रही है। सह्य उष्णता का गरम किया हुआ पत्थर का टुकड़ा शरीर से स्पर्श कराकर उसकी अनुभूति कायम रहने की भावना कीजिए। पंखा झलकर हवा करना, चिकना काँच का गोला या रुई की गेंद त्वचा पर स्पर्श करके फिर उस स्पर्श का ध्यान रखना भी इस प्रकार का अभ्यास है। ब्रुश से रगड़ना, लोहे का गोला उठाना, जैसे अभ्यासों से इसी प्रकार की ध्यान भावना की जा सकती है।

२- किसी समतल भूमि पर एक बहुत ही मुलायम गद्दा बिछाकर उस पर चित्त लेटे रहिये, कुछ देर तक उसकी कोमलता का स्पर्श सुख अनुभव करते रहिये, इसके बाद बिना गद्दा के कठोर जमीन या तख्त पर लेट जाइये। कठोर भूमि पर पड़े रहकर कोमल गद्दे के स्पर्श की भावना कीजिए, फिर पलटकर गद्दे पर आ जाइये और कठोर भूमि की कल्पना कीजिए। इस प्रकार भिन्न परिस्थिति में भिन्न वातावरण की भावना से तितिक्षा की सिद्धि मिलती है। स्पर्श- साधना की सफलता से शारीरिक कष्टों को हँसते-हँसते सहने की शक्ति पैदा होती है।

स्पर्श- साधना से तितिक्षा की सिद्धि मिलती है। सर्दी, गर्मी, वर्षा, चोट, फोड़ा, दर्द आदि से जो शरीर को कष्ट होते हैं, उनका कारण त्वचा में जल की तरह फैले हुए ज्ञान-तन्तु ही हैं। यह ज्ञान तन्तु छोटे से आघात, कष्ट या अनुभव को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं, तदनुसार मस्तिष्क को पीड़ा का भान होने लगता है। कोकीन का इन्जेक्शन लगाकर इन ज्ञान तन्तुओं को शिथिल कर दिया जाय, तो आपरेशन करने में भी उस स्थान पर पीड़ा नहीं होती है। कोकीन इन्जेक्शन तो शरीर को पीछे से हानि भी पहुँचाता है पर स्पर्श साधना द्वारा प्राप्त हुई 'ज्ञान-तन्तु नियन्त्रण शक्ति' किसी प्रकार की हानि पहुँचाना तो दूर उल्टी नाड़ी संस्थान के अनेक विकारों को दूर करने में सफल होती है, साथ ही शारीरिक पीड़ाओं का भान भी नहीं होने देती।

भीष्म पितामह उत्तरायण सूर्य आने की प्रतीक्षा में कई महीने बाणों से छिदे हुए पड़े रहे थे। तिल-तिल शरीर में बाण लगे थे; फिर भी कष्ट से चिल्लाना तो दूर वे उपस्थित लोगों को बड़े ही गूढ़ विषयों का उपदेश देते रहे। ऐसा करना उनके लिए तभी सम्भव हो सका; जब उन्हें तितिक्षा की सिद्धि थी, अन्यथा हजारों बाणों में छिदा होना तो दूर एक सुई या काँटा लग जाने पर लोग होश- हवास भूल जाते हैं।

स्पर्श-साधना से चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं। मन को वश में करने से जो लाभ मिलते हैं, उनके अतिरिक्त

तितिक्षा की सिद्धि भी साथ में हो जाती है; जिससे कर्मयोग एवं प्रकृति प्रवाह से शरीर को होने वाले कष्टों को भोगने से साधक बच जाता है।

मन को आज्ञानुवर्ती, नियन्त्रित, अनुशासित बनाना जीवन को सफल बनाने की अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या है। अपना दृष्टिकोण चाहे आध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक, चाहे अपनी प्रवृत्तियाँ परमार्थ की ओर हों या स्वार्थ की ओर, मन का नियन्त्रण हर स्थिति में आवश्यक है। उच्छृंखल, चञ्चल या अव्यवस्थित मन से न लोक न परलोक, कुछ भी नहीं मिल सकता। मनोनिग्रह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

मानसिक अव्यवस्था दूर करके मनोबल प्राप्त करने के लिए इस प्रकार जो साधनायें बताई गई हैं, वे बड़ी उपयोगी, सरल एवं सर्व सुलभ हैं। ध्यान, त्राटक, जप एवं तन्मात्रा साधना से मन की चञ्चलता दूर होती है, साथ ही चमत्कारी सिद्धियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार पाश्चात्य योगियों की मैस्मरेजम के तरीके से की गई मन: साधनाओं की अपेक्षा भारतीय विधि की योग पद्धति से की गई साधना, द्विगुणित लाभदायक होती है।

वश में किया हुआ मन सबसे बड़ा मित्र है, वह सांसारिक और आत्मिक दोनों ही प्रकार के अनेक ऐसे अद्भुत उपहार निरन्तर प्रदान करता रहता है, जिन्हें पाकर मानव- जीवन धन्य हो जाता है। सुरलोक में ऐसा कल्पवृक्ष बताया गया है, जिसके नीचे बैठकर मनचाही कामनायें पूरी हो जाती हैं। मृत्युलोक में, वश में किया हुआ मन ही कल्पवृक्ष है। यह परम सौभाग्य जिसे प्राप्त हो गया, उसे अनन्त ऐश्वर्य का आधिपत्य ही प्राप्त हो गया समझिये।

अनियन्त्रित मन अनेक विपत्तियों की जड़ है। अग्नि जहाँ रखी जायेगी, उसी स्थान को जलायेगी। जिस देह में असंयत मन रहेगा, उसमें नित नई विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ, आपदायें, बुराइयाँ बरसती रहेंगी। इसलिए अध्यात्म विद्या के विद्वानों ने मन को वश में करने की साधना को बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना है। गायत्री का तृतीय मुख मनोमय कोश है। इस कोश को सुव्यवस्थित कर लेना, मानो तीसरे बन्धन को खोल लेना है, आत्मोन्नति की तीसरी कक्षा पार कर लेना है।

विज्ञानमय कोश

अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोशों के उपरान्त आत्मा का चौथा आवरण, गायत्री का चौथा मुख विज्ञानमय कोश है। आत्मोन्नति की चतुर्थ भूमिका में विज्ञानमय कोश की साधना की जाती है।

विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। साधारण ज्ञान के द्वारा हम लोक-व्यवहार को, अपनी शारीरिक, व्यापारिक, सामाजिक, कलात्मक, धार्मिक समस्याओं को समझते हैं। स्थूल में इसी साधारण ज्ञान की शिक्षा मिलती है। राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्प, रसायन, चिकित्सा, संगीत, वक्तृत्व, लेखन, व्यवसाय, कृषि, निर्माण, उत्पादन आदि विविध बातों की जानकारी विविध प्रकार से की जाती है। इन जानकारियों के आधार पर शरीर से सम्बन्ध रखने वाला सांसारिक जीवन चलता है। जिसके पास यह जानकारियाँ जितनी अधिक होंगी, जो लोक व्यवहार में जितना अधिक प्रवीण होगा, उतना ही उसका सांसारिक जीवन उन्नत, यशस्वी, प्रतिष्ठित, सम्पन्न एवं ऐश्वर्यवान् होगा।

किन्तु इस साधारण ज्ञान का परिणाम स्थूल शरीर तक ही सीमित है। आत्मा का उससे कुछ हित सम्पादन नहीं हो सकता। देखा जाता है कि कई व्यक्ति धनवान्, प्रतिष्ठित, नेता और गुणवान् होते हुए भी आत्मिक दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं। कई-कई मनुष्य आत्मा- परमात्मा के बारे में बहुत बातें करते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति, वेदान्त योग आदि के बारे में बहुत-सी बातें पढ़-सुनकर अपनी जानकारी बढ़ा लेते हैं और बड़ी-बड़ी बातें बढ़-चढ़कर करते हैं तथा साथियों पर अपनी विशेषता की छाप जमाते हैं। इतना करते हुए भी वस्तुत: उनकी आत्मिक धारणायें बड़ी निर्बल होती हैं। श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से उनकी स्थिति साधारण लोगों से कुछ अच्छी नहीं होती।

गीता, उपनिषद्, रामायण, वेदशास्त्र आदि सद्ग्रन्थों के पढ़ने एवं सत्पुरुषों के प्रवचन सुनने से आत्मिक विषयों की जानकारी बढ़ती है। जो उस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले जिज्ञासुओं के लिए आवश्यक भी है। परन्तु इन विषयों की विस्तृत जानकारी प्राप्त होने पर भी यह आवश्यक नहीं कि उस व्यक्ति को आत्मज्ञान हो ही जाए।

इसमें तो सन्देह नहीं कि शिक्षा प्राप्त करना, भाषा ज्ञान, शास्त्राध्ययन आदि जीवन के विकास के लिए आवश्यक है और इनके द्वारा आध्यात्मिक प्रगति में भी सहायता मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति कबीर, रैदास और तुकाराम की तरह सामान्य प्रेरणा पाकर ही आत्मज्ञानी नहीं बन सकता, पर वर्तमान समय में लोगों ने भौतिक जीवन को इतना अधिक महत्त्व दे दिया है, धनोपार्जन को वे इतना सर्वोपरि गुण मानते हैं कि अध्यात्म की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती, उल्टा वे उसे अनावश्यक समझने लग जाते हैं।

इस पुस्तक के आरम्भ में वरुण और भृगु की कथा दी गई है, भृगु पूर्ण विद्वान् थे, वेद-वेदान्तों के पूरे ज्ञाता थे। फिर भी जानते थे कि मुझे आत्मज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, विज्ञान प्राप्त नहीं है, इसलिए वरुण के पास जाकर उन्होंने प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दीजिए।' वरुण ने भृगु को कोई पुस्तक नहीं पढ़ाई और न कोई लम्बा-चौड़ा प्रवचन ही सुनाया। वरन् उन्होंने आदेश दिया कि - 'तप करो।' तप करने से एक-एक कोश को पार करते हुए क्रमशः उन्होंने ब्रह्म को प्राप्त किया। ऐसी ही अनेक कथायें हैं। उद्दालक ने श्वेतकेतु को, ब्रह्मा ने इन्द्र को, अंगिरा ने विवस्वान् को इसी प्रकार तप करके ब्रह्म को जानने का आदेश किया था।

ज्ञान का अभिप्राय है जानकारी। विज्ञान का अभिप्राय है श्रद्धा, धारणा, मान्यता, अनुभूति। आत्मविद्या के सभी जिज्ञासु यह जानते हैं कि "आत्मा अमर है, शरीर से भिन्न है, ईश्वर का अंश है, सच्चिदानन्द स्वरूप है" परन्तु इस जानकारी का एक कण भी अनुभूति भूमिका में नहीं होता। स्वयं को तथा दूसरों को मरते देखकर हृदय विचलित हो जाता है। शरीर के लाभ के लिए आत्मा के लाभों की उपेक्षा प्रतिक्षण होती रहती है। दीनता, अभाव, तृष्णा, लालसा हर घड़ी सताती रहती है। तब कैसे कहा जाय कि आत्मा की अमरता, शरीर की भिन्नता तथा ईश्वर के अंश होने की मान्यता पर हमें श्रद्धा है, आस्था, विश्वास है।

अपने सम्बन्ध में तात्त्विक मान्यता स्थिर करना और उसका पूर्णतया अनुभव करना यही विज्ञान का उद्देश्य है। आमतौर से लोग अपने को शरीर मानते हैं, स्थूल शरीर से जैसे कुछ हम हैं, वही उनकी आत्म मान्यता है। जाति, वंश, प्रदेश, सम्प्रदाय, व्यवसाय, पद, विद्या, धन, आयु, स्थिति, लिंग आदि के आधार पर वह मान्यता बनाई जाती है कि मैं कौन हूँ ? यह प्रश्न पूछने पर कि 'आप कौन हैं' लोग इन्हीं बातों के आधार पर अपना परिचय देते हैं। अपने को समझते भी वे यही हैं। इस मान्यता के आधार पर ही अपने स्वार्थों का निर्धारण होता है। जिस स्थिति में स्वयं हैं उसी स्थिति का अहंकार अपने में जाग्रत् होता और स्थिति तथा अहंकार की पूर्ति, तुष्टि तथा सन्तुष्टि जिस प्रकार होनी सम्भव दिखाई पड़ती है, वही जीवन की अन्तरंग नीति बन जाती है।

बाहर से लोग धर्म और सदाचार की, सिद्धान्तों और आदर्शों की बातें करते रहते हैं, पर उनका अन्तःकरण उसी दिशा में काम करता है, जिस ओर उनकी अन्तरंग जीवन नीति प्रेरणा देती है। जब अपने को शरीर मान लिया गया है, तो शरीर का सुख ही अभीष्ट होना चाहिए। इन्द्रिय भोगों की, मौज मजे की, मान बड़ाई की, ऐश आराम की प्राप्ति ही शरीर का सुख है, इन सुखों के लिए धन की आवश्यकता है। अस्तु, धन को अधिक से अधिक जुटाना और भोग-ऐश्वर्य में निमग्न रहना यही प्रधान कार्यक्रम हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो किया जाता है, वह तो एक प्रकार की तफरीह के लिए, विनोद के लिए होता है। ऐसे लोग कभी-कभी धर्म-चर्चा या पूजा-पाठ भी करते देखे जाते हैं। यह उनका मन बहलाव मात्र है। स्थिर लक्ष्य तो उनका वही रहेगा, जो आत्म मान्यता के आधार पर निर्धारित किया गया है। आमतौर से आज यही भौतिक दृष्टि सर्वत्र दृष्टिगोचर है। धन और भोग की छीना-झपटी में लोग एक दूसरे से बाजी मारने में इसी दृष्टिकोण के कारण जी-जान से जुटे हुए हैं। परिणामस्वरूप जिन कलह, क्लेशों का सामना करना पड़ रहा है, वह सामने है।

विज्ञान इस अज्ञान रूपी अन्धकार से हमें बचाता है। जिस मनोभूमि में पहुँचकर जीव यह अनुभव करता है कि मैं शरीर नहीं वस्तुतः "आत्मा ही हूँ" उस मनोभूमि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश में जब तक जीव की स्थिति रहती है, तब तक वह अपने को स्त्री-पुरुष, मनुष्य, पशु, मोटा-पतला, पहलवान, काला, गोरा आदि शरीर सम्बन्धी भेदों से पहचानता है। जब प्राणमय कोश में जीव की स्थिति होती है, तो गुणों के आधार पर अपनत्व का बोध होता है। शिल्पी, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, मूर्ख, कायर, शूरवीर, लेखक, वक्ता, धनी, गरीब आदि

की मान्यताएँ प्राण भूमिका में होती हैं । मनोमय कोश की स्थिति में पहुँचने पर अपने मन की मान्यता स्वभाव के आधार पर होती है । लोभी, दम्भी, चोर, उदार, विषयी, संयमी, नास्तिक, आस्तिक, स्वार्थी, परमार्थी, दयालु, निष्ठुर आदि कर्तव्य और धर्म की औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी मान्यतायें जब अपने सम्बन्ध में बनती हों, उन्हीं पर विशेष ध्यान रहता हो, तो समझना चाहिए कि जीव मनोमय भूमिका की तीसरी कक्षा में पहुँचा हुआ है । इससे चौथी कक्षा विज्ञान भूमिका है, जिसमें पहुँचकर जीव अपने को यह अनुभव करने लगता है कि मैं शरीर से, गुणों से, स्वभाव से ऊपर हूँ, मैं ईश्वर का राजकुमार, अविनाशी आत्मा हूँ ।

जीभ से अपने को आत्मा कहने वाले असंख्य लोग हैं, उन्हें आत्मज्ञानी नहीं कह सकते । आत्मज्ञानी वह है, जो दृढ़ विश्वास और पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने भीतर यह अनुभव करता है कि "मैं विशुद्ध हूँ, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं ।" शरीर मेरा वाहन है । प्राण मेरा अस्त्र है । मन मेरा सेवक है । मैं इन सबसे ऊपर, इन सबसे अलग इन सबका स्वामी आत्मा हूँ । मेरे स्वार्थ इनसे अलग हैं, मेरे लाभ और स्थूल शरीर के लाभों में, स्वार्थों में भारी अन्तर है । इस अन्तर को समझकर जीव अपने लाभ, स्वार्थ, हित और कल्याण के लिए कटिबद्ध होता है, आत्मोन्नति के लिए अग्रसर होता है, तो उसे अपना स्वरूप और भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है ।

विज्ञानमय कोश की चतुर्थ भूमिका में पहुँचे हुए जीव का दृष्टिकोण सांसारिक जीवों से भिन्न होता है । गीता में योगी का लक्षण बताया गया है कि जब सब जीव सोते हैं, तब योगी जागता है और सब जीव जब जागते हैं, तब योगी सो जाता है । इन आलंकारिक शब्दों में रात को जागने और दिन में सोने का विधान नहीं है । वरन् यह बताया गया है कि जिन चीजों के लिए साधारण लोग बेतरह इच्छुक, प्यासे, लालायित, सतृष्ण और आकांक्षी रहते हैं, योगी का मन इधर से फिर जाता है; क्योंकि वह देखता है कि कामिनी और कञ्चन की माया शरीर को गुदगुदाती है, पर आत्मा को ले बैठती है । इससे क्षणिक सुख के लिए स्थिर आनन्द का नाश करना उचित नहीं है । जिन धन-सन्तान, कुटुम्ब-कबीला, शत्रु-मित्र, हानि- लाभ, आगा-पीछा, निन्दा-स्तुति आदि की समस्याओं में साधारण लोग बेतरह फँसे रहते हैं, ये बातें योगी के लिए अबोध बच्चों की 'बालक्रीड़ा' से अधिक कुछ भी महत्त्व की दिखाई नहीं देती । इसलिये वे उनकी ओर से उदास हो जाते हैं । वे इस झमेले को बहुत कम महत्त्व देते हैं । फलस्वरूप यह समस्याएँ उनके लिए अपने आप सुलझ जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं ।

जिन कार्यों में, विचारों में, कामी लोग, मायाग्रस्त व्यक्ति अत्यन्त मोहग्रस्त होकर चिपके रहते हैं, उनकी ओर से योगी मुँह फेर लेते हैं । इस प्रकार वह वहाँ सोया हुआ माना जाता है, जहाँ कि अन्य जीव जागते हैं । इसी प्रकार जिन कार्यों की ओर संयम, त्याग, परमार्थ, आत्मलाभ की ओर सांसारिक जीवों का बिलकुल ध्यान नहीं होता, उनमें योगी दत्तचित्त होकर संलग्न रहता है ।इस स्थिति के बारे में ही गीता में कहा गया है कि जब जीव सोते हैं, तब योगी जागता है ।

शरीर यात्रा के लिए प्राय: सभी मनुष्यों को मिलता-जुलता कार्यक्रम रखना पड़ता है, पर योगी और भोगी के जीवन तथा रीति में भारी अन्तर होता है । प्राय: सभी लोग तड़के, नित्य कर्म से निवृत्त होते और भोजन करके काम में लगते हैं । शाम तक जो श्रम करना पड़ता है, उसमें से अधिकांश समय, अन्न, वस्त्र, जीवन आश्रितों की व्यवस्था में लग जाता है । शाम को फिर नित्य कर्म भोजन और रात को सो जाना । इस धुरी पर सब का जीवन घूमता है, परन्तु अन्त:स्थिति में जमीन आसमान का भेद है । एक मनुष्य अपने शरीर सुख के लिए धन और भोग इकट्ठे करने की योजना सामने रखकर अपने हर विचार और कार्य को करता है, जबकि दूसरा अपने को आत्मा समझकर आत्म-कल्याण की नीति पर चलता है, तो ये विभिन्न दृष्टिकोण ही एक के कामों को पुण्य एवं यज्ञ बना देते हैं और दूसरे के काम पाप एवं बन्धन बन जाते हैं ।

आत्म-ज्ञान, आत्म-साक्षात्कार, आत्म-लाभ, आत्म-प्राप्ति, आत्म-दर्शन, आत्म-कल्याण को जीवन-लक्ष्य माना गया है । यह लक्ष्य तभी पूरा होता है, जब हमारी अन्त:चेतना अपने बारे में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास-भावना के साथ यह अनुभव करे कि मैं वस्तुत: परब्रह्म परमात्मा का अविच्छिन्न अंश, अविनाशी-आत्मा हूँ । इस भावना की पूर्णता, परिपक्वता एवं सफलता का नाम ही आत्म साक्षात्कार है ।

आत्म-साक्षात्कार की चार साधनायें नीचे दी जाती हैं, १- सोऽहं साधना, २- आत्मानुभूति, ३- स्वर संयम, ४- ग्रन्थि-भेद । यह चारों ही विज्ञानमय कोश को प्रबुद्ध करने वाली हैं ।

सोऽहं साधना (अजपा-जाप)

आत्मा के सूक्ष्म अन्तराल में अपने आप के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान मौजूद है । वह अपनी स्थिति की घोषणा प्रत्येक क्षण करती रहती है, ताकि बुद्धि भ्रमित न हो और अपने स्वरूप को न भूले । थोड़ा-सा ध्यान देने पर आत्मा की इस घोषणा को हम स्पष्ट रूप से सुन सकते हैं । उस ध्वनि पर निरन्तर ध्यान दिया जाए, तो उस घोषणा के करने वाले अमृत भण्डार आत्मा तक भी पहुँचा जा सकता है ।

जब एक साँस लेते हैं तो वायु प्रवेश के साथ-साथ एक सूक्ष्म ध्वनि होती है जिसका शब्द "सो ो ो ो ो.... .... " जैसा होता है । जितनी देर साँस भीतर ठहरती है अर्थात् स्वाभाविक कुम्भक होता है, उतनी देर आधे "अ ऽ ऽ ऽ" की सी विराम ध्वनि होती है और जब साँस बाहर निकलती है तो "हं...... " जैसी ध्वनि निकलती है । इन तीनों ध्वनियों पर ध्यान केन्द्रित करने से, अजपा-जाप की "सोऽहं" साधना होने लगती है ।

प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व नित्यकर्म से निपट कर पूरब को मुख करके किसी शान्त स्थान पर बैठिये । मेरुदण्ड सीधा रहे । दोनों हाथों को समेट कर गोदी में रख लीजिए, नेत्र बन्द रखिये । जब नासिका द्वारा वायु भीतर प्रवेश करने लगे, तो सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय को सजग करके ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए कि वायु के साथ-साथ 'सो' की सूक्ष्म ध्वनि हो रही है । इसी प्रकार जितनी देर साँस रुके 'अ' और वायु निकलते समय 'हं' की ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित कीजिये । साथ ही हृदय स्थित सूर्य-चक्र के प्रकाश बिन्दु में आत्मा के तेजोमय स्फुल्लिंग की धारणा कीजिए । जब साँस भीतर जा रही हो और 'सो' की ध्वनि हो रही हो, तब अनुभव कीजिए कि यह तेज बिन्दु परमात्मा का प्रकाश है 'स' अर्थात् परमात्मा 'ऽहम्' अर्थात्- मैं । जब वायु बाहर निकले और 'हं' की ध्वनि हो, तब उसी प्रकाश बिन्दु में भावना कीजिए कि 'यह मैं हूँ ।'

'अ' की विराम भावना परिवर्तन के अवकाश का प्रतीक है । आरम्भ में उस हृदय-चक्र स्थित बिन्दु को 'सो' ध्वनि के समय ब्रह्म माना जाता है और पीछे उसी की 'हं' धारणा में जीव भावना हो जाती है । इस भाव परिवर्तन के लिए 'अ' का अवकाश काल रखा गया है । इसी प्रकार जब 'हं' समाप्त हो जाए, वायु बाहर निकल जाए और नयी वायु प्रवेश करे, उस समय भी जीव- भाव हटाकर उस तेज बिन्दु में ब्रह्म भाव बदलने का अवकाश मिल जाता है । यह दोनों ही अवकाश 'अ ऽ ऽ ऽ' के समान हैं, पर इनकी ध्वनि सुनाई नहीं देती । शब्द तो 'सो' 'ऽहं' का ही होता है ।

'सो' ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है । 'ऽ' प्रकृति का प्रतिनिधि है । 'हं' जीव का प्रतीक है । ब्रह्म, प्रकृति और जीव का सम्मिलन इस अजपा-जाप में होता है । सोऽहं-साधना में तीनों महाकारण एकत्रित हो जाते हैं, जिनके कारण आत्म-जागरण का स्वर्ण सुयोग एक साथ ही उपलब्ध होने लगता है ।

'सोऽहं' साधना की उन्नति जैसे-जैसे होती जाती है, वैसे ही वैसे विज्ञानमय कोश का परिष्कार होता जाता है । आत्म-ज्ञान बढ़ता है और धीरे-धीरे आत्म साक्षात्कार की स्थिति निकट आती चलती है । आगे चलकर साँस पर ध्यान जमाना छूट जाता है और केवल मात्र हृदय स्थित सूर्य-चक्र में विशुद्ध ब्रह्म तेज के ही दर्शन होते हैं । उस समय समाधि की सी अवस्था हो जाती है । हंस योग की परिपक्वता से साधक ब्राह्मी स्थिति का अधिकारी हो जाता है ।

स्वामी विवेकानन्द जी ने विज्ञानमय कोश की साधना के लिए "आत्मानुभूति" की विधि बताई है । उनके अमेरिकन शिष्य रामाचरक ने इस विधि को 'मेन्टल डेवलपमेण्ट' नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक लिखा है ।

आत्मानुभूति - योग

१- किसी शान्त या एकान्त स्थान में जाइये । निर्जन, कोलाहल रहित स्थान इस साधना के लिए चुनना चाहिए । इस प्रकार का एक स्थान घर का स्वच्छ हवादार कमरा भी हो सकता है और नदी तट अथवा उपवन

भी । हाथ मुँह धोकर साधना के लिए बैठना चाहिए । आराम कुर्सी पर अथवा दीवार, वृक्ष या मसनद के सहारे बैठकर भी यह साधना भली प्रकार होती है ।

सुविधापूर्वक बैठ जाइये, तीन लम्बे-लम्बे श्वास लीजिए । पेट में भरी हुई वायु को पूर्ण रूप से बाहर निकालना और फेफड़ों में पूरी हवा भरना एक पूरा श्वास कहलाता है । तीन पूरे श्वास लेने से हृदय और फुफ्फुस की भी उसी प्रकार एक धार्मिक शुद्धि होती है जैसे स्नान करने, हाथ-पाँव धोकर बैठने से शरीर की शुद्धि होती है ।

तीन पूरे साँस लेने के बाद शरीर को शिथिल कीजिए और हर अंग में से खिंचकर प्राणशक्ति हृदय में एकत्रित हो रही है, ऐसा ध्यान कीजिए । हाथ, पाँव आदि सभी अंग—प्रत्यंग शिथिल, ढीले, निर्जीव, निष्प्राण हो गये हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए । "मस्तिष्क से सब विचारधाराएँ और कल्पनाएँ शान्त हो गयीं हैं और समस्त शरीर के अन्दर एक शान्त नीला आकाश व्याप्त हो रहा है ।" ऐसी शान्त, शिथिल अवस्था को प्राप्त करने के लिए कुछ दिन लगातार प्रयत्न करना पड़ता है । अभ्यास से कुछ दिन में अधिक शिथिलता एवं शांति अनुभव होती जाती है ।

शरीर भली प्रकार शिथिल हो जान पर हृदय स्थान में एकत्रित अँगूठे के बराबर, शुभ्र, श्वेत ज्योति-स्वरूप, प्राण शक्ति का ध्यान करना चाहिए । "अजर, अमर, शुद्ध, बुद्ध, चेतन, पवित्र ईश्वरीय अंश आत्मा मैं हूँ । मेरा वास्तविक स्वरूप यही है, मैं सत्, चित्त, आनन्द-स्वरूप आत्मा हूँ ।" उस ज्योति के कल्पना नेत्रों से दर्शन करते हुए उपर्युक्त भावनाएँ मन में रखनी चाहिए ।

२- उपर्युक्त शिथिलासन के साथ आत्मदर्शन करने की साधना इस योग में प्रथम साधना है । जब यह साधना भली प्रकार अभ्यास में आ जाए, तो आगे की सीढ़ी पर पैर रखना चाहिए । दूसरी भूमिका में साधना का अभ्यास नीचे दिया जाता है ।

३- ऊपर लिखी हुई शिथिलावस्था में अखिल आकाश में नील वर्ण आकाश का ध्यान कीजिए । उस आकाश में बहुत ऊपर सूर्य के समान ज्योति-स्वरूप आत्मा को अवस्थित देखिये । "मैं ही यह प्रकाशवान् आत्मा हूँ" - ऐसा निश्चत संकल्प कीजिए । अपने शरीर को नीचे भूतल पर निस्पन्द अवस्था में पड़ा हुआ देखिये, उसके अंग-प्रत्यंगों का निरीक्षण एवं परीक्षण कीजिए । यह हर एक कल—पुर्जा मेरा औजार है, मेरा वस्त्र है । यह यन्त्र मेरी इच्छानुसार क्रिया करने के लिए प्राप्त हुआ है । इस बात को बार-बार मन में दुहराइये । इस निस्पन्द शरीर में खोपड़ी का ढक्कन उठाकर ध्यानावस्था से मन और बुद्धि को दो सेवक शक्तियों के रूप में देखिये । वे दोनों हाथ बाँधे आपकी इच्छानुसार कार्य करने के लिए नतमस्तक खड़े हैं । इस शरीर और मन बुद्धि को देखकर प्रसन्न होइए कि इच्छानुसार कार्य करने के लिए यह मुझे प्राप्त हुए हैं । मैं उनका उपयोग सच्चे आत्म-स्वार्थ के लिए ही करूँगा, यह भावनायें बराबर उस ध्यानावस्था में आपके मन में गूँजती रहनी चाहिए ।

४- जब दूसरी भूमिका का ध्यान भली प्रकार होने लगे, तो तीसरी भूमिका का ध्यान कीजिए ।

अपने को सूर्य की स्थिति में ऊपर आकाश में अवस्थित देखिये । "मैं समस्त भूमण्डल पर अपनी प्रकाश किरणें फेंक रहा हूँ । संसार मेरा कर्म-क्षेत्र और लीलाभूमि है, भूतल की वस्तुओं और शक्तियों को मैं इच्छित प्रयोजनों के लिये काम में लाता हूँ, पर वे मेरे ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकतीं । पञ्चभूतों की गतिविधि के कारण जो हलचलें संसार में हर घड़ी होती हैं, वे मेरे लिए एक विनोद और मनोरंजक दृश्य मात्र हैं, मैं किसी भी सांसारिक हानि-लाभ से प्रभावित नहीं होता । मैं शुद्ध, चैतन्य, सत्यस्वरूप, पवित्र, निर्लेप, अविनाशी आत्मा हूँ । मैं आत्मा हूँ, महान् आत्मा हूँ । महान् परमात्मा का विशुद्ध स्फुलिंग हूँ ।" यह मन्त्र मन ही मन जपिये ।

तीसरी भूमिका का ध्यान जब अभ्यास के कारण पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाए और हर घड़ी वह भावना रोम-रोम में प्रतिभासित होने लगे, तो समझना चाहिए कि इस साधना की सिद्धावस्था प्राप्त हो गई, यह जाग्रत् समाधि या जीवन-मुक्त अवस्था कहलाती है ।

आत्मचिन्तन की साधना

रात को सब कार्यों से निवृत्त होकर जब सोने का समय हो, तो सीधे चित्त लेट जाइये । पैर सीधे फैला दीजिए, हाथों को मोड़कर पेट पर रख लीजिए । सिर सीधा रहे । पास में दीपक जल रहा हो, तो बुझा दीजिए या मन्द कर दीजिए । नेत्रों को अधखुला रखिए ।

अनुभव कीजिए कि आपका आज का एक दिन, एक जीवन था । अब जबकि एक दिन समाप्त हो रहा है, तो एक जीवन की इतिश्री हो रही है । निद्रा एक मृत्यु है । अब इस घड़ी में एक दैनिक जीवन को समाप्त करके मृत्यु की गोद में जा रहा हूँ ।

आज के जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि से समालोचना कीजिए । प्रातःकाल से लेकर सोते समय तक के कार्यों पर दृष्टिपात कीजिए । मुझ आत्मा के लिए वह कार्य उचित था या अनुचित ? यह उचित था, तो जितनी सावधानी एवं शक्ति के साथ उसे करना चाहिए था उसके अनुसार किया या नहीं ? बहुमूल्य समय का कितना भाग उचित रीति से, कितना अनुचित रीति से, कितना निरर्थक रीति से व्यतीत किया ? वह दैनिक जीवन सफल रहा या असफल ? आत्मिक पूँजी में लाभ हुआ या घाटा ? सद्वृत्तियाँ प्रधान रहीं या असद्वृत्तियाँ ? इस प्रकार के प्रश्नों के साथ दिनभर के कार्यों का भी निरीक्षण कीजिए ।

जितना अनुचित हुआ हो, उसके लिए आत्म-देव के सम्मुख पश्चात्ताप करें । जो उचित हुआ हो उसके लिए परमात्मा को धन्यवाद दीजिए और प्रार्थना कीजिए कि आगामी जीवन में, कल के जीवन में, उस दिशा में विशेष रूप से अग्रसर करें । इसके पश्चात् शुभ्र वर्ण आत्म-ज्योति का ध्यान करते हुए निद्रा देवी की गोद में सुखपूर्वक चले जाइये ।

दूसरी साधना

प्रातःकाल जब नींद पूरी तरह खुल जाए, तो अँगड़ाई लीजिए । तीन पूरे लम्बे साँस खींचकर सचेत हो जाइये ।

भावना कीजिए कि आज नया जीवन ग्रहण कर रहा हूँ । नया जन्म धारण करता हूँ । इस जन्म को इस प्रकार खर्च करूँगा कि आत्मिक पूँजी में अभिवृद्धि हो । कल के दिन-पिछले दिन जो भूलें हुई थीं, आत्म-देव के सामने जो पश्चात्ताप किया था, उसका ध्यान रखता हुआ आज के दिन का अधिक उत्तमता के साथ उपयोग करूँगा ।

दिनभर के कार्यक्रम की योजना बनाइये । इन कार्यों में जो खतरा सामने आने को है उसे विचारिये और उससे बचने के लिए सावधान होइए । उन कार्यों से जो आत्म-लाभ होने वाला है, वह अधिक हो, इसके लिए और तैयारी कीजिए । यह जन्म, यह दिन, पिछले की अपेक्षा अधिक सफल हो, यह चुनौती अपने आपको दीजिए और उसे साहसपूर्वक स्वीकार कर लीजिए ।

परमात्मा का ध्यान कीजिए और प्रसन्न मुद्रा में एक चैतन्य ताजगी, उत्साह, आशा एवं आत्म विश्वास की भावनाओं के साथ उठकर शय्या का परित्याग कीजिए । शय्या से नीचे पैर रखना मानो आज के नवजीवन में प्रवेश करना है ।

इस आत्म-चिन्तन की साधना से दिन-दिन शरीराध्यास घटने लगता है । शरीर को लक्ष्य करके किए जाने वाले विचार और कार्य शिथिल होने लगते हैं तथा ऐसी विचारधारा एवं कार्य प्रणाली समुन्नत होती है, जिसके द्वारा आत्म-लाभ के लिए अनेक प्रकार के पुण्य आयोजन होते हैं ।

स्वर योग

विज्ञानमय कोश, वायु प्रधान कोश होने के कारण उसकी स्थिति में वायु संस्थान विशेष रूप से सजग रहता है । इस वायु तत्त्व पर यदि अधिकार प्राप्त कर लिया जाए, तो अनेक प्रकार से अपना हित सम्पादन किया जा सकता है ।

स्वर शास्त्र के अनुसार श्वास-प्रश्वास के मार्गों को नाड़ी कहते हैं । शरीर में ऐसी नाड़ियों की संख्या ७२००० है । इनको नसें न समझना चाहिए, स्पष्टत: यह प्राण-वायु आवागमन के मार्ग हैं । नाभि में इसी प्रकार की एक नाड़ी कुण्डली के आकार में है । जिसमें से १- इड़ा, २- पिंगला, ३- सुषुम्ना, ४- गंधारी. ५- हस्त- जिह्वा, ६- पूषा, ७- यशश्विनी, ८- अलंबुषा, ९- कुहू तथा १०- शंखिनी नामक दस नाड़ियाँ निकली हैं और यह शरीर के विभिन्न भागों की ओर चली जाती हैं । इनमें से पहली तीन प्रधान हैं । इड़ा को 'चन्द्र' कहते हैं जो बाँयें नथुने में है । पिंगला को 'सूर्य' कहते हैं, यह दाहिने नथुने में है । सुषुम्ना को वायु कहते हैं जो दोनों नथुनों के मध्य में है । जिस प्रकार संसार में सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से अपना-अपना काम करते हैं, उसी प्रकार इड़ा, पिंगला भी इस जीवन में अपना-अपना कार्य नियमित रूप से करती हैं । इन तीनों के अतिरिक्त अन्य सात प्रमुख नाड़ियों के स्थान इस प्रकार हैं - गांधारी बायें नेत्र में, हस्त-जिह्वा दाहिनी आँख में, पूषा दाहिने कान में, यशश्विनी बाँयें कान में, अलम्बुषा मुख में, कुहू लिंग देश में और शंखिनी गुदा (मूलाधार) में । इस प्रकार शरीर के दस द्वारों में दस नाड़ियाँ हैं ।

हठयोग में नाभिकन्द अर्थात् कुण्डलिनी स्थान गुदा द्वार से लिंग देश की ओर दो अँगुल हटकर मूलाधार चक्र माना गया है । स्वर योग में वह स्थिति माननीय न होगी । स्वर योग शरीर शास्त्र से सम्बन्ध रखता है और शरीर की नाभि या मध्य केन्द्र गुदा-मूल में नहीं, वरन् उदर की टुण्डी में ही हो सकता है । इसलिए यहाँ नाभि देश का तात्पर्य उदर की टुण्डी मानना ही ठीक है । श्वास क्रिया का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उदर से ही है । इसलिए प्राणायाम द्वारा उदर संस्थान तक प्राण वायु को ले जाकर नाभि केन्द्र से इस प्रकार घर्षण किया जाता है कि वहाँ की सुप्त शक्तियों का जागरण हो सके ।

चन्द्र और सूर्य की अदृश्य रश्मियों का प्रभाव स्वरों पर पड़ता है । सब जानते हैं कि चन्द्रमा का गुण शीतल और सूर्य का उष्ण है । शीतलता से स्थिरता, गम्भीरता, विवेक प्रभृति गुण उत्पन्न होते हैं और उष्णता से तेज, शौर्य, चञ्चलता, उत्साह, क्रियाशीलता, बल आदि गुणों का आविर्भाव होता है । मनुष्य को सांसारिक जीवन में शान्तिपूर्ण और अशांतिपूर्ण दोनों ही तरह के काम करने पड़ते हैं । किसी भी काम का अन्तिम परिणाम उसके आरम्भ पर निर्भर है । इसलिए विवेकी पुरुष अपने कर्मों को आरंभ करते समय यह देख लेते हैं कि हमारे शरीर और मन की स्वाभाविक स्थिति इस प्रकार काम करने के अनुकूल है कि नहीं ? एक विद्यार्थी को रात में उस समय पाठ याद करने के लिए दिया जाए, जबकि उसकी स्वाभाविक स्थिति निद्रा चाहती है, तो वह पाठ को अच्छी तरह याद न कर सकेगा । यदि यही पाठ उसे प्रात:काल की अनुकूल स्थिति में दिया जाए, तो आसानी से सफलता मिल जायेगी । ध्यान, भजन-पूजा, मनन, चिन्तन के लिए एकान्त की आवश्यकता है, किन्तु उत्साह भरने और युद्ध के लिए कोलाहलपूर्ण वातावरण की, बाजों की घोर ध्वनि की आवश्यकता होती है । ऐसी उचित स्थितियों में किए कार्य अवश्य ही फलीभूत होते हैं । इसी दृष्टिकोण के आधार पर स्वर-योगियों ने आदेश किया है कि विवेकपूर्ण और स्थायी कार्य चन्द्र स्वर में किए जाने चाहिए, जैसे- विवाह, दान, मन्दिर, कुआँ, तालाब बनाना, नवीन वस्त्र धारण करना, घर बनाना, आभूषण बनवाना, शान्ति के काम, पुष्टि के काम, शफाखाना, औषधि देना, रसायन बनाना, मैत्री, व्यापार, बीज बोना, दूर की यात्रा, विद्याभ्यास, योग क्रिया आदि । यह सब कार्य ऐसे हैं जिनमें अधिक गम्भीरता और बुद्धिपूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है, इसलिए इनका आरम्भ भी ऐसे ही समय में होना चाहिए, जब शरीर के सूक्ष्म कोश चन्द्रमा की शीतलता को ग्रहण कर रहे हों ।

उत्तेजना, आवेश एवं जोश के साथ करने पर जो कार्य ठीक होते हैं, उनके लिए सूर्य-स्वर उत्तम कहा गया है । जैसे क्रूर कार्य, स्त्री-भोग, भ्रष्ट कार्य, युद्ध करना, देश का ध्वंस करना, विष खिलाना, मद्य पीना, हत्या करना, खेलना, काठ, पत्थर, पृथ्वी, रत्न को तोड़ना, तंत्रविद्या, जुआ, चोरी, व्यायाम, नदी पार करना आदि । यहाँ उपर्युक्त कठोर कर्मों का समर्थन या निषेध नहीं है । शास्त्रकार ने तो एक वैज्ञानिक की तरह विश्लेषण कर दिया है कि ऐसे कार्य उस वक्त अच्छे होंगे, जब सूर्य की उष्णता के प्रभाव से जीवन तत्त्व उत्तेजित हो रहा हो । शान्तिपूर्ण

मस्तिष्क से भली प्रकार ऐसे कार्यों को कोई व्यक्ति कैसे कर सकता ? इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि सूर्य स्वर में अच्छे कार्य नहीं होते । संघर्ष और युद्ध आदि कार्य देश, समाज अथवा आश्रित की रक्षार्थ भी हो सकते हैं और उनको सब कोई प्रशंसनीय बतलाता है । इसी प्रकार विशेष परिश्रम के कार्यों का सम्पादन भी समाज और परिवार के लिए अनिवार्य होता है । वे भी सूर्य-स्वर में उत्तमतायुक्त होते हैं ।

कुछ क्षण के लिए जब दोनों नाड़ी इड़ा, पिंगला रुककर, सुषुम्ना चलती है तब प्राय: शरीर संधि अवस्था में होता है । वह संध्याकाल है । दिन के उदय और अस्त को भी संध्याकाल कहते हैं । इस समय जन्म या मरण काल के समान पारलौकिक भावनायें मनुष्य में जाग्रत् होती हैं और संसार की ओर से विरक्ति, उदासीनता एवं अरुचि होने लगती है । स्वर की सन्ध्या से भी मनुष्य का चित्त सांसारिक कार्यों से कुछ उदासीन हो जाता है और अपने वर्तमान अनुचित कार्यों पर पश्चात्ताप स्वरूप खिन्नता प्रकट करता हुआ, कुछ आत्म- चिन्तन की ओर झुकता है । वह क्रिया बहुत ही सूक्ष्म होती है, अल्पकाल के लिए आती है, इसलिए हम अच्छी तरह पहचान भी नहीं पाते । यदि इस समय परमार्थ चिन्तन और ईश्वराराधना का अभ्यास किया जाए, तो नि:सन्देह उसमें बहुत उन्नति हो सकती है, किन्तु सांसारिक कार्यों के लिए यह स्थिति उपयुक्त नहीं है । इसलिए सुषुम्ना स्वर में आरम्भ होने वाले कार्यों का परिणाम अच्छा नहीं होता, वे अक्सर अधूरे या असफल रह जाते हैं । सुषुम्ना की दशा में मानसिक विकार दब जाते हैं और गहरे आत्मिक भाव का थोड़ा—बहुत उदय होता है, इसलिए इस समय में दिये हुए शाप या वरदान अधिकांश फलीभूत होते हैं; क्योंकि इन भावनाओं के साथ आत्म-तत्त्व का बहुत कुछ सम्मिश्रण होता है । इड़ा शीत ऋतु है, तो पिंगला ग्रीष्म ऋतु । जिस प्रकार शीत ऋतु के महीनों में शीत की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार चन्द्र नाड़ी शीतल होती है और ग्रीष्म ऋतु के महीनों में जिस प्रकार गर्मी की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार सूर्य नाड़ी में उष्णता एवं उत्तेजना का प्राधान्य होता है ।

स्वर बदलना

कुछ विशेष कार्यों के सम्बन्ध में स्वर शास्त्रज्ञों के जो अनुभव हैं, उनकी जानकारी सर्वसाधारण के लिए बहुत ही सुविधाजनक होगी । बताया गया है कि प्रस्थान करते समय चलित स्वर के शरीर भाग को हाथ से स्पर्श करके उस चलित स्वर वाले कदम को आगे बढ़ाकर (यदि चन्द्र नाड़ी चलती हो तो ४ बार और सूर्य- स्वर है तो ५ बार उसी पैर को जमीन पर पटक कर) प्रस्थान करना चाहिए । यदि किसी क्रोधी पुरुष के पास जाना है तो अचलित स्वर (जो स्वर न/चल रहा हो) के पैर को पहले आगे बढ़ाकर प्रस्थान करना चाहिए और अचलित स्वर की ओर उस पुरुष को करके बातचीत करनी चाहिए । इसी रीति से उसकी बढ़ी हुई उष्णता को अपना अचलित स्वर की ओर का शान्त भाग अपनी आकर्षण विद्युत् को खींचकर शान्त बना देगा और मनोरथ में सिद्धि प्राप्त होगी । गुरु, मित्र, अफसर, राजदरबार से जबकि वाम स्वर चलित हो तब वार्तालाप या कार्यारम्भ करना ठीक है ।

कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब कार्य अत्यन्त ही आवश्यक हो सकता है; किन्तु उस समय स्वर विपरीत चलता है । तब क्या उस कार्य के किए बिना ही बैठा रहना चाहिए ? नहीं ऐसा करने की जरूरत नहीं है । जिस प्रकार जब रात को निद्रा आती है; किन्तु उस समय कुछ कार्य करना आवश्यक होता है, तब चाय आदि किसी उत्तेजक पदार्थ की सहायता से शरीर को चैतन्य करते हैं, उसी प्रकार हम कुछ उपायों द्वारा स्वर को बदल भी सकते हैं । नीचे कुछ ऐसे नियम लिखे जाते हैं ।

१- जो स्वर नहीं चल रहा उसे अँगूठे से दबायें और जिस नथुने से साँस चलती है उससे हवा खींचे, फिर जिससे श्वास खींची है उसे दबाकर पहले नथुने से यानि जिस स्वर को चलाना है, उससे श्वास छोड़ें । इस प्रकार कुछ देर तक बार-बार करें । श्वास की चाल बदल जाएगी ।

२- जिस नथुने से श्वास चल रहा हो, उसी करवट से लेट जाएँ, तो स्वर बदल जायेगा । इस प्रयोग के साथ पहला प्रयोग करने से स्वर और भी शीघ्र बदलता है ।

३- जिस तरफ का स्वर चल रहा हो, उस ओर की काँख (बगल) में कोई सख्त चीज कुछ देर दबाकर रखो, तो स्वर बदल जाता है । पहले और दूसरे प्रयोग के साथ यह प्रयोग भी करने से शीघ्रता होती है ।

४- घी खाने से वाम स्वर और शहद खाने से दक्षिण स्वर चलना कहा जाता है ।

५- चलित स्वर में पुरानी स्वच्छ रुई का फाहा रखने से स्वर बदलता है ।

बहुधा जिस प्रकार बीमारी की दशा में शरीर को रोग-मुक्त करने के लिए चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार स्वर को ठीक अवस्था में लाने के लिए उन उपायों को काम में लाना चाहिए ।

स्वर-संयम से दीर्घ जीवन- प्रत्येक प्राणी का पूर्ण आयु प्राप्त करना, दीर्घ जीवी होना उसकी श्वास क्रिया पर अवलम्बित है । पूर्व कर्मों के अनुसार जीवित रहने के लिए परमात्मा एक नियत संख्या में श्वास प्रदान करता है, वह श्वास समाप्त होने पर प्राणान्त हो जाता है । इस खजाने को जो प्राणी जितनी होशियारी से खर्च करेगा, वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रह सकेगा और जो जितना व्यर्थ गँवा देगा, उतनी ही शीघ्र उसकी मृत्यु हो जायेगी । सामान्यत: हर एक मनुष्य दिन रात में २१६०० श्वास लेता है । इससे कम श्वास लेने वाला दीर्घजीवी होता है; क्योंकि अपने धन का जितना कम व्यय होगा, उतने ही अधिक काल तक वह सञ्चित रहेगा । हमारे श्वास की पूँजी की भी यही दशा है, विश्व के समस्त प्राणियों में जो जीव जितनी कम श्वास लेता है, वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रहता है । नीचे की तालिका से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है ।

नाम प्राणी	श्वास की गति प्रति मिनट	पूर्ण आयु
खरगोश	३८ बार	८ वर्ष
बन्दर	३२ बार	१० वर्ष
कुत्ता	२९ बार	११ वर्ष
घोड़ा	१९ बार	३५ वर्ष
मनुष्य	१३ बार	१२० वर्ष
साँप	८ बार	१००० वर्ष
कछुआ	५ बार	२००० वर्ष

साधारण काम-काज में १२ बार, दौड़-धूप करने में १८ बार और मैथुन करते समय ३६ बार प्रति मिनट के हिसाब से श्वास चलती है, इसलिए विषयी और लम्पट मनुष्य की आयु घट जाती है और प्राणायाम करने वाले योगाभ्यासी दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं । यहाँ यह न सोचना चाहिए कि चुपचाप बैठे रहने से कम साँस चलती है इसलिए निष्क्रिय बैठे रहने से आयु बढ़ जायेगी, ऐसा नहीं हो सकता , क्योंकि निष्क्रिय बैठे रहने से शरीर के अन्य अंग निर्बल, अशक्त और बीमार हो जायेंगे, तदनुसार उनकी साँस का वेग बहुत ही बढ़ जायेगा । इसलिए शारीरिक अंगों को स्वस्थ रखने के लिए परिश्रम करना आवश्यक है; किन्तु शक्ति के बाहर परिश्रम भी नहीं करना चाहिए ।

साँस सदा पूरी और गहरी लेनी चाहिए तथा झुककर कभी न बैठना चाहिए । नाभि तक पूरी साँस लेने पर एक प्रकार से कुम्भक हो जाता है और श्वासों की संख्या कम हो जाती है । मेरुदण्ड के भीतर एक प्रकार का तरल जीवन तत्त्व प्रवाहित होता रहता है, जो सुषुम्ना को बलवान् बनाये रखता है, तदनुसार मस्तिष्क की पुष्टि होती रहती है । यदि मेरुदण्ड को झुका हुआ रखा जाए, तो उस तरल तत्त्व का प्रवाह रुक जाता है और निर्बल सुषुम्ना मस्तिष्क का पोषण करने से वञ्चित रह जाती है ।

सोते समय चित्त होकर नहीं लेटना चाहिए, इससे सुषुम्ना स्वर चलकर विघ्न पैदा होने की सम्भावना रहती है । ऐसी दशा में अशुभ तथा भयानक स्वप्न दिखाई पड़ते हैं । इसलिए भोजनोपरान्त प्रथम बायें फिर दाहिने करवट लेटना चाहिए । भोजन के बाद कम से कम १५ मिनट आराम किये बिना यात्रा करना भी उचित नहीं है ।

शीतलता से अग्नि मन्द पड़ जाती है और उष्णता से तीव्र होती है । यह प्रभाव हमारी जठराग्नि पर भी पड़ता है । सूर्य- स्वर में पाचन शक्ति की वृद्धि रहती है, अतएव इसी स्वर में भोजन करना उत्तम है । इस नियम

को सब लोग जानते हैं कि भोजन के उपरान्त बायें करवट से लेटे रहना चाहिए। उद्देश्य यही है कि बायें करवट लेटने से दक्षिण स्वर चलता है जिससे पाचन-शक्ति प्रदीप्त होती है।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की गति-विधि पर ध्यान रखने से वायु-तत्त्व पर अपना अधिकार होता है। वायु के माध्यम से कितनी ही ऐसी बातें जानी जा सकती हैं, जिन्हें साधारण लोग नहीं जानते। मकड़ी को वर्षा से बहुत पहले पता लग जाता है कि मेघ बरसने वाला है, तदनुसार वह अपनी रक्षा का प्रबन्ध पहले से ही कर लेती है। कारण यह है कि वायु के साथ वर्षा का सूक्ष्म संयोग मिला रहता है, उसे मनुष्य समझ नहीं पाता, पर मकड़ी अपनी चेतना से यह अनुभव कर लेती है कि इतने समय बाद इतने वेग से पानी बरसने वाला है। मकड़ी में जैसी सूक्ष्म वायु परीक्षण चेतना होती है, उससे भी अधिक प्रबुद्ध चेतना स्वर-योगी को मिल जाती है। वह वर्षा, गर्मी को ही नहीं वरन् उससे भी सूक्ष्म बातें, भविष्य की सम्भावनायें, दुर्घटनायें, परिवर्तनशीलतायें, विलक्षणतायें अपनी दिव्य दृष्टि से जान लेता है।

कई स्वर-ज्ञाता ज्योतिषियों की भाँति इस विद्या द्वारा भविष्य वक्ताओं जैसा व्यवसाय करते हैं। स्वर के आधार पर ही मूक प्रश्न, तेजी-मन्दी, खोई वस्तु का पता, शुभ-अशुभ मुहूर्त आदि बातें बताते हैं। असफल होने की आशंका वाले, दुस्साहसपूर्ण कार्य करने वाले लोग भी स्वर का आश्रय लेकर अपना काम करते हैं। चोर, डाकू आदि इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखते हैं, व्यापार, राजद्वार, चिकित्सा आदि जोखिम और जिम्मेदारी के कामों में भी स्वर विद्या के नियमों का ध्यान रखा जाता है। इस सम्बन्ध में अखण्ड-ज्योति पत्रिका में समय-समय पर तद्विषयक जानकारी प्रकाशित होती रहती है। उस सुविस्तृत ज्ञान का विवेचन यहाँ नहीं हो सकता। इस समय तो हमें केवल यह विचार करना है कि स्वर साधना से विज्ञानमय कोश की सुव्यवस्था में हमें किस प्रकार सहायता मिल सकती है।

विज्ञानमय-कोश की वायु-साधना

१- शान्त वातावरण में मेरुदण्ड सीधा करके बैठ जाइये और नाभि-चक्र में शुभ ज्योति-मण्डल का ध्यान कीजिए। उस ज्योति केन्द्र में समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह हिलोरें उठती हुई परिलक्षित होंगी।

२- यदि बायाँ स्वर चल रहा होगा, तो उस ज्योति- केन्द्र का वर्ण चन्द्रमा के समान पीला होगा और उसके बायें भाग से निकलने वाली इड़ा नाड़ी में होकर श्वास-प्रवाह का आवागमन होगा। नाभि से नीचे की ओर मूलाधार चक्र (गुदा और लिंग का मध्यवर्ती भाग) में होती हुई मेरुदण्ड में होकर मस्तिष्क के ऊपरी भाग की परिक्रमा करती हुई नासिका के बायें नथुने तक इड़ा नाड़ी जाती है। नाभि- केन्द्र के वाम भाग की क्रियाशीलता के कारण यह नाड़ी का काम करती है और बायाँ स्वर चलता है। इस तथ्य को भावना के दिव्य नेत्रों द्वारा भली-भाँति, चित्रवत् पर्यवेक्षण कीजिए।

३- यदि दाहिना स्वर चल रहा होगा तो नाभि केन्द्र का ज्योति मण्डल सूर्य के समान तनिक लालिमा लिये हुए श्वेत वर्ण का होगा और उसके दाहिने भाग में से निकलने वाली पिंगला नाड़ी में होकर श्वास-की प्रश्वास क्रिया होगी। नाभि के नीचे मूलाधार में होकर मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क में होती हुई दाहिने नथुने तक पिंगला नाड़ी गई है और नाभि चक्र के दाहिने भाग में चैतन्यता होती है और दाहिना स्वर चलता है। इस सूक्ष्म क्रिया को ध्यान-शक्ति द्वारा ऐसे मनोयोगपूर्वक निरीक्षण करना चाहिए कि वस्तु-स्थिति ध्यान क्षेत्र में चित्र के समान स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगे।

४- जब स्वर सन्धि होती है, तो नाभि चक्र स्थिर हो जाता है, उसमें कोई हलचल नहीं होती और न उतनी देर तक वायु का आवागमन होता है। इस सन्धिकाल में तीसरी नाड़ी मेरुदण्ड में अत्यन्त द्रुत वेग से बिजली के समान कौंधती है, साधारणत: एक क्षण के सौवें भाग में यह कौंध जाती है, इसे ही सुषुम्ना कहते हैं।

५- सुषुम्ना का जो विद्युत् प्रवाह है, वही आत्मा की चञ्चल झाँकी है। आरम्भ में यह झाँकी एक हल्के झपट्टे के समान किंचित् प्रकाश की मन्द किरण जैसी होती है। साधना से यह चमक अधिक प्रकाशवान् और अधिक

देर ठहरने वाली होती है । कुछ दिनों के पश्चात् वर्षा काल में बादलों के मध्य चमकने वाली बिजली के समान उसका प्रकाश और विस्तार होने लगता है । सुषुम्ना ज्योति में किन्हीं रंगों की आभा होना, उसका सीधा, टेढ़ा, तिरछा या बर्तुलाकार होना आत्मिक स्थिति का परिचायक है । तीन गुण, पाँच तत्त्व, संस्कार एवं अन्तःकरण की जैसी स्थिति होती है, उसी के अनुरूप सुषम्ना का रूप ध्यानावस्था में दृष्टिगोचर होता है ।

६- इड़ा पिंगला की क्रियायें जब स्पष्ट दीखने लगें, तब उनका साक्षी रूप से अवलोकन किया कीजिए । नाभि चक्र के जिस भाग में ज्वार- भाटा आ रहा होगा, वही स्वर चल रहा होगा और केन्द्र में इसी आधार पर सूर्य या चन्द्रमा का रंग होगा । यह क्रिया जैसे- जैसे हो रही है उसको स्वाभाविक रीति से होते हुए देखते रहना चाहिए । एक साँस के भीतर पूरा प्रवेश होने पर जब वह लौटती है, तो उसे "आभ्यन्तर सन्धि" और जब साँस पूरी तरह बाहर निकलकर नई साँस भीतर जाना आरंभ करती है, तब उसे 'बाह्य सन्धि' कहते हैं । इन कुम्भक कालों में सुषुम्ना की द्रुत गतिगामिनी विद्युत् आभा का अत्यन्त चपल प्रकाश विशेष सजगतापूर्वक दिव्य नेत्रों से देखना चाहिए ।

७- जब इड़ा बदलकर पिंगला में या पिंगला बदलकर इड़ा में जाती है अर्थात् एक स्वर जब दूसरे में परिवर्तित होता है, तो सुषुम्ना की सन्धि वेला आती है । अपने आप स्वर बदलने के अवसर पर स्वाभाविक सुषुम्ना का प्राप्त होना प्रायः कठिन होता है । इसलिए स्वर विद्या के साधक पिछले पृष्ठों में बताए गये स्वर बदलने के उपायों से वह परिवर्तन करते हैं और तब सुषुम्ना की सन्धि आने पर आत्म-ज्योति का दर्शन करते हैं । यह ज्योति आरम्भ में चञ्चल और विविध आकृतियों की होती है और अन्त में स्थिर एवं मण्डलाकार हो जाती है । यह स्थिरता ही विज्ञानमय कोश की सफलता है । उसी स्थिति में आत्म-साक्षात्कार होता है ।

सुषुम्ना में अवस्थित होना वायु पर अपना अधिकार कर लेना है । इस सफलता के द्वारा लोक-लोकान्तरों तक अपनी पहुँच हो जाती है और विश्व ब्रह्माण्ड पर अपना प्रभुत्व अनुभव होता है । प्राचीन समय में स्वर-शक्ति द्वारा अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं । आज के युग-प्रवाह में वैसा तो नहीं होता, पर ऐसे अनुभव हैं जिनसे मनुष्य शरीर रहते हुए भी मानसिक आवरण में देव-तत्त्वों की प्रचुरता हो जाती है । विज्ञानमय कोश के विजयी को भूसुर, भूदेव या नर-तनुधारी दिव्य आत्मा कहते हैं ।

ग्रन्थि - भेद

विज्ञानमय कोश की चतुर्थ भूमिका में पहुँचने पर जीव को प्रतीत होता है कि तीन सूक्ष्म बन्धन ही मुझे बाँधे हुए हैं । पंच- तत्त्वों से शरीर बना है, उस शरीर में पाँच कोश हैं । गायत्री के यह पाँच कोश ही पाँच मुख हैं, इन पाँच बन्धनों को खोलने के लिए कोशों की अलग-अलग साधनायें बताई गई हैं, विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत तीन बन्धन हैं, जो पञ्च भौतिक शरीर न रहने पर भी देव, गन्धर्व, यक्ष, भूत, पिशाच आदि योनियों में भी वैसे ही बन्धन बाँधे रहते हैं जैसा कि शरीरधारी का होता है ।

यह तीन बन्धन-ग्रन्थियाँ, रुद्र ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, ब्रह्म-ग्रन्थि के नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्हें तीन गुण भी कह सकते हैं । रुद्र ग्रन्थि अर्थात् तम, विष्णु ग्रन्थि अर्थात् सत्, ब्रह्म ग्रन्थि अर्थात् रज । इन तीनों गुणों से अतीत हो जाने पर , ऊँचा उठ जाने पर ही आत्मा शान्ति और आनन्द का अधिकारी होता है ।

इन तीन ग्रन्थियों को खोलने के महत्त्वपूर्ण कार्य को ध्यान में रखने के लिए कन्धे पर तीन तार का यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि तम, रज, सत् के तीन गुणों द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर बने हुए हैं । यज्ञोपवीत के अन्तिम भाग में तीन ग्रन्थियाँ लगाई जाती हैं इसका तात्पर्य यह है कि रुद्र ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि तथा ब्रह्म ग्रन्थि से जीव बँधा पड़ा है । इन तीनों को खोलने की जिम्मेदारी का नाम ही पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण, देव-ऋण है । तम को प्रकृति, रज को जीव, सत् को आत्मा कहते हैं ।

व्यावहारिक जगत् में तम को सांसारिक जीवन, रज को व्यक्तिगत जीवन, सत् को आध्यात्मिक जीवन कह सकते हैं । जैसे हमारे पूर्ववर्ती लोगों ने , पूर्वजों ने- अनेक प्रकार के उपकारों, सहयोगों द्वारा निर्बल दशा से ऊँचा उठाकर हमें बल, विद्या, बुद्धि सम्पन्न किया है, वैसे ही हमारा भी कर्तव्य है कि संसार में अपनी अपेक्षा किसी भी

दृष्टि से जो लोग पिछड़े हुए हैं उन्हें सहयोग देकर ऊँचा उठाएँ । सामाजिक जीवन को मधुर बनाएँ । देश, जाति और समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करें, यही पितृ- ऋण से, पूर्ववर्ती लोगों के उपकारों से उऋण होने का मार्ग है । व्यक्तिगत जीवन को शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक शक्तियों से सुसम्पन्न बनाना अपने को मनुष्य जाति का सदस्य बनाना ऋषि ऋण से छूटना है । स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन आदि आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अपवित्रताओं को हटाकर आत्मा को परम निर्मल- देवतुल्य बनाना, यह देव- ऋण से उऋण होना है ।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर तम का अर्थ होता है - शक्ति, रज का अर्थ होता है - साधन, सत् का अर्थ होता है - ज्ञान । इन तीनों की न्यूनता एवं विकृत अवस्था- बन्धन कारक, अनेक उलझनों, कठिनाइयों और बुराइयों को उत्पन्न करने वाली होती है । इसलिए जब तीनों की स्थिति सन्तोषजनक होती है, तब त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है । हमको भली प्रकार यह समझ लेना चाहिए कि परमात्मा की सृष्टि में कोई भी शक्ति या पदार्थ दूषित अथवा भ्रष्ट नहीं है । यदि उसका सदुपयोग किया जाय, तो वह कल्याणकारी सिद्ध होगा ।

आत्मिक क्षेत्र में सूक्ष्म अन्वेषण करने वाले ऋषियों ने यह पाया है कि तीन गुण, तीन शरीरों, तीन क्षेत्रों का व्यवस्थित या अव्यवस्थित होना अदृश्य केन्द्रों पर निर्भर रहता है, सभी दिशाओं को उत्तम बनाने से ये केन्द्र उन्नत अवस्था में पहुँच सकते हैं । दूसरा उपाय यह भी है कि अदृश्य केन्द्रों को आत्मिक साधना विधि से उन्नत अवस्था में ले जाएँ, तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर को ऐसी स्थिति पर पहुँचाया जा सकता है कि जहाँ उनके लिए कोई बन्धन या उलझन शेष न रहे ।

साधक जब विज्ञानमय कोश की स्थिति में होता है, तो उसे ऐसा अनुभव होता है मानो उसके भीतर तीन कठोर, गठीली, चमकदार हलचल करती हुई हलकी गाँठें हैं । इनमें से एक गाँठ मूत्राशय के समीप, दूसरी आमाशय के ऊर्ध्व भाग में और तीसरी मस्तिष्क के मध्य केन्द्र में विदित होती है । इन गाँठों में से मूत्राशय वाली ग्रन्थि को रुद्र ग्रन्थि, आमाशय वाली को विष्णु ग्रन्थि और शिर वाली को ब्रह्म ग्रन्थि कहते हैं । इन्हीं तीनों को दूसरे शब्दों में महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती भी कहते हैं ।

इन तीन महाग्रन्थियों की दो सहायक ग्रन्थियाँ भी होती हैं, जो मेरुदण्ड स्थित सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में रहने वाली ब्रह्मनाड़ी के भीतर रहती हैं । इन्हें ही चक्र भी कहते हैं । रुद्रग्रन्थि की शाखा ग्रन्थियाँ मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान कहलाती हैं । विष्णु ग्रन्थि की दो शाखायें मणिपूरक चक्र और अनाहत चक्र हैं । मस्तिष्क में निवास करने वाली ब्रह्म ग्रन्थि के सहायक ग्रन्थि चक्रों को विशुद्धि चक्र और आज्ञा चक्र कहा जाता है । हठयोग की विधि से षट्- चक्रों का वेधन किया जाता है । इन षट्- चक्र वेधन की विधि के सम्बन्ध में गायत्री महाविज्ञान के प्रथम भाग में हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं । उसकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं । जिन्हें हठयोग की अपेक्षा गायत्री की पंचमुखी साधना के अन्तर्गत विज्ञानमय कोश में ग्रन्थिभेद करना है, उन्हीं के लिए आवश्यक जानकारी देने का यहाँ प्रयत्न किया जायेगा ।

रुद्र-ग्रन्थि का आकार बेर के समान ऊपर को नुकीला, नीचे को भारी, पैंदे में गड्ढा लिए होता है, इसका वर्ण कालापन मिला हुआ लाल होता है । इस ग्रन्थि के दो भाग हैं । दक्षिण भाग को रुद्र और वाम भाग को काली कहते हैं । दक्षिण भाग के अन्तरंग गह्वर में प्रवेश करके जब उसकी झाँकी की जाती है , तो ऊर्ध्व भाग में श्वेत रंग की छोटी-सी नाड़ी हल्का-सा श्वेत रस प्रवाहित करती है, एक तन्तु तिरछा पीत वर्ण की ज्योति-सा चमकता है । मध्य भाग में एक काले वर्ण की नाड़ी साँप की तरह मूलाधार से लिपटी हुई है । प्राण वायु का जब उस भाग से सम्पर्क होता है, तो डिम- डिम जैसी ध्वनि उसमें से निकलती है । रुद्रग्रन्थि की आन्तरिक स्थिति की झाँकी करके ऋषियों के रुद्र का सुन्दर चित्र अंकित किया है । मस्तक पर गंगा की धारा, जटा में चन्द्रमा, गले में सर्प, डमरू की डिम-डिम ध्वनि, ऊर्ध्व भाग में त्रिशूल के रूप में अंकित करके भगवान् शंकर का ध्यान करने लायक एक सुंदर

चित्र बना दिया। उस चित्र में आलंकारिक रूप से रुद्रग्रन्थि की वास्तविकतायें ही भरी गई हैं। उस ग्रन्थि का वाम भाग जिस स्थिति में है, उसी के अनुरूप काली का सुंदर चित्र सूक्ष्मदर्शी आध्यात्मिक चित्रकारों ने अंकित कर दिया है।

विष्णु ग्रन्थि किस वर्ण की, किस गुण की, किस आकार की, किस आन्तरिक स्थिति की, किस ध्वनि की, किस आकृति की है? यह सब हमें विष्णु के चित्र से सहज ही प्रतीत हो जाता है। नील वर्ण, गोल आकार, शंख ध्वनि, कौस्तुभ मणि, वनमाला यह चित्र उस मध्य-ग्रन्थि का सहज प्रतिबिम्ब है।

जैसे मनुष्य को मुख की ओर से देखा जाए, तो उसकी झाँकी दूसरे प्रकार की होती है और पीठ की ओर से देखा जाए, तब यह आकृति दूसरे ही प्रकार की होती है। एक ही मनुष्य के दो पहलू दो प्रकार के होते हैं। उसी प्रकार एक ही ग्रन्थि दक्षिण भाग से देखने में पुरुषत्व प्रधान आकार की और बाँई ओर से देखने पर स्त्रीत्व प्रधान आकार की होती है। एक ही ग्रन्थि को रुद्र या शक्ति ग्रन्थि कहा जा सकता है। विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा और सरस्वती का संयोग भी इसी प्रकार है।

ब्रह्म ग्रन्थि मध्य मस्तिष्क में है। इससे ऊपर सहस्रार शतदल कमल है, यह ग्रन्थि ऊपर से चतुष्कोण और नीचे से फैली हुई है, इसका नीचे का एक तन्तु ब्रह्म-रन्ध्र से जुड़ा हुआ है। इसी को सहस्रमुख वाले शेष नाग की शय्या पर लेटे हुए भगवान् की नाभि कमल से उत्पन्न चार मुख वाला ब्रह्मा चित्रित किया गया है। वाम भाग में यही ग्रन्थि चतुर्भुजी सरस्वती है। वीणा की झंकार से ओंकार ध्वनि का यहाँ निरन्तर गुञ्जार होता है।

यह तीनों ग्रन्थियाँ जब तक सुप्त अवस्था में रहती हैं, बँधी हुई रहती हैं, तब तक जीव साधारण दीन-हीन दशा में पड़ा रहता है, अशक्ति, अभाव और अज्ञान उसे नाना प्रकार से दुःख देते रहते हैं। पर जब इनका खुलना आरम्भ होता है, तो उनका वैभव बिखर पड़ता है। मुँह बन्द कली में न रूप है, न सौन्दर्य और न ही आकर्षण। पर जब वह कली खिल पड़ती है और पुष्प के रूप में प्रकट होती है, तो एक सुन्दर दृश्य उपस्थित हो जाता है। जब तक खजाने का ताला लगा हुआ है, थैली का मुँह बन्द है, तब तक दरिद्रता दूर नहीं हो सकती, पर जैसे ही रत्न राशि का भण्डार खुल जाता है, वैसे ही अतुलित वैभव का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।

रात को कमल का फूल बन्द हो जाता है, तो भौंरा भी उसमें बन्द हो जाता है, पर प्रातःकाल वह फूल फिर खिलता है तो भौरा बंधन-मुक्त हो जाता है। यह तीन कलियाँ, तीन-तीन ग्रन्थियाँ, जीव को बाँधे हुए हैं। जब यह खुल जाती हैं, तो मुक्ति का अधिकार स्वयमेव ही प्राप्त हो जाता है। इन रत्न-राशियों का ताला खुलते ही शक्ति सम्पन्नता और प्रज्ञा का अटूट भण्डार हस्तगत हो जाता है।

चिड़िया अपनी छाती की गर्मी से अण्डों को पकाती हैं, चूल्हे की गर्मी से भोजन पकता है, सूर्य की गर्मी से वृक्षों वनस्पतियों और फलों का परिपाक होता है। माता नौ महीने तक बालक को पेट में पकाकर उसको इस स्थिति में लाती है कि वह जीवन धारण कर सके। विज्ञानमय कोश की यह तीन- ग्रन्थियाँ भी तप की गर्मी से पकती हैं। तप द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, लक्ष्मी, काली सभी का परिपाक हो जाता है। यह शक्तियाँ समदर्शी हैं, न उन्हें किसी से प्रेम है न द्वेष। रावण जैसे असुरों ने भी शंकरजी से वरदान पाये थे और अनेक सुर भी कोई सफलता नहीं प्राप्त कर पाये। इसमें साधक का पुरुषार्थ ही प्रधान है। श्रम और प्रयत्न ही परिपक्व होकर सफलता बन जाते हैं।

रुद्र, विष्णु और ब्रह्म ग्रन्थियों को खोलने के लिए ग्रन्थि के मूल भाग में निवास करने वाली बीज शक्तियों का संचार करना पड़ता है। रुद्र ग्रन्थि के अधोभाग में बेर के डण्ठल की तरह एक सूक्ष्म प्राण अभिप्रेत होता है उसे 'क्लीं' बीज कहते हैं। विष्णु ग्रन्थि के मूल में 'श्रीं' का निवास है और ब्रह्म ग्रन्थि के नीचे 'ह्रीं' तत्त्व का अवस्थान है। मूलबन्ध बाँधते हुए एक ओर से अपान और दूसरी ओर से कूर्मप्राण को चिमटे की तरह बनाकर रुद्र ग्रन्थि को पकड़कर रेचक प्राणायाम द्वारा दबाते हैं। इस दबाव की गर्मी से क्लीं बीज जाग्रत् हो जाता है। वह नोकदार डण्ठल आकृति का बीज अपनी ध्वनि और रक्त वर्ण प्रकाश- ज्योति के साथ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है।

इस जाग्रत् क्लीं बीज की अग्रिम नोंक से कुंचुकि- क्रिया की जाती है। जैसे किसी वस्तु में छेद करने के लिए नोंकदार कील कोंची जाती है, इस प्रकार की वेधन-साधना को कुंचुकी क्रिया कहते हैं। रुद्र ग्रन्थि के मूल केन्द्र में क्लीं बीज की अग्र शिखा से जब निरंतर कुंचुकी होती है, तो प्रस्तुत कलिका में भीतर ही भीतर एक विशेष प्रकार के लहलहाते हुए तड़ित प्रवाह उठाने पड़ते हैं, इनकी आकृति एवं गति सर्प जैसी होती है। इन तड़ित प्रवाहों को ही शंभु के गले में फुफकारने वाले सर्प बताया है, जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वत के उच्च शिखर पर धूम्र मिश्रित अग्नि निकलती है उसी प्रकार रुद्र ग्रन्थि के ऊपरी भाग में पहले क्लीं बीज की अग्नि जिह्वा प्रकट होती है। इसी को काली की बाहर निकली हुई जीभ माना गया है। इसको शंभु का तीसरा नेत्र भी कहते हैं।

मूल- बन्ध, अपान और कूर्म प्राण के आघात से जाग्रत् हुई क्लीं बीज की कुंचुकी- क्रिया से धीरे-धीरे रुद्र ग्रन्थि शिथिल होकर वैसे ही खुलने लगती है, जैसे क्लीं धीरे-धीरे खिलकर फूल बन जाती है। इस कमल पुष्प के खिलने को पद्मासन कहा गया है। त्रिदेव के कमलासन पर विराजमान होने के चित्रों का तात्पर्य यही है कि वे विकसित रूप से परिलक्षित हो रहे हैं।

साधक के प्रयत्न के अनुरूप खुली हुई रुद्र ग्रन्थि का तीसरा भाग जब प्रकटित होता है, तब साक्षात् रुद्र का, काली का अथवा रक्त वर्ण सर्प के समान लहलहाती हुई, क्लीं- घोष करती हुई अग्नि शिखा का साक्षात्कार होता है। यह रुद्र जागरण साधक में अनेक प्रकार की गुप्त प्रकट शक्तियाँ भर देता है। संसार की सब शक्तियों का मूल केन्द्र रुद्र ही है। उसे रुद्र लोक या कैलाश भी कहते हैं। प्रलय काल में संसार संचालिनी शक्ति व्यय होते-होते पूर्ण शिथिल होकर जब सुषुप्त अवस्था में चली जाती है, तब रुद्र का ताण्डव नृत्य होता है। उस महामंथन से इतनी शक्ति फिर उत्पन्न हो जाती है, जिससे आगामी प्रलय तक काम चलता रहे। घड़ी में चाबी भरने के समान रुद्र का प्रलय ताण्डव होता है। रुद्र शक्ति की शिथिलता से जीवों की तथा पदार्थों की मृत्यु हो जाती है। इसलिए रुद्र को मृत्यु का देवता माना गया है।

विष्णु ग्रन्थि को जाग्रत् करने के लिए जालन्धर बन्ध बाँधकर 'समान' और 'उदान' प्राणों द्वारा दबाया जाता है, तो उसके मूल भाग का 'श्रीं' बीज जाग्रत् होता है। यह गोल गेंद की तरह है और इसकी अपनी धुरी पर द्रुत गति से घूमने की क्रिया होती है। इस घूर्णन क्रिया के साथ-साथ एक ऐसी सनसनाती हुई सूक्ष्म ध्वनि होती है जिसको दिव्य श्रोत्रों से 'श्रीं' जैसे सुना जाता है।

श्रीं बीज को विष्णु ग्रन्थि की बाह्य परिधि में भ्रामरी क्रिया के अनुसार घुमाया जाता है। जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, उसी प्रकार परिभ्रमण करने को भ्रामरी कहते हैं। विवाह में वर-वधू की भाँवर या फेरे पड़ना, देव-मन्दिरों तथा यज्ञ की परिक्रमा या प्रदक्षिणा होना, भ्रामरी क्रिया का ही रूप है। विष्णु की उँगली पर घूमता हुआ चक्र सुदर्शन चित्रित करके योगियों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अनुभव किये गये इसी रहस्य को प्रकट किया है, 'श्रीं' बीज विष्णु ग्रन्थि की भ्रामरी गति से परिक्रमा करने लगता है तब उस महा-तत्त्व का जागरण होता है।

पूरक प्राणायाम की प्रेरणा देकर समान और उदान द्वारा जाग्रत् किये गये श्रीं बीज से जब विष्णु ग्रन्थि के बाह्य आवरण की मध्य परिधि में भ्रामरी क्रिया की जाती है, तो उसके गुञ्जन से उसका भीतरी भाग चैतन्य होने लगता है। इस चेतना की विद्युत् तरंगें इस प्रकार उठती हैं, जैसे पक्षी के पंख दोनों बाजुओं में हिलते हैं। उसी गति के आधार पर विष्णु का वाहन गरुड़ निर्धारित किया गया है।

इस साधना से विष्णु ग्रन्थि खुलती है और साधक की मानसिक स्थिति के अनुरूप विष्णु, लक्ष्मी या पीत वर्ण की अग्नि-शिखा की लपटों के समान ज्योति पुञ्ज का साक्षात्कार होता है। विष्णु का पीताम्बर इस पीत ज्योति पुंज का प्रतीक है। इस ग्रन्थि का खुलना ही बैकुण्ठ, स्वर्ग एवं विष्णु लोक को प्राप्त करना है। बैकुण्ठ या स्वर्ग को अनन्त ऐश्वर्य का केन्द्र माना जाता है। वहाँ सर्वोत्कृष्ट सुख साधन जो सम्भव हो सकते हैं, वे प्रस्तुत हैं। विष्णु ग्रन्थि वैभव का केन्द्र है, जो उसे खोल लेता है, उसे विश्व के ऐश्वर्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्म-ग्रन्थि मस्तिष्क के मध्य भाग में सहस्रदल कमल की छाया में अवस्थित है। उसे अमृत कलश कहते

हैं । बताया गया है कि सुरलोक में अमृत कलश की रक्षा सहस्र फनों वाले शेषनाग करते हैं । इसका अभिप्राय इसी ब्रह्म- ग्रन्थि से है ।

उड्डियान बन्ध लगाकर ध्यान और धनञ्जय प्राणों द्वारा ब्रह्म-ग्रन्थि को पकाया जाता है । पकाने से उसके मूलाधार में वास करने वाली ह्रीं शक्ति जाग्रत् होती है । इसकी गति को प्लाविनी कहते हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती हैं और निरन्तर आगे को ही लहराती हुई चलती हैं, उसी प्रकार ह्रीं बीज की प्लाविनी गति से ब्रह्म-ग्रन्थि को दक्षिणायन से उत्तरायण की ओर प्रेरित करते हैं । चतुष्कोण ग्रन्थि के ऊर्ध्व भाग में यही ह्रीं तत्त्व रुक-रुककर गाँठें-सी बनाता हुआ आगे की ओर चलता है और अन्त में परिक्रमा करके अपने मूल संस्थान को लौट आता है ।

गाँठ बाँधते चलने की नीची- ऊँची गति के आधार पर माला के दाने बनाये गये हैं । १०८ दचके लगाकर तब एक परिधि पूरी होती है, इसलिए माला के १०८ दाने होते हैं । इस ह्रीं तत्त्व की तरंगें मन्थर गति से इस प्रकार चलती हैं जैसे हंस चलता है । ब्रह्मा या सरस्वती का वाहन हंस इसीलिए माना गया है । वीणा के तारों की झंकार से मिलती-जुलती 'ह्रीं' ध्वनि सरस्वती की वीणा का परिचय देती है ।

कुम्भक-प्राणायाम की प्रेरणा से ह्रीं बीज की प्लाविनी क्रिया आरम्भ होती है । यह क्रिया निरन्तर होते रहने पर ब्रह्म-ग्रन्थि खुल जाती है । तब उसका ब्रह्म के रूप में, सरस्वती के रूप में अथवा श्वेत वर्ण प्रकम्पित शुभ्र ज्योति शिखा के समान साक्षात्कार होता है । यह स्थिति आत्म-ज्ञान, ब्रह्म प्राप्ति, ब्राह्मी स्थिति की है । ब्रह्मलोक एवं गोलोक भी इसको कहते हैं । इस स्थिति को उपलब्ध करने वाला साधक ज्ञान बल से परिपूर्ण हो जाता है । इसकी आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत् होकर परमेश्वर के समीप पहुँचा देती हैं, अपने पिता का उत्तराधिकार उसे मिलता है और जीवनमुक्त होकर ब्राह्मी- स्थिति का आनन्द ब्रह्मानन्द उपलब्ध करता है ।

षट्- चक्र का हठयोग-सम्मत विधान अथवा महायोग का यह ग्रन्थि भेद, दोनों ही समान स्थिति के हैं । साधक अपनी स्थिति के अनुसार उन्हें अपनाते हैं, दोनों से ही विज्ञानमय कोश का परिष्कार होता है ।

आनन्दमय कोश

गायत्री का पाँचवाँ मुख आनन्दमय कोश है । जिस आवरण में पहुँचने पर आत्मा को आनन्द मिलता है, जहाँ उसे शान्ति, सुविधा, स्थिरता, निश्चिन्तता एवं अनुकूलता की स्थिति प्राप्त होती है, वही आनन्दमय कोश है । गीता के दूसरे अध्याय में 'स्थित प्रज्ञ' की जो परिभाषा की गई है और 'समाधिस्थ' के जो लक्षण बताये गये हैं, वे ही गुण, कर्म, स्वभाव आनन्दमयी स्थिति में हो जाते हैं । आत्मिक परमार्थों की साधना में मनोयोग पूर्वक संलग्न होने के कारण सांसारिक आवश्यकतायें बहुत सीमित रह जाती हैं । उनकी पूर्ति में इसलिए बाधा नहीं आती, कि साधक अपनी शारीरिक और मानसिक स्वस्थता के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं को उचित मात्रा में आसानी से कमा सकता है ।

प्रकृति के परिवर्तन, विश्वव्यापी उतार-चढ़ाव, कर्मों की गहन गति, प्रारब्ध भोग, वस्तुओं की नश्वरता, वैभव की चञ्चल चपलता आदि कारणों से जो उलझन भरी परिस्थितियाँ सामने आकर परेशान किया करती हैं, उन्हें देखकर वह हँस देता है । सोचता है प्रभु ने इस संसार में कैसी धूप-छाँह का, आँख- मिचौनी का खेल खड़ा कर दिया है । अभी खुशी तो अभी रञ्ज, अभी वैभव तो अभी निर्धनता, अभी जवानी तो अभी बुढ़ापा, अभी जन्म तो अभी मृत्यु, अभी नमकीन तो अभी मिठाई, यह दुरंगी दुनिया कैसी विलक्षण है । दिन निकलते देर नहीं हुई कि रात की तैयारी होने लगी । रात को आये जरा- 'सी देर हुई कि नवप्रभात का आयोजन होने लगा । वह तो यहाँ का आदि खेल है, बादल की छाया की तरह पल-पल में धूप-छाँह आती है । मैं इन तितलियों के पीछे कहाँ दौड़ूँ । मैं इन क्षण-क्षण पर उठने वाली लहरों को कहाँ तक गिनूँ, पल में रोने पल में हँसने की बाल क्रीड़ा मैं क्यों करूँ ?

आनन्दमय कोश में पहुँचा हुआ जीव अपने पिछले चार शरीरों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश को भली प्रकार समझ लेता है, उनकी अपूर्णता और संसार की परिवर्तनशीलता दोनों के मिलने से ही एक विषैली गैस बन जाती है, जो जीवों को पाप-तापों के काले धुएँ से कलुषित कर देती है । यदि इन दोनों पक्षों के

गुण दोषों को समझकर उन्हें अलग-अलग रखा जाए, बारूद और अग्नि को इकट्ठा न होने दिया जाए, तो विस्फोट की कोई सम्भावना नहीं है। यह समझकर वह अपने दृष्टिकोण में दार्शनिकता, तात्त्विकता, वास्तविकता, सूक्ष्मदर्शिता को प्रधानता देता है। तदनुसार उसे सांसारिक समस्यायें बहुत हल्की और महत्त्वहीन मालूम पड़ती हैं। जिन बातों को लेकर साधारण मनुष्य बेतरह दुःखी रहते हैं, उन स्थितियों को वह हलके विनोद की तरह समझकर उपेक्षा में उड़ा देता है और आत्मिक भूमिका में अपना दृढ़ स्थान बनाकर सन्तोष और शान्ति का अनुभव करता है।

गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया है कि स्थितप्रज्ञ मनुष्य अपने भीतर की आत्म-स्थिति में रमण करता है। सुख-दुख में समान रहता है, न प्रिय से राग करता है, न अप्रिय से द्वेष करता है। इन्द्रियों को इन्द्रियों तक ही सीमित रहने देता है, उसका प्रभाव आत्मा पर नहीं होने देता, कछुआ जैसे अपने अंगों को समेटकर अपने भीतर कर लेता है, वैसे ही वह अपनी कामनाओं और लालसाओं को संसार में न फैलाकर अपनी अन्तः भूमिका में ही समेट लेता है, जिसकी मानसिक स्थिति ऐसी होती है उसे योगी, ब्रह्मभूत, जीवन-मुक्त या समाधिस्थ कहते हैं।

आनन्दमय कोश की स्थिति पञ्चम भूमिका है। इसे समाधि अवस्था भी कहते हैं। समाधि अनेक प्रकार की है। काष्ठ-समाधि, भाव-समाधि, ध्यान-समाधि, प्राण-समाधि, सहज-समाधि आदि २७ समाधियाँ बताई गई हैं। मूर्छा, नशा एवं क्लोरोफार्म आदि सूँघने से आई हुई समाधि को काष्ठ समाधि कहते हैं। किसी भावना का इतना अतिरेक हो कि मनुष्य की शारीरिक चेष्टायें संज्ञाशून्य हो जाए, उसे भाव समाधि कहते हैं। ध्यान में इतनी तन्मयता आ जाए कि उसे अदृश्य एवं निराकार सत्ता साकार दिखाई पड़ने लगे, उसे ध्यान-समाधि कहते हैं, इष्टदेव के दर्शन जिन्हें होते हैं उन्हें ध्यान-समाधि की अवस्था में ऐसी चेतना आ जाती है कि यह अन्तर उन्हें नहीं विदित होने पाता कि हम दिव्य नेत्रों से ध्यान कर रहे हैं या आँखों से स्पष्ट रूप से अमुक प्रतिमा को देख रहे हैं। प्राण-समाधि ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों को एकत्रित करके की जाती है। हठयोगी इसी समाधि द्वारा शरीर को बहुत समय तक मृत बनाकर भी जीवित रहते हैं। अपने आपको ब्रह्म में लीन होने का जिस अवस्था में बोध होता है उसे ब्रह्म समाधि कहते हैं।

इस प्रकार की २७ समाधियों में से वर्तमान देशकाल, पात्र की स्थिति में सहज समाधि सुलभ और सुख साध्य है। महात्मा कबीर ने सहज समाधि पर बड़ा बल दिया है। अपने अनुभव से उन्हें सहज समाधि को सर्व सुलभ देखकर अपने अनुयायियों को इसी साधना के लिए प्रेरित किया है।

महात्मा कबीर का वचन है -

साधो ! सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप भयो जा दिन ते सुरति न अनत चली॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँदूँ काया कष्ट न धारूँ।
खुले नयन से हँस-हँस देखूँ सुन्दर रूप निहारूँ॥
कहूँ सोई नाम, सुनूँ सोई सुमिरन, खाऊँ सोई पूजा।
गृह उद्यान एक सम लेखूँ भाव मिटाऊँ दूजा॥
जहाँ-जहाँ जाऊँ सोई परिक्रमा जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत पूजूँ और न देवा॥
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन वासना त्यागी।
बैठत उठत कबहूँ ना विसरें, ऐसी ताड़ी लागी॥
कहै 'कबीर' वह उन्मनि रहती सोई प्रकट कर गाई।
दुख सुख के एक परे परम सुख, तेहि सुख रहा समाई॥

उपर्युक्त पद में सद्गुरु कबीर ने सहज समाधि की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है । यह समाधि सहज है - सर्व सुलभ है - सर्व साधारण की साधना शक्ति के भीतर है, इसलिए उसे सहज समाधि का नाम दिया गया है। हठ - साधनायें कठिन हैं । उनका अभ्यास करते हुए समाधि की स्थिति तक पहुँचना असाधारण कष्ट-साध्य है। चिरकालीन तपश्चर्या, षट्कर्मों के श्रमसाध्य साधन सब किसी के लिए सुलभ नहीं है । अनुभवी गुरु के सम्मुख रहकर विशेष सावधानी के साथ वे क्रियायें साधनी पड़ती हैं, फिर यदि उनकी साधना खण्डित हो जाती हैं तो संकट भी सामने आ सकते हैं, जो योग-भ्रष्ट लोगों के समान कभी भयंकर रूप से आ खड़े होते हैं । कबीर जी सहज योग को प्रधानता देते हैं, सहज योग का तात्पर्य है - सिद्धान्तमय जीवन, कर्त्तव्यपूर्ण कार्यक्रम । क्योंकि इन्द्रिय भोगों, पाशविक वृत्तियों एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह की तुच्छ इच्छाओं से प्रेरित होकर आमतौर से लोग अपना कार्यक्रम निर्धारित करते हैं और इसी कारण भाँति-भाँति के कष्टों का अनुभव करते हैं ।

सहज समाधि असंख्य प्रकार की योग साधनाओं में से एक है । इसकी विशेषता यह है कि साधारण रीति के सांसारिक कार्य करते हुए भी साधना-क्रम चलता है । इसी बात को ही यों कहना चाहिए कि ऐसा व्यक्ति, जीवन के सामान्य सांसारिक कार्य, कर्त्तव्य, यज्ञ, धर्म, ईश्वरीय आज्ञा पालन की दृष्टि से करता है । भोजन करने में उसकी भावना रहती है कि प्रभु की एक पवित्र धरोहर शरीर को यथावत् रखने के लिए भोजन किया जा रहा है । खाद्य पदार्थों का चुनाव करते समय शरीर की स्वस्थता उसका ध्येय रहती है । स्वादों के चटोरेपन के बारे में वह सोचता तक नहीं, कुटुम्ब का पालन-पोषण करते समय वह परमात्मा की एक सुरम्य वाटिका के माली की भाँति सिंचन, सम्वर्धन का ध्यान रखता है, कुटुम्बियों को अपनी सम्पत्ति नहीं मानता । जीविकोपार्जन को ईश्वरप्रदत्त आवश्यकताओं की पूर्ति का एक पुनीत साधनमात्र समझता है । अमीर बनने के लिए जैसे भी बने वैसे धन- संग्रह करने की तृष्णा उसे नहीं होती है । बातचीत करना, चलना-फिरना, खाना-पीना, सोना-जागना, जीविकोपार्जन, प्रेम, द्वेष आदि सभी कार्यों को करने से पूर्व परमार्थ को, कर्तव्य को, प्रधानता देते हुए करने से वे समस्त साधारण काम-काज भी यज्ञ-रूप हो जाते हैं ।

जब हर काम के मूल में कर्त्तव्य भावना की प्रधानता रहेगी, तो उन कार्यों में पुण्य प्रमुख रहेगा । सद्बुद्धि से, सद्भाव से किये हुए कार्यों द्वारा अपने आपको और दूसरों को सुख-शान्ति ही प्राप्त होती है । ऐसे सत्कार्य मुक्तिप्रद होते हैं, बन्धन नहीं करते, सात्त्विकता, सद्भावना और लोक-सेवा की पवित्र आकांक्षा के साथ जीवन संचालन करने पर कुछ दिन में वह नीति एवं कार्य-प्रणाली पूर्णतया अभ्यस्त हो जाती है और जो चीज अभ्यास में आती है वह प्रिय लगने लगती है, उसमें रस आने लगता है । बुरे स्वाद की, खर्चीली, प्रत्यक्ष हानिकारक, दुष्पाच्य, नशीली चीजें, मदिरा, अफीम, तम्बाकू आदि जब कुछ दिन के बाद प्रिय लगने लगते हैं और उन्हें बहुत कष्ट उठाते हुए भी छोड़ते नहीं बनता; जब तामसी तत्त्व कालान्तर के अभ्यास से इतने प्राण-प्रिय हो जाते हैं, तो कोई कारण नहीं कि सात्त्विक तत्त्व उससे अधिक प्रिय न हो सकें ।

सात्त्विक सिद्धान्त को जीवन-आधार बना लेने से उन्हीं के अनुरूप विचार और कार्य करने से आत्मा को सत्-तत्त्व में रमण करने का अभ्यास पड़ जाता है । यह अभ्यास जैसे-जैसे परिपक्व होता है, वैसे-वैसे सहज योग का रसास्वादन होने लगता है, उसमें आनन्द आने लगता है । जब अधिक दृढ़ता, श्रद्धा, विश्वास, उत्साह एवं साहस के साथ सत्परायणता में , सिद्धान्त संचालित जीवन में संलग्न रहता है, तो वह उसकी स्थायी वृत्ति बन जाती है, उसे उसी में तन्मयता रहती है, एक दिव्य आवेश- सा छाया रहता है, उसकी मस्ती, प्रसन्नता, सन्तुष्टता असाधारण होती है । इस स्थिति को सहज-योग की समाधि या "सहज समाधि" कहा जाता है ।

कबीर ने उसी समाधि का उपर्युक्त पद में उल्लेख किया है । वे कहते हैं - हे साधुओ ! सहज समाधि श्रेष्ठ है जिस दिन से गुरु की कृपा हुई और वह स्थिति प्राप्त हुई है, उस दिन से सुरत दूसरी जगह नहीं गई, चित्त डावाँडोल नहीं हुआ । मैं आँख मूँदकर, कान मूँदकर कोई हठयोगी की तरह काया की कष्टदायिनी साधना नहीं करता । मैं तो आँखें खोले रहता हूँ और हँस-हँसकर परमात्मा की पुनीत कृति का सुन्दर रूप देखता हूँ । जो कहता हूँ सो नाम जप है, जो सुनता हूँ सो सुमिरन है, जो खाता-पीता हूँ सो पूजा है । घर और जंगल एक- सा देखता हूँ

और अद्वैत का अभाव मिटाता हूँ , जहाँ-जहाँ जाता हूँ सोई परिक्रमा है, जो कुछ करता हूँ सोई-सोई सेवा है ।जब सोता हूँ तो वह मेरी दण्डवत् है । मैं एक को छोड़कर अन्य देव को नहीं पूजता । मन की मलिन वासना छोड़कर निरन्तर शब्द में, अन्तःकरण की ईश्वरीय वाणी सुनने में रत रहता हूँ । ऐसी तारी लगी है, निष्ठा जमी है कि उठते-बैठते वह कभी नहीं बिसरती । कबीर कहते हैं कि "मेरी यह उनमनि- हर्ष- शोक से रहित स्थिति है जिसे प्रकट करके गाया है । दुख-सुख से परे जो एक परम सुख है, मैं उसी में समाया रहता हूँ ।"

यह सहज समाधि उन्हें प्राप्त होती है 'जो शब्द में रत' रहते हैं । भोग एवं तृष्णा की क्षुद्र वृत्तियों का परित्याग करके जो अन्तःकरण में प्रतिक्षण ध्वनित होने वाले ईश्वरीय शब्दों को सुनते हैं- सत् की दिशा में चलने की ओर दैवी संकेतों को देखते हैं और उन्हीं को जीवन नीति बनाते हैं वे 'शब्द रत' सहज योगी उस परम आनन्द की सहज समाधि में सुख को प्राप्त होते हैं । चूँकि उनका उद्देश्य ऊँचा रहता है, दैवी प्रेरणा पर निर्भर रहता है, इसलिए उनके समस्त कार्य पुण्य रूप बन जाते हैं । जैसे खाँड़ से बने खिलौने आकृति में कैसे ही क्यों न हों, होंगे मीठे ही, इसी प्रकार सद्‌भावना और उद्देश्य परायणता के साथ किए हुए काम बाह्य आकृति में कैसे ही क्यों न दिखाई देते हों, होंगे वे यज्ञ रूप ही, पुण्यमय ही । सत्य परायण व्यक्तियों के सम्पूर्ण कार्य, छोटे से छोटे कार्य, जहाँ तक कि चलना, सोना, खाना देखना तक ईश्वर- आराधना बन जाते हैं ।

स्वल्प प्रयास में समाधि का शाश्वत सुख उपलब्ध करने की इच्छा रखने वाले अध्यात्म मार्ग के पथिकों को चाहिए कि वे जीवन का दृष्टिकोण उच्च उद्देश्यों पर अवलम्बित करें, दैनिक कार्यक्रम का सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्णय करें । भोग से ऊँचे उठकर योग में आस्था का आरोपण करें । इस दिशा में जो जितनी प्रगति करेगा, उसे उतने ही अंशों में समाधि के लोकोत्तर सुख का रसास्वादन होता रहेगा ।

आनन्दमय कोश की साधना में आनन्द का रसास्वादन होता है । इस प्रकार की आनन्दमयी साधनाओं में से तीन प्रमुख साधनाएँ नीचे दी जाती हैं । सहज समाधि की भाँति यह तीन महासाधनाएँ भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, साथ ही उनकी सुगमता भी असंदिग्ध है ।

नाद साधना

'शब्द' को ब्रह्म कहा है क्योंकि ईश्वर और जीव को एक शृंखला में बाँधने का काम शब्द के द्वारा ही होता है । सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है । पंचतत्त्वों में सबसे पहले आकाश बना, आकाश की तन्मात्रा शब्द है । अन्य समस्त पदार्थों की भाँति शब्द भी दो प्रकार का है - सूक्ष्म और स्थूल । सूक्ष्म शब्द को विचार कहते हैं और स्थूल शब्द को नाद ।

ब्रह्म लोक से हमारे लिए ईश्वरीय शब्द प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है । ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप करना चाहता है, पर हममें से बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो उसे सुनना चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं । ईश्वरीय शब्द निरन्तर एक ऐसी विचारधारा प्रेरित करते हैं ,जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती है, उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उसके अनुसार मार्ग निर्धारित किया जा सके, तो निस्संदेह जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हुआ जा सकता है । यह विचारधारा हमारी आत्मा से टकराती है ।

हमारा अन्तःकरण एक रेडियो है जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाए, अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा में प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार लहरियों को सुना जाए, तो ईश्वरीय वाणी हमें प्रत्यक्ष में सुनाई पड़ सकती है, इसी को आकाशवाणी कहते हैं । हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं ? हमारे लिए क्या उचित है, क्या अनुचित ? इसका प्रत्यक्ष सन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है । अन्तःकरण की पुकार, आत्मा का आदेश, ईश्वरीय सन्देश, आकाशवाणी, तत्त्व ज्ञान आदि नामों से इसी विचारधारा को पुकारते हैं । अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य सन्देश को सुनने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एवं ईश्वर-परायण कहलाते हैं ।

ईश्वर उनके लिए बिलकुल समीप होता है, जो ईश्वर की बातें सुनते हैं और अपनी उससे कहते हैं । इस दिव्य मिलन के लिए हाड़-माँस के स्थूल नेत्र या कानों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । आत्मा की समीपता में बैठा हुआ अन्तःकरण अपनी दिव्य इन्द्रियों की सहायता से इस कार्य को आसानी से पूरा कर लेता

है । यह अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म शब्द, दिव्य विचार तब तक धुँधले रूप में दिखाई पड़ता है जब तक कषायकल्मष आत्मा में बने रहते हैं । जितनी आन्तरिक पवित्रता बढ़ती जाती है, उतने ही दिव्य सन्देश बिलकुल स्पष्ट रूप से सामने आते हैं । आरम्भ में अपने लिए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का संकेत होता है, बुरा कर्म करते समय अन्तर में भय, घृणा, लज्जा, संकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय आत्मसन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह होना इसी स्थिति का बोधक है ।

यह दिव्य सन्देश आगे चलकर भूत, भविष्य, वर्तमान की सभी घटनाओं को प्रकट करता है । किसके लिए क्या भवितव्य बन रहा है और भविष्य में किसके लिए क्या घटना घटित होने वाली है ? यह सब कुछ उसे प्रकट हो जाता है और भी ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर उसके लिए सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं, कोई ऐसी बात नहीं है जो उससे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इतना बड़ा ज्ञान उसे मिलता है, वैसे ही वह उसका उपयोग करने में अत्यन्त सावधान हो जाता है । बाल-बुद्धि के लोगों के हाथों में यह दिव्य ज्ञान पड़ जाए, तो वे उसे बाजीगरी के खिलवाड़ करने में ही नष्ट कर दें, पर अधिकारी पुरुष अपनी इस शक्ति का किसी को परिचय तक नहीं होने देते और उसे भौतिक बखेड़ों से पूर्णतया बचाकर अपनी तथा दूसरों की आत्मोन्नति में लगाते हैं ।

शब्द ब्रह्म का दूसरा रूप जो विचार सन्देश की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है वह नाद है । प्रकृति के अन्तराल में एक ध्वनि प्रतिक्षण उठती रहती है जिसकी प्रेरणा से आघातों द्वारा परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है, उससे सृष्टि का समस्त क्रिया-कलाप चलता है । यह प्रारम्भिक शब्द 'ॐ' है, यह 'ॐ' ध्वनि जैसे-जैसे अन्य तत्त्वों के क्षेत्र में होकर गुजरती है, वैसे ही वैसे उसकी ध्वनि में अन्तर आता है । बंशी के छिद्रों में हवा फेंकते हैं, तो उसमें एक ध्वनि उत्पन्न होती है । पर आगे के छिद्रों में से जिस छिद्र से जितनी हवा निकाली जाती है, उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं । इसी प्रकार ॐ ध्वनि भी विभिन्न तत्त्वों के सम्पर्क में आकर विविध प्रकार की स्वर लहरियों में परिणत हो जाती है । इन स्वर लहरियों का सुनना ही नाद योग है ।

पञ्च-तत्त्वों की प्रतिध्वनित हुई ॐकार की स्वर लहरियों को सुनने की नाद-योग साधना कई दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है । प्रथम तो इस दिव्य संगीत के सुनने में इतना आनन्द आता है, जितना किसी मधुर से मधुर वाद्य या गायन सुनने में नहीं आता । दूसरे इस नाद श्रवण से मानसिक तन्तुओं का प्रस्फुटन होता है । सर्प जब संगीत सुनता है , तो उसकी नाड़ी में एक विद्युत् लहर प्रवाहित हो उठती है, मृग का मस्तिष्क मधुर संगीत सुनकर इतना उत्साहित हो जाता है कि उसे तन बदन का होश नहीं रहता । योरोप में गायें दुहते समय मधुर बाजे बजाये जाते हैं, जिससे उनका स्नायु समूह उत्तेजित होकर अधिक मात्रा में दूध उत्पन्न करता है । नाद का दिव्य संगीत सुनकर मानव- मस्तिष्क में भी ऐसी स्फुरणा होती है, जिसके कारण अनेक गुप्त मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं, इस प्रकार भौतिक और आत्मिक दोनों ही दिशाओं में गति होती है ।

तीसरा लाभ एकाग्रता है । एक वस्तु पर- नाद पर ध्यान एकाग्र होने से मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित होती हैं और इस प्रकार मन को वश में करने तथा निश्चित कार्य पर उसे पूरी तरह लगा देने की साधना सफल हो जाती है । यह सफलता कितनी शानदार है, इसे प्रत्येक अध्यात्म मार्ग का जिज्ञासु भली प्रकार जानता है । आतिशी काँच द्वारा एक दो इन्च जगह की सूर्य किरणें एक बिन्दु पर एकत्रित कर देने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है । मानव प्राणी अपने सुविस्तृत शरीर में बिखरी हुई अनन्त दिव्य शक्तियों का एकीकरण कर ऐसी महान् शक्ति उत्पन्न कर सकता है, जिसके द्वारा इस संसार को हिलाया जा सकता है और अपने लिए आकाश में मार्ग बनाया जा सकता है ।

नाद की स्वर लहरियों को पकड़ते-पकड़ते साधक ऊँची रस्सी को पकड़ता हुआ उस उद्‌गम ब्रह्म तक पहुँच जाता है, जो आत्मा का अभीष्ट स्थान है । ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दों में मुक्ति, निर्वाण, परमपद आदि नामों से पुकारी जाती है । नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं -

अभ्यास के लिए ऐसा स्थान प्राप्त कीजिए जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की अधिक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास में बाधक है। इसलिए कोई अँधेरी कोठरी ढूँढ़नी चाहिए। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूर्व तक का समय इसके लिए बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो सके तो प्रातः ७ बजे तक और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नित्य नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिए, अपने नियत कमरे में आसन या आराम कुर्सी बिछाकर बैठो, आसन पर बैठो तो पीठ पीछे कोई मसनद या कपड़े की गठरी आदि रख लो, यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने में लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और अपने शरीर को ढीला छोड़ने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड़ रहा हूँ। थोड़ी देर में शरीर बिलकुल ढीला हो जायेगा और अपना भार अपने आप न सहकर इधर-उधर को ढुलने लगेगा। आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा ले लेने से शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुलायम सी दो डाटें बनाकर उन्हें कानों में लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न कर सके। उँगलियों से कान के छेद बन्द करके भी काम चल सकता है। अब बाहर की कोई आवाज तुम्हें सुनाई न पड़ेगी, यदि पड़े भी तो उस ओर से ध्यान हटाकर अपने मूर्धा-स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आरम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े पर दो-चार दिन के प्रयत्न के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय निर्मल होती जायेगी, वैसे ही वैसे शब्दों की स्पष्टता बढ़ती जायेगी। पहले-पहल कई शब्द सुनाई देते हैं, शरीर में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह धक्-धक्, धक्-धक् सुनाई पड़ती है। वायु के आने जाने की आवाज बादल गरजने जैसी होती है, रसों के पकने और उनके आगे की ओर गति करने की आवाज चटकने की सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो प्रकार के शब्द मानसिक क्रियाओं के हैं। मन में चञ्चलता की लहरें उठती हैं वे मानस-तन्तुओं पर टकराकर ऐसे शब्द करती है, मानों टीन के ऊपर मेह बरस रहा हो और जब मस्तिष्क बाह्य ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारण करता है, तो ऐसा मालूम होता है, मानो कोई प्राणी साँस ले रहा हो। ये पाँचों शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अभ्यास से साधारणतः दो तीन सप्ताह के प्रयत्न से यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं और गुप्त शक्तियों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढ़ती जाती है।

जब नाद श्रवण करने की योग्यता बढ़ती जाती है, तो वंशी या सीटी से मिलती-जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पड़ती हैं, यह सूक्ष्म लोक में होने वाली क्रियाओं का परिचायक है। बहुत दिनों से बिछुड़े हुए बच्चे को यदि उसकी माता की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द विभोर हो जाता है, ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द ध्वनियों को आज वह सुन रहा है, वास्तव में यह उसी तत्त्व के निकट से आ रही हैं, जहाँ से कि आत्मा और परमात्मा का विलगाव हुआ है और जहाँ पहुँच कर दोनों फिर एक हो सकते हैं। धीरे-धीरे यह शब्द स्पष्ट होने लगते हैं और अभ्यासी को उनके सुनने में अद्‌भुत आनन्द आने लगता है। कभी-कभी तो वह उन शब्दों में मस्त होकर आनन्द से विह्वल हो जाता है और अपने तन-मन की सुध भूल जाता है। अन्तिम शब्द ॐ है, यह बहुत ही सूक्ष्म है। इसकी ध्वनि घण्टा ध्वनि के समान रहती है। घड़ियाल में हथौड़ी मार देने पर जैसे वह कुछ देर तक झनझनाती रहती है, उसी प्रकार ॐ का घण्टा शब्द सुनाई पड़ता है।

ॐकार ध्वनि जब सुनाई पड़ने लगती है, तो निद्रा-तन्द्रा या बेहोशी जैसी दशा उत्पन्न होने लगती है। साधक तन-मन की सुध भूल जाता है और समाधि सुख का-तुरीय अवस्था का आनन्द लेने लगता है। उस स्थिति से ऊपर बढ़ने वाली आत्मा-परमात्मा में प्रवेश करती जाती है और अन्ततः पूर्णतया परमात्म अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

अनहद नाद का शुरू रूप है अनाहत नाद। 'आहत' नाद वे होते हैं ,जो किसी प्रेरणा या आघात से उत्पन्न

होते हैं। वाणी के आकाश तत्त्व से टकराने अथवा किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने वाले शब्द 'आहत' कहे जाते हैं। बिना किसी आघात के दिव्य प्रकृति के अन्तराल से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें "अनाहत या अनहद" कहते हैं। वे अनाहत या अनहद शब्द प्रमुखतः दस होते हैं जिनके नाम १- संहारक, २- पालक, ३- सृजक, ४- सहस्रदल, ५- आनन्द मण्डल, ६- चिदानन्द, ७- सच्चिदानन्द, ८- अखण्ड, ९- अगम, १०- अलख हैं। इनकी ध्वनियाँ क्रमशः पायजेब की झंकार की सी, सागर की लहर की, मृदंग की, शंख की, तुरही की, मुरही की, बीन सी, सिंह गर्जन की, नफीरी की, बुलबुल की-सी होती है।

जैसे अनेक रेडियो से एक ही समय में अनेक प्रोग्राम ब्राडकास्ट होते रहते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार के अनाहत शब्द भी प्रस्फुटित होते रहते हैं, उनके कारण, उपयोग और रहस्य अनेक प्रकार के हैं। चौंसठ अनाहत अब तक गिने गये हैं, पर उन्हें सुनना हर किसी के लिए सम्भव नहीं। जिसकी आत्मिक शक्ति जितनी ऊँची होगी, वे उतने ही सूक्ष्म शब्दों को सुनेंगे, पर उपर्युक्त दस शब्द सामान्य आत्मबल वाले भी आसानी से सुन सकते हैं।

यह अनहद सूक्ष्म लोकों की दिव्य भावना है। सूक्ष्म जगत् में किसी स्थान पर क्या हो रहा है, किसी प्रयोजन के लिए कहाँ क्या आयोजन हो रहा है, इस प्रकार के गुप्त रहस्य इन शब्दों द्वारा जाने जा सकते हैं। कौन साधक, किस ध्वनि को अधिक स्पष्ट और किस ध्वनि को मन्द सुनेगा यह उसकी अपनी मनोभूमि की विशेषता पर निर्भर है।

अनहद नाद एक बिना तार की दैवी सन्देश प्रणाली है। साधक इसे जानकर सब कुछ जान सकता है (इन शब्दों में, ॐ ध्वनि आत्म कल्याणकारक और शेष ध्वनियाँ विभिन्न प्रकार की सिद्धियों की जननी हैं, इस पुस्तक में उनका विस्तृत वर्णन नहीं हो सकता। गायत्री योग द्वारा आनन्दमय कोश के जागरण के लिए जितनी जानकारी की आवश्यकता है, वह इन पृष्ठों पर दे दी गई है)।

बिन्दु साधना

बिन्दु साधना का एक अर्थ ब्रह्मचर्य भी है। इस बिन्दु का अर्थ 'वीर्य' अन्नमय कोश के प्रकरण में किया गया है। आनन्दमय कोश की साधना में बिन्दु का अर्थ होगा- परमाणु। सूक्ष्म से सूक्ष्म जो अणु है, वहाँ तक अपनी गति हो जाने पर भी ब्रह्म की समीपता तक पहुँचा जा सकता है और सामीप्य सुख का अनुभव किया जा सकता है।

किसी वस्तु को कूटकर यदि चूर्ण बना लें और चूर्ण को खुर्दबीन से देखें, तो छोटे-छोटे टुकड़ों का एक ढेर दिखाई पड़ेगा। यह टुकड़े कई और टुकड़ों से मिलकर बने होते हैं। इन्हें भी वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से कूटा जाए, तो अन्त में जो न टूटने वाले, न कुटने वाले टुकड़े रह जायेंगे, उन्हें परमाणु कहेंगे। इन परमाणुओं की लगभग १०० जातियाँ अब तक पहचानी जा चुकी हैं, जिन्हें अणुतत्त्व कहा जाता है।

अणुओं के दो भाग हैं, एक सजीव दूसरे निर्जीव। दोनों ही एक पिण्ड या ग्रह के रूप में मालूम पड़ते हैं, पर वस्तुतः उनके भीतर भी और टुकड़े हैं। प्रत्येक अणु अपनी- अपनी धुरी पर बड़े वेग से परिभ्रमण करता है। पृथ्वी भी सूर्य की परिक्रमा के लिए प्रति सेकेण्ड १८ ॥ मील की चाल से चलती है, पर इन १०० परमाणुओं की गति चार हजार मील प्रति सेकेण्ड मानी जाती है।

यह परमाणु भी अनेक विद्युत् कणों से मिलकर बने हैं जिनकी दो जातियाँ हैं, १- ऋण कण, २- धन कण। धन कणों के चारों ओर ऋण-कण प्रति सेकेण्ड एक लाख अस्सी हजार मील की गति से परिभ्रमण करते हैं। उधर धन कण, ऋण कण की परिक्रमा के केन्द्र होते हुए भी शान्त नहीं बैठते। जैसे पृथ्वी, सूर्य की परिक्रमा लगाती है और सूर्य अपने सौर-मण्डल को लेकर 'कृतिका' नक्षत्र की परिक्रमा करता है, वैसे ही धन कण भी परमाणु की अन्तरगति का कारण होते हैं। ऋण-कण जो कि द्रुतगति से निरन्तर परिक्रमा में संलग्न हैं, अपनी शक्ति सूर्य से अथवा विश्व-व्यापी अग्नि तत्त्व से प्राप्त करते हैं।

वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि एक परमाणु के अन्दर का शक्ति-पुञ्ज फूट पड़े, तो क्षण भर में लन्दन जैसे

तीन नगरों को भस्म कर सकता है । इस परमाणु के विस्फोट की विधि मालूम करके ही 'एटमबम' का आविष्कार हुआ है । एक परमाणु के फोड़ देने से जो भयंकर विस्फोट होता है उसका परिचय गत महायुद्ध से मिल चुका है । इसकी और भी भयंकरता का पूर्ण प्रकाश होना अभी बाकी है जिसके लिए वैज्ञानिक लगे हुए हैं ।

यह तो परमाणु शक्ति की बात रही, अभी उनके अंग ऋण-कण और धन-कणों के सूक्ष्म भागों का भी पता चला है । वे भी अपने से अनेक गुने सूक्ष्म परमाणुओं से बने हुए हैं, जो ऋण-कणों के भीतर एक लाख, छियासी हजार, तीन सौ तीस मील प्रति सेकेण्ड की गति से परिभ्रमण करते हैं । अभी उनके भी अन्तर्गत कर्षाणुओं की खोज हो रही है और विश्वास किया जाता है कि उन कर्षाणुओं के भीतर भी सर्गाणु हैं । परमाणुओं की अपेक्षा ऋण कण तथा धन कणों की गति तथा शक्ति अनेकों गुनी है । उसी अनुपात से इन सूक्ष्म, सूक्ष्मान्तर और सूक्ष्मतम अणुओं की गति तथा शक्ति होगी । जब परमाणुओं के विस्फोट की शक्ति लन्दन जैसे तीन शहरों को जला देने की है, तो सर्गाणु की शक्ति एवं गति की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन होगा । उसके अन्तिम सूक्ष्म केन्द्र को अप्रितम, अप्रमेय, अचिन्त्य ही कह सकते हैं ।

देखने में पृथ्वी चपटी मालूम पड़ती है, पर वस्तुत: वह लड्डू की तरह अपनी धुरी पर घूमती रहती है । चौबीस घण्टे में उसका एक चक्कर पूरा हो जाता है । पृथ्वी की दूसरी चाल भी है, वह सूर्य की परिक्रमा करती है । इस चक्कर में उसे एक वर्ष लग जाता है ।तीसरी चाल पृथ्वी की यह है कि सूर्य अपने ग्रह-उपग्रहों को साथ लेकर बड़े वेग से अभिजित् नक्षत्र की ओर जा रहा है । अनुमान है, वह कृतिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है । इसमें पृथ्वी भी साथ है । लट्टू जब अपनी कीली पर घूमता है, तो वह इधर-उधर उठता भी रहता है इसे मँडलाने की चाल कहते हैं, जिसका एक चक्कर करीब २६ हजार वर्ष में पूरा होता है । कृतिका नक्षत्र भी सौरमण्डल आदि अपने उपग्रहों को लेकर ध्रुव की परिक्रमा करता है, उस दशा में पृथ्वी की गति पाँचवीं हो जाती है ।

सूक्ष्म परमाणु के सूक्ष्मतम भाग सर्गाणु तक भी मानव बुद्धि पहुँच गयी है और बड़े से बड़े महा-अणुओं के रूप में पाँच गति तो पृथ्वी की विदित हुयीं । आकाश के असंख्य ग्रह-नक्षत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध न जाने कितने बड़े महा अणु के रूप में पूरा होता होगा, उस महानता की कल्पना भी बुद्धि को थका देती है । उसे भी अप्रतिम, अप्रमेय और अचिन्त्य ही कहा जायेगा ।

सूक्ष्म से सूक्ष्म और महत् से महत् केन्द्रों पर जाकर बुद्धि थक जाती है और उससे छोटे या बड़े की कल्पना नहीं हो सकती, उस केन्द्र को 'बिन्दु' कहते हैं ।

अणु को योग की भाषा में अण्ड भी कहते हैं । वीर्य का एक कण 'अण्ड' है । वह इतना छोटा होता है कि बारीक खुर्दबीन से भी मुश्किल से ही दिखाई देता है, पर जब वह विकसित होकर स्थूल रूप में आता है, तो वही बड़ा अण्डा हो जाता है । उस अण्डे के भीतर जो पक्षी रहता है उसके अनेक अंग-प्रत्यंग विभाग होते हैं, उन विभागों में असंख्य सूक्ष्म विभाग और उनमें भी अगणित कोषांड रहते हैं । इस प्रकार शरीर भी एक अणु है, इसी को अण्ड या पिण्ड कहते हैं । अखिल विश्व ब्रह्माण्ड में अगणित सौरमण्डल, आकाश-गंगा और ध्रुव-चक्र हैं ।

इन ग्रहों की दूरी और विस्तार का कुछ ठिकाना नहीं । पृथ्वी बहुत बड़ा पिण्ड है, पर सूर्य तो पृथ्वी से भी तेरह लाख गुना बड़ा है । सूर्य से भी करोड़ों गुने ग्रह आकाश में मौजूद हैं । इनकी दूरी का अनुमान इससे लगाया जाता है कि प्रकाश की गति प्रति सैकेण्ड पौने दो लाख मील है और उन ग्रहों का प्रकाश पृथ्वी तक आने में ३० लाख वर्ष लगते हैं । यदि कोई ग्रह आज नष्ट हो जाए, तो उसका अस्तित्व न रहने पर भी उसकी प्रकाश किरणें आगामी तीस लाख वर्ष तक यहाँ आती रहेंगी । जिस नक्षत्र का प्रकाश पृथ्वी पर आता है, उनके अतिरिक्त ऐसे ग्रह बहुत अधिक हैं, जो अत्यधिक दूरी के कारण पृथ्वी पर दुर्बीनों से भी दिखाई नहीं देते । इतने बड़े और दूरस्थ ग्रह जब अपनी परिक्रमा करते होंगे, अपने ग्रहमण्डल को साथ लेकर परिभ्रमण को निकलते होंगे, उस शून्य के विस्तार की कल्पना कर लेना मानव-मस्तिष्क के लिए बहुत कठिन है ।

इतना बड़ा ब्रह्माण्ड भी एक अणु या अंण्ड है । इसलिए उसे ब्रह्म + अण्ड = ब्रह्माण्ड कहते हैं । पुराणों में वर्णन है कि जो ब्रह्माण्ड हमारी जानकारी में है, उसके अतिरिक्त भी ऐसे ही और अगणित ब्रह्माण्ड हैं और उन

सबका समूह एक महा अण्ड है, उस महाअण्ड की तुलना में पृथ्वी उससे छोटी बैठती है जितना कि परमाणु की तुलना में सर्गाणु छोटा होता है।

इस लघु से लघु और महान् से महान् अण्ड में जो शक्ति व्यापक है, जो इन सबको गतिशील, विकसित, परिवर्तित एवं चैतन्य रखती है, उस सत्ता को 'बिन्दु' कहा गया है। यह बिन्दु ही परमात्मा है। उसी को छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कहा जाता है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहकर उपनिषदों ने उस परब्रह्म का परिचय दिया है।

इस बिन्दु का चिन्तन करने से आनन्दमय कोश स्थित जीव की उस परब्रह्म के रूप की कुछ झाँकी होती है और उसे प्रतीत होता है कि परब्रह्म की, महा-अण्ड की तुलना में मेरा अस्तित्व, मेरा पिण्ड कितना तुच्छ है। इस तुच्छता का भान होने से अहंकार और गर्व बिगलित हो जाते हैं। दूसरी ओर जब सर्गाणु से अपने पिण्ड की, शरीर की तुलना करते हैं, तो प्रतीत होता है कि अटूट शक्ति के अक्षय भण्डार सर्गाणु की इतनी अटूट संख्या और शक्ति जब हमारे भीतर है, तो हमें अपने को अशक्त समझने का कोई कारण नहीं है। उस शक्ति का उपयोग जान लिया जाए, तो संसार में होने वाली कोई भी बात हमारे लिये असम्भव नहीं हो सकती।

जैसे महा अण्ड की तुलना में हमारा शरीर अत्यन्त क्षुद्र है और हमारी तुलना में उसका विस्तार अनुपमेय है, इसी प्रकार सर्गाणुओं की दृष्टि में हमारा पिण्ड (शरीर) एक महाब्रह्माण्ड जैसा विशाल होगा, इसमें जो स्थिति समझ में आती है वह प्रकृति के अण्ड से भिन्न एक दिव्य शक्ति के रूप में विदित होती है। लगता है कि मैं मध्य बिन्दु हूँ, केन्द्र हूँ, सूक्ष्म से सूक्ष्म में और स्थूल से स्थूल में मेरी व्यापकता है।

लघुता-महत्ता का एकान्त चिन्तन ही बिन्दु साधना कहलाता है। इस साधना के साधक को सांसारिक जीवन की अवास्तविकता और तुच्छता का भली प्रकार बोध हो जाता है, साथ ही यह भी प्रतीत हो जाता है कि मैं अनन्त शक्ति का उद्गम होने के कारण इस सृष्टि का महत्त्वपूर्ण केन्द्र हूँ। जैसे जापान पर फटा हुआ परमाणु ही ऐतिहासिक 'एटमबम' के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा, वैसे ही जब अपने शक्ति-पुञ्ज का सदुपयोग किया जाता है, तो उसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से संसार का भारी परिवर्तन करना सम्भव हो जाता है।

विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र के पिण्ड को एटमबम बनाकर 'असत्य' के साम्राज्य पर इस प्रकार विस्फोट किया था कि लाखों वर्ष बीत जाने पर भी उसकी 'ऐक्टिव' किरणें अभी समाप्त नहीं हुई हैं और अपने प्रभाव से असंख्यों को बराबर प्रभावित करती चली आ रही हैं। महात्मा गाँधी ने बचपन में राजा हरिश्चन्द्र का लेख पढ़ा था। उन्होंने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है कि मैं उसे पढ़कर इतना प्रभावित हुआ कि स्वयं भी हरिश्चन्द्र बनने की ठान ली, अपने संकल्प के द्वारा वे सचमुच हरिश्चन्द्र बन भी गये। राजा हरिश्चन्द्र आज नहीं हैं पर उनकी आत्मा अब भी उसी प्रकार अपना महान् कार्य कर रही है। न जाने कितने अप्रकट गाँधी उसके द्वारा निर्मित होते रहते होंगे, गीताकार आज नहीं है, पर आज उनकी गीता कितनों को अमृत पिला रही है ? यह पिण्ड का सूक्ष्म प्रभाव ही है, जो प्रकट या अप्रकट रूप से स्व, पर कल्याण का महान् आयोजन प्रस्तुत करता है।

कार्लमार्क्स के सूक्ष्म शक्ति केन्द्र से प्रस्फुटित हुई चेतना आज आधी दुनिया को कम्युनिस्ट बना चुकी है। पूर्वकाल में महात्मा ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, कृष्ण आदि अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं, जिन्होंने संसार पर बड़े महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाले हैं। इन प्रकट महापुरुषों के अतिरिक्त ऐसी अनेक अप्रकट आत्मायें भी हैं जिन्होंने संसार की सेवा में, जीवों के कल्याण में गुप्त रूप से बड़ा भारी काम किया है। हमारे देश में योगी अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, समर्थ गुरु रामदास आदि द्वारा जो कार्य हुआ तथा आज भी अनेक महापुरुष जो कार्य कर रहे हैं, उसको स्थूल दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है। युग परिवर्तन निकट है, उसके लिए रचनात्मक और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म जगत् में जो महान् आयोजन हो रहा है। उस महाकार्य को हमारे चर्म- चक्षु देख पावें, तो जानें कि कैसा अनुपम एवं अभूतपूर्व परिवर्तन चक्र प्रस्तुत हो रहा है और वह चक्र निकट भविष्य में कैसे-कैसे विलक्षण परिवर्तन करके मानव जाति को एक नये प्रकाश की ओर ले जा रहा है।

विषयान्तर चर्चा करना हमारा प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो हमें यह बताना है कि लघुता और महत्ता के चिन्तन

की बिन्दु साधना से आत्मा का भौतिक अभिमान और लोभ विगलित होता है, साथ ही उस आन्तरिक शक्ति का विस्तार होता है, जो 'स्व' पर कल्याण के लिए अत्यंत ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।

बिन्दु-साधक की आत्म-स्थिति उज्ज्वल होती जाती है, उसके विकार मिट जाते हैं। फलस्वरूप उसे उस अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करना जीवन धारण का प्रधान उद्देश्य है।

कला साधना

'कला का अर्थ है-किरण।' प्रकाश यों तो अत्यन्त सूक्ष्म है, उस पर सूक्ष्मता का ऐसा समूह जो हमें एक निश्चित प्रकार का अनुभव करावे 'कला' कहलाता है। सूर्य से निकलकर अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाश तरंगें भूतल पर आती हैं, उनका एक समूह ही इस योग्य बन पाता है कि नेत्रों से या यन्त्रों से उसका अनुभव किया जा सके। सूर्य किरणों के सात रंग प्रसिद्ध हैं, परमाणुओं के अन्तर्गत जो 'परमाणु' होते हैं, उनकी विद्युत् तरंगें जब हमारे नेत्रों से टकराती हैं, तभी किसी रंग रूप का ज्ञान हमें होता है। रूप को प्रकाशवान् बनाकर प्रकट करने का काम कला द्वारा ही होता है।

कलायें दो प्रकार की होती हैं - १-आप्ति, २- व्याप्ति। आप्ति किरणें वे हैं, जो प्रकृति के अणुओं से प्रस्फुटित होती हैं। व्याप्ति वे हैं जो पुरुष के अन्तराल से आविर्भूत होती हैं, इन्हें 'तेजस्' भी कहते हैं। वस्तुयें पञ्चतत्त्वों से बनी होती हैं, इसलिए परमाणु से निकलने वाली किरणें अपने प्रधान तत्त्व की विशेषता भी साथ लिए होती हैं, वह विशेषता रंग द्वारा पहचानी जाती है। किसी वस्तु का प्राकृतिक रंग देखकर यह बताया जा सकता है कि इन पञ्च-तत्त्वों में कौन-सा तत्त्व किस मात्रा में विद्यमान है ?

सव्याप्ति कला, किसी मनुष्य के 'तेजस्' में परिलक्षित होती है। यह तेजस् मुख के आस-पास प्रकाश मण्डल की तरह विशेष रूप से फैला होता है, यों तो यह सारे शरीर के आस-पास प्रकाशित रहता है। इसे अंग्रेजी में 'ऑरा' और संस्कृत में 'तेजोवलय' कहते हैं। देवताओं के चित्र में उनके मुख के आस-पास एक प्रकाश का गोला सा चित्रित होता है, यह उनकी कला का ही चिह्न है। अवतारों के संबंध में उनकी शक्ति का माप उनकी कथित कलाओं से किया जाता है। परशुराम जी में तीन, रामचन्द्रजी में बारह, कृष्ण जी में सोलह कलायें बतायी गयी हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उनमें साधारण मात्रा में इतनी गुनी आत्मिक शक्ति थी।

सूक्ष्मदर्शी लोग किसी व्यक्ति या वस्तु की आन्तरिक स्थिति का पता उनके तेजोवलय और रंग, रूप, चमक और चैतन्यता को देखकर मालूम कर लेते हैं। 'कला' विद्या की जिसे जानकारी है वह भूमि के अंतर्गत छिपे हुए पदार्थों को, वस्तुओं के अन्तर्गत छिपे हुए गुण, प्रभाव एवं महत्त्वों को आसानी से जान लेता है। किस मनुष्य में कितनी कलायें हैं, उसमें क्या-क्या शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विशेषतायें हैं तथा किन-किन गुण, दोष, योग्यताओं, सामर्थ्यों की उनमें कितनी न्यूनाधिकता है ? यह सहज ही पता चल सकता है। इस जानकारी के होने से किसी व्यक्ति से समुचित सम्बन्ध रखना सरल हो जाता है।

कला-विज्ञान का ज्ञाता अपने शरीर की तात्त्विक न्यूनाधिकता का पता लगाकर इसे आत्म-बल से ही सुधार सकता है और अपनी कलाओं में समुचित संशोधन, परिमार्जन एवं विकास कर सकता है। कला ही सामर्थ्य है। अपनी आत्मिक सामर्थ्य का, आत्मिक उन्नति का माप कलाओं की परीक्षा करके प्रकट हो जाता है और साधक यह निश्चित कर सकता है कि उन्नति हो रही है या नहीं ? उसे संतोषजनक सफलता मिल रही है या नहीं।

सब ओर से चित्त हटाकर नेत्र बन्द करके भृकुटी के मध्य भाग में ध्यान एकत्रित करने से मस्तिष्क में तथा उसके आस-पास रंग-बिरंगी धज्जियाँ, चिन्दियाँ तथा तितलियाँ-सी उड़ती दिखाई पड़ती हैं। इनके रंगों का आधार तत्त्वों पर निर्भर होता है। पृथ्वी तत्त्व का रंग पीला, जल का श्वेत, अग्नि का लाल, वायु का हरा, आकाश का नीला होता है। जिस रंग की झिलमिल होती है, उसी के आधार पर यह जाना जा सकता है कि इस समय हममें किन तत्त्वों की अधिकता और किनकी न्यूनता है।

प्रत्येक रंग में अपनी-अपनी विशेषता होती है। पीले रंग में-क्षमा, गम्भीरता, उत्पादन, स्थिरता, वैभव, मजबूती,

संजीदगी, भारीपन । श्वेत रंग में- शान्ति, रसिकता, कोमलता, शीघ्र प्रभावित होना, तृप्ति, शीतलता, सुन्दरता, वृद्धि, प्रेम । लाल रंग में- गर्मी, उष्णता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अनिष्ट, शूरता, सामर्थ्य, उत्तेजना, कठोरता, कामुकता, तेज, प्रभावशीलता, चमक, स्फूर्ति । हरे रंग में - चञ्चलता, कल्पना, स्वप्न-शीलता, जकड़न, दर्द, अपहरण, धूर्तता, गतिशीलता, विनोद, प्रगतिशीलता, प्राण पोषण, परिवर्तन । नीले रंग में- विचारशीलता, बुद्धि सूक्ष्मता, विस्तार, सात्त्विकता, प्रेरणा, व्यापकता, संशोधन, सम्वर्धन, सिंचन, आकर्षण आदि गुण होते हैं ।

जड़ या चेतन किसी भी पदार्थ के प्रकट रंग एवं उससे निकलने वाली सूक्ष्म प्रकाश ज्योति से यह जाना जा सकता है कि इस वस्तु या प्राणी का गुण, कर्म, स्वभाव एवं प्रभाव कैसा हो सकता है ? साधारणतः यह पाँच तत्त्वों की कला है, जिनके द्वारा यह कार्य हो सकता है - १- व्यक्तियों तथा पदार्थों की आन्तरिक स्थिति को समझना, २- अपने शारीरिक तथा मानसिक क्षेत्र में असन्तुलित किसी गुण दोष को सन्तुलित करना, ३- दूसरों के शारीरिक तथा मन की विकृतियों का संशोधन करके सुव्यवस्था स्थापित करना, ४- तत्त्वों के मूल आधार पर पहुँचकर तत्त्वों की गतिविधि तथा क्रिया पद्धति को जानना, ५- तत्त्वों पर अधिकार करके सांसारिक पदार्थों का निर्माण, पोषण तथा विनाश करना ।

यह उपरोक्त पाँच लाभ ऐसे हैं जिनकी व्याख्या की जाए, तो वे ऋद्धि-सिद्धियों के समान आश्चर्यजनक प्रतीत होंगे । यह पाँच भौतिक कलायें हैं, जिनका उपयोग राजयोगी, हठयोगी, मन्त्रयोगी तथा तांत्रिक अपने-अपने ढंग से करते हैं और इस तात्त्विक शक्ति का अपने-अपने ढंग से सदुपयोग-दुरुपयोग करके भले-बुरे परिणाम उपस्थित करते हैं । कला द्वारा सांसारिक भोग, वैभव भी मिल सकता है, आत्म-कल्याण भी हो सकता है और किसी को शापित, अभिचारित एवं दुख शोक सन्तप्त भी बनाया जा सकता है । पञ्च तत्त्वों की कलायें ऐसी ही प्रभावपूर्ण होती हैं ।

आत्मिक कलायें तीन होती हैं- सत्, रज , तम । तमोगुणी कलाओं का मध्य केन्द्र शिव है । रावण, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर, कुम्भकरण, मेघनाद आदि असुर इन्हीं तामसिक कलाओं के सिद्ध पुरुष थे । रजोगुणी कलायें ब्रह्मा से आती हैं । इन्द्र, कुबेर, वरुण, बृहस्पति, ध्रुव, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, कर्ण आदि में इन राजसिक कलाओं की विशेषता थी । सतोगुणी सिद्धियाँ विष्णु से आविर्भूत होती हैं । व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, बुद्ध, महावीर, ईसा, गाँधी आदि ने सात्त्विकता के केन्द्र से ही शक्ति प्राप्त की थी ।

आत्मिक कलाओं की साधना गायत्री योग के अन्तर्गत ग्रन्थि भेदन द्वारा होती है । रुद्र ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और ब्रह्म ग्रन्थि के खुलने से इन तीनों ही कलाओं का साक्षात्कार साधक को होता है । पूर्वकाल में लोगों के शरीर में आकाश तत्त्व अधिक था । इसलिए उन्हें उन्हीं साधनाओं से अत्यधिक आश्चर्यमयी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती थी, पर आज के युग में जन समुदाय के शरीर में पृथ्वी तत्त्व प्रधान है । इसलिए अणिमा, महिमा आदि तो नहीं, पर सत्, रज, तम की शक्तियों की अधिकता से अब भी आश्चर्यजनक हित साधना हो सकती है ।

पाँच कलाओं द्वारा तात्त्विक साधना

पृथ्वी तत्त्व- इस तत्त्व का स्थान मूलाधार चक्र अर्थात् गुदा से दो अंगुल अंडकोश की ओर हटकर सीवन में स्थित है । सुषुम्ना का आरम्भ इसी स्थान से होता है । प्रत्येक चक्र का आकार कमल के पुष्प जैसा है । यह 'भूलोक' का प्रतिनिधि है । पृथ्वी तत्त्व का ध्यान इसी मूलाधार चक्र में किया जाता है ।

पृथ्वी तत्त्व की आकृति चतुष्कोण, रंग पीला, गुण गन्ध है । इसलिए इसको जानने की इन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है । शरीर में पीलिया, कमलबाई(पीलिया) आदि रोग इसी तत्त्व की विकृति से पैदा होते हैं । भय आदि मानसिक विकारों में इसकी प्रधानता होती है । इस तत्त्व के विकार मूलाधार चक्र में ध्यान स्थित करने से अपने आप शान्त हो जाते हैं ।

साधन विधि- सबेरे जब एक पहर अँधेरा रहे, तब किसी शान्त स्थान और पवित्र आसन पर दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर उन पर बैठें । दोनों हाथ उलटे करके घुटनों पर इस प्रकार रखो, जिससे उँगलियों के छोर

पेट की ओर रहें । फिर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुए मूलाधार चक्र में 'लं' बीज वाली चौकोर पीले रंग की पृथ्वी का ध्यान करें । इस प्रकार करने से नासिका सुगन्धि से भर जाती है और शरीर उज्ज्वल कान्ति वाला हो जाता है । ध्यान करते समय ऊपर कहे पृथ्वी तत्त्व के समस्त गुणों को अच्छी तरह ध्यान में लाने का प्रयत्न करना चाहिए और 'लं' इस बीज मन्त्र का मन ही मन (शब्द रूप से नहीं, वरन् ध्वनि रूप से) जप करते जाना चाहिए ।

जल तत्त्व- पेडू के नीचे , जननेन्द्रिय के ऊपर मूल भाग में स्वाधिष्ठान चक्र में, जल तत्त्व का स्थान है । यह चक्र 'भुवः' लोक का प्रतिनिधि है, रंग श्वेत, आकृति अर्धचन्द्राकार और गुण रस है । कटु, अम्ल, तिक्त, मधुर आदि सब रसों का स्वाद इसी तत्त्व के कारण आता है । इसकी ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा और कर्मेन्द्रिय लिंग है । मोहादि विकार इसी तत्त्व की विकृति से होते हैं ।

साधन विधि- पृथ्वी तत्त्व का ध्यान करने के लिए बताई हुई विधि से आसन पर बैठकर 'बं' बीज वाले अर्धचन्द्राकार चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले जल तत्त्व का स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान करना चाहिए । इनसे भूख प्यास मिटती है और सहन शक्ति उत्पन्न होती है ।

अग्नि तत्त्व- नाभि स्थान में स्थित मणिपूरक चक्र में अग्नि तत्त्व का निवास है । यह 'स्वः' लोक का प्रतिनिधि है । इस तत्त्व की आकृति त्रिकोण, रंग लाल, गुण रूप है । ज्ञानेन्द्रिय नेत्र और कर्मेन्द्रिय पाँव हैं । क्रोधादि मानसिक विकार तथा सूजन आदि शारीरिक विकार इस तत्त्व की गड़बड़ी से होते हैं । इसके सिद्ध हो जाने पर मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि पेट के विकार दूर हो जाते हैं और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत् होने में सहायता मिलती है ।

साधन विधि- नियत समय पर बैठकर 'रं' बीज मन्त्र वाले त्रिकोण आकृति के और अग्नि के समान लाल प्रभा वाले अग्नि-तत्त्व का मणिपूरक चक्र में ध्यान करें । इस तत्त्व के सिद्ध हो जाने पर सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है ।

वायु तत्त्व- यह तत्त्व हृदय देश में स्थित अनाहत चक्र में है एवं 'महर्लोक' का प्रतिनिधि है । रंग हरा, आकृति षट्कोण तथा गोल दोनों तरह की है, गुण- स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय-त्वचा और कर्मेन्द्रिय-हाथ है । वात-व्याधि, दमा आदि रोग इसी की विकृति से होते हैं ।

साधन विधि- नियत विधि से स्थित होकर 'यं' बीज वाले गोलाकर, हरी आभा वाले वायु-तत्त्व का अनाहत चक्र में ध्यान करें । इससे शरीर और मन में हलकापन आता है ।

आकाश तत्त्व- शरीर में इसका निवास विशुद्ध चक्र में है । यह चक्र कण्ठ स्थान 'जनलोक' का प्रतिनिधि है । इसका रंग नीला, आकृति अण्डे की तरह लम्बी, गोल, गुण शब्द, ज्ञानेन्द्रिय- कान तथा कर्मेन्द्रिय वाणी है ।

साधन विधि- पूर्वोक्त आसन पर 'हं' बीज मन्त्र का जाप करते हुए चित्र-विचित्र रंग वाले आकाश-तत्त्व का विशुद्ध चक्र में ध्यान करना चाहिए । इससे तीनों कालों का ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

नित्य प्रति पाँच तत्त्वों का छः मास तक अभ्यास करते रहने से तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं, फिर तत्त्व को पहचानना और उसे घटाना-बढ़ाना सरल हो जाता है । तत्त्व की सामर्थ्य तथा कलायें बढ़ने से साधक कलाधारी बन जाता है । उसकी कलायें अपना चमत्कार प्रकट करती रहती हैं ।

तुरीय अवस्था

मन को पूर्णतया संकल्प रहित कर देने से रिक्त मानस की निर्विषय स्थिति होती है उसे तुरीयावस्था कहते हैं । जब मन में किसी भी प्रकार का एक भी संकल्प न रहे । ध्यान, भाव, विचार, संकल्प, इच्छा, कामना को पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाए और भाव रहित होकर केवल आत्मा के एक केन्द्र में अपने अन्तःकरण को पूर्णतया समाविष्ट कर दिया जाए, तो साधक तुरीयावस्था में पहुँच जाता है । इस स्थिति में इतना आनन्द आता है कि उस आनन्द के अतिरेक में अपनेपन की सारी सुध-बुध छूट जाती है और पूर्ण मनोयोग होने से बिखरा हुआ आनन्द एकीभूत होकर साधक को आनन्द से परितृप्त कर देता है, इसी स्थिति को समाधि कहते हैं ।

समाधि काल में अपना संकल्प ही एक सजीव एवं अनन्त शक्तिशाली देव बन जाता है और उसकी झाँकी दृश्य जगत् से भी अधिक स्पष्ट होती है। नेत्रों के दोष और चंचलता से कई वस्तुयें हमें धुँधली दिखाई पड़ती हैं और उनकी बारीकियाँ नहीं सूझ पड़तीं। परन्तु समाधि अवस्था में परिपूर्ण दिव्य इन्द्रियों और चित्त वृत्तियों का एकीकरण जिस संकल्प पर होता है, वह संकल्प सब प्रकार मूर्तिमान् एवं सक्रिय परिलक्षित होता है। जिस किसी को जब कभी ईश्वर का मूर्तिमान् साक्षात्कार होता है, तब समाधि अवस्था में उसका संकल्प ही मूर्तिमान् हुआ होता है।

भावावेश में भी क्षणिक समाधि हो जाती है। भूत, प्रेत आवेश, देवोन्माद, हर्ष, शोक की मूर्छा, नृत्य वाद्य में लहरा जाना, आवेश में अपनी या दूसरे की हत्या आदि भयंकर कृत्य कर डालना, क्रोध का व्यतिरेक, बिछुड़ों से मिलन का प्रेमावेश, कीर्तन आदि के समय भाव विह्वलता, अश्रुपात, चीत्कार, आर्तनाद, करुण-क्रन्दन, हूक आदि में आंशिक समाधि होती है। संकल्प में, भावना में आवेश की जितनी अधिक मात्रा होगी, उतनी ही गहरी समाधि होगी और उसका फल भी सुख या दुख के रूप में उतना ही अधिक होगा। भय का व्यतिरेक या आवेश होने पर डर के मारे भावना मात्र से लोगों की मृत्यु तक होती देखी गई है। कई व्यक्ति फाँसी पर चढ़ने से पूर्व ही डर के मारे प्राण त्याग देते हैं।

आवेश की दशा में अन्तरंग शक्तियों और वृत्तियों का एकीकरण हो जाने से एक प्रचण्ड भावोद्वेग होता है। यह उद्वेग भिन्न-भिन्न दशाओं में मूर्छा, उन्माद, आवेश आदि नामों से पुकारा जाता है। पर जब वह दिव्य भूमिका में आत्म तन्मयता के साथ होता है, तो उसे समाधि कहते हैं। पूर्ण समाधि में पूर्ण तन्मयता के कारण पूर्णानन्द का अनुभव होता है। आरम्भ स्वप्न मात्रा की आंशिक समाधि के साथ होता है। दैवी भावनाओं में एकाग्रता एवं तन्मयतापूर्ण भावावेश जब होता है, तो आँखें-झपक जाती हैं, सुस्ती, तन्द्रा या मूर्छा भी आने लगती है, माला हाथ से छूट जाती है, जप करते-करते जिह्वा रुक जाती है। अपने इष्ट की हल्की-सी झाँकी होती है और एक ऐसे आनन्द की क्षणिक अनुभूति होती है जैसा कि संसार के किसी पदार्थ में नहीं मिलती। यह स्थिति आरंभ में स्वल्प मात्रा में ही होती है पर धीरे-धीरे उसका विकास होकर परिपूर्ण तुरीयावस्था की ओर चलने लगती है और अन्त में सिद्धि मिल जाती है।

आनन्दमय कोश के चार अंग प्रधान हैं- १-नाद, २- बिन्दु, ३- कला और ४- तुरीया। इन साधनों द्वारा साधक अपनी पंचम भूमिका को उत्तीर्ण कर लेता है। गायत्री के इस पाँचवें मुख को खोल देने वाला साधक जब एक एक करके पाँच मुखों से माता का आशीर्वाद प्राप्त कर लेता है, तो उसे और प्राप्त करना कुछ शेष नहीं रह जाता।

पञ्चकोशी साधना का ज्ञातव्य

पिछले पृष्ठों पर पञ्चकोशी साधना के अन्तर्गत योग विद्या की वे साधनायें बताई गई हैं, जो सर्व साधारण के लिए सरल एवं उपयोगी हैं। यह प्रकट है कि आध्यात्मिक महातत्त्व गायत्री ही है। जितना भी ज्ञान, विज्ञान और योग है वह सब गायत्री से आविर्भूत होता है। इसलिए ऐसी कोई साधना हो नहीं सकती, जो गायत्री की महापरिधि से बाहर हो। सम्पूर्ण योग शास्त्र निश्चित रूप से गायत्री के अन्तर्गत है।

योग साधनायें अनेक हैं। ये सब एक ही महातत्त्व की प्राप्ति के लिये हैं गायत्री का नाम ही 'मुक्ति' है और उसी को सिद्धि कहते हैं। जैसे किसी नगर में पहुँचने के लिए अनेक दिशाओं के अनेक रास्ते होते हैं, उसी प्रकार प्रभु प्राप्ति के लिये अनेक योग हैं। प्रत्येक मार्ग में अलग-अलग प्रकार के दृश्य, पदार्थ और मनुष्य मिलते हैं। इनको ध्यान में रखते हुए लोग निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने का मार्ग निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक योग साधना की यह विशेषता है कि उसके मार्ग में अपने-अपने ढंग के अनोखे-अनोखे अनुभव होते हैं, भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ एवं अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। अन्त में पहुँचते सब एक ही स्थान पर हैं।

योग साधनायें अनेक प्रकार की इसलिये हैं कि मनोभूमि, स्थिति, शक्ति, सुविधा, रुचि, देश, काल, पात्र के

भेद से भिन्न-भिन्न परिस्थिति के लोग उन्हें अपना सकें । युग परिवर्तन के अनुसार तत्त्वों की स्थिति में अन्तर आता रहता है । पूर्वकाल में जलवायु में जो गुण था, वह अब नहीं है । जो अब है वह आगे न रहेगा । सृष्टि धीरे-धीरे बूढ़ी होती जाती है । बालक में जितनी स्फूर्ति, कोमलता, चञ्चलता, उमंग और सुन्दरता होती है वह बूढ़े में नहीं रहती । जवान आदमी जितना बोझ उठा सकता है, उतना वृद्ध पुरुष के लिए सम्भव नहीं ।

सतयुग सृष्टि का बालकपन है, त्रेता जवानी, द्वापर अधेड़ अवस्था है, तो कलयुग बुढ़ापा । पंचतत्त्वों की यही स्थिति होती है । जब बुढ़ापा अधिक आ जाता है तो सृष्टि मर जाती है, प्रलय हो जाती है । फिर उसका नया जन्म होता है । सतयुग के बालक पञ्चतत्त्वों में प्राणियों के शरीर भी वैसे ही थे, खाद्य पदार्थ तथा जलवायु में भी वैसी ही विशेषता थी । मानसिक चेतना, इन्द्रिय लालसा, आहर-विहार, आयु एवं शरीर के ढाँचा की गर्मी तथा वायु के भी युग प्रभाव से बहुत कुछ सम्बन्धित रहता है ।

भूगर्भ विज्ञान के अन्वेषकों ने कुछ हजार वर्ष पुराने ऐसे जीव-जन्तुओं के प्रमाण पाये हैं, जो वर्तमान जीवों की अपेक्षा कहीं भिन्न आकृति के और कहीं अधिक बड़े थे । ऐसे मनुष्यों के अस्थि-पंजर मिले हैं, जो दस फीट लम्बे थे । महागज, महामकर और महाशूकर अपने वर्तमान वंशजों की अपेक्षा पाँच गुने से लेकर सैंतीस गुने तक बड़े थे, ऐसे प्रमाण मिल चुके हैं । जिस प्रकार सूर्यकाल में अग्नि-तत्त्व प्रधान शरीर वाले प्राणी रहते हैं, उसी प्रकार सतयुग में आकाश तत्त्व की प्रधानता इस पृथ्वी पर होने से उस समय उसी तत्त्व की प्रधानता वाले प्राणी इस पृथ्वी पर थे । उनके लिए आकाश में बिना पंखों के भी उड़ना सरल था । हनुमान् ने बिना पंखों के छलांग मारकर समुद्र को पार किया था । त्रेता में ऐसा करना कुछ लोगों के लिए ही सम्भव रह गया था, इसलिए हनुमान् जी को विशेष महत्त्व मिला, सतयुग में यह बिलकुल साधारण बात थीं ।

पूर्व युगों की स्थिति का कुछ परिचय यहाँ हमें इसलिए देना पड़ा है कि पाठक यह जान जायें कि जो योग साधनायें सतयुग के मनुष्यों के लिए अत्यंत सरल और स्वाभाविक थीं, वे अब नहीं हो सकतीं । जो सिद्धियाँ पूर्वकाल में थोड़ी-सी साधना से मिल जाती थीं, वे अब असम्भव हैं । पार्वती ने शिव को प्राप्त करने के लिए कितने लम्बे समय तक कितना कष्टसाध्य तप किया था, वैसा आज की स्थिति में किसी के लिए सम्भव नहीं है । सम्भव इसलिए नहीं है कि मनुष्य की आयु सौ वर्ष रह गई है और पृथ्वी तत्त्व प्रधान हो जाने से शरीर में जड़ता का अंश अधिक आ गया है । किसी समय में शरीर में पाप के होने न होने की परीक्षा अग्नि में तपाकर वैसे ही कर ली जाती थी , जैसे कि आजकल सोने को तपाकर कर ली जाती है । सीता जी ने हँसते-हँसते उस प्रकार की अग्नि परीक्षा दी थी और उनके शरीर को जरा भी कष्ट न हुआ था, पर आज तो परम साध्वी का शरीर भी अग्नि से जले बिना नहीं रह सकता । कलयुग में सती प्रथा का इसलिए निषेध है कि पति की चिता पर जलने से आज कोई स्त्री कष्ट पीड़ित हुए बिना नहीं रह सकती । इसलिए पूर्वकाल की सतियों की भाँति वह पति को शान्ति देना तो दूर उलटे अपने आर्तनाद से पति की आत्मा को अत्यन्त दुख और नारकीय व्यथा में डुबो देती है ।

कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि युग की स्थिति के अनुसार योग साधना का मार्ग और परिणाम बदल जाता है । इसलिए साधना क्रमों की व्यवस्था और विधि-विधान में अन्तर पड़ता जाता है । इस युग के तत्त्ववेता अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अन्वेषण करके यह निश्चय करते हैं कि आज की स्थिति में कौन- सा साधन आवश्यक है और किस प्रकृति का, किस मनोभूमि का साधक, किस साधना को ठीक प्रकार कर सकेगा ? यह निर्णय ठीक न हो, तो योग साधना से कई बार लाभ के बदले उलटी हानि होती देखी जाती है ।

ऐसी अनेक दुर्घटनायें हमने अपनी आँखों से देखी हैं । प्राण को ब्रह्माण्ड में चढ़ाकर वापस लौटाने की क्रिया से अपरिचित होने के कारण एक साधक की आधे घण्टे में मृत्यु हो गई थी । एक सज्जन कुण्डलिनी-जागरण के सिलसिले में पक्षाघात के चंगुल में फँस गये, कुण्डलिनी का कूर्म मेरु जरा-सा विचलित हुआ था कि वे 'पिंगला' में 'कृकल' प्राण को प्रवेश करने लगे फलस्वरूप वायु कुपित हो गई और लकवा से उनके हाथ पाँव जकड़े गये । गायत्री मन्त्र की साधना करते हुए प्राण कोश की 'हिंस्रा' को एक सज्जन जगा रहे थे । किसी दूसरे पर घात चलाने का उनका इरादा था, पर 'हिंस्रा' जाग्रत् न हो सकी और भूल से उनके वाम पार्श्व में रहने वाला तिर्यक् अणु फट

गया, वे मुँह और नाक से खून डालने लगे। तीन सेर (कि.ग्रा.) खून निकल जाने से उनकी मृत्यु ४० मिनट के भीतर हो गई।

हठयोग की हम अधिक चर्चा सुनते हैं, क्योंकि वह निकट भूत में कलियुग के प्रारम्भ में काफी क्रियाशील था। नागार्जुन हठयोग को पूर्ण सिद्ध कर चुके थे। नाथ सम्प्रदाय के आचार्य गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ पूर्ण हठयोगी थे। बौद्धकाल में महायान, वज्रयान आदि का प्रचलन था, पर अब हठयोग का समय भी बीत चुका है। स्वस्थ हठयोगी जहाँ-तहाँ ही एकाध दीख पड़ता है। षट्-कर्म, नेति, धोति, वस्ति, न्योली, बज्रोली, कपालभाति करते हुए कितने ही साधक हमने उदर रोगों से ग्रस्त देखे हैं। नासिका से होकर सूत की डोरी चढ़ाते हुए एक सज्जन अपने नेत्र खो बैठे। मुँह में कपड़े की पट्टी पेट में पहुँचाने की क्रिया आरम्भ करते हुए एक सज्जन संग्रहणी में ग्रस्त हुए और फिर उस रोग से उन्हें छुटकारा न मिला। बज्रोली क्रिया करने वाले अक्सर बहुमूत्र और गुर्दे की सूजन से ग्रसित हो जाते हैं।

कारण यह है कि साधक की स्थिति का भली प्रकार निरीक्षण किये बिना यदि उसकी प्रकृति से विपरीत साधन बता दिया जाए, तो इससे उसका अहित ही हो सकता है। कई साधक ऐसे दुस्साहसी, अहंकारी और जल्दबाज होते हैं कि बिना उपयुक्त पथ-प्रदर्शक की सलाह लिये अपनी मर्जी से, कहीं पढ़- सुनकर मनमानी साधना करने लगते हैं, मनमाने लाभों की कल्पना कर लेते हैं, मनमानी विधि व्यवस्था रख लेते हैं। इससे उन्हें लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। इन्हीं कारणों से योग-मार्ग में गुरु का होना आवश्यक माना गया।

इस पुस्तक में पंच-कोशों की साधना की चर्चा करते हुए गायत्री योग का उल्लेख किया है। उनमें किन्हीं योग क्रियाओं की बिलकुल चर्चा नहीं की गई है। यद्यपि वे भी इन्हीं पाँचों के अन्तर्गत है, कारण यह है कि जो साधनायें द्वापर, त्रेता, सतयुग आदि पूर्व युगों के उपयुक्त थीं, जिन्हें आकाश, अग्नि, वायु एवं जल प्रधान शरीरों वाले साधक ही आसानी से कर सकते थे, उनकी चर्चा इस सर्वसाधारण के लिए लिखी गई पुस्तक में अनावश्यक ही नहीं अनुचित भी होती, क्योंकि सम्भव है कोई व्यक्ति उस आधार पर साधना करने लगते तो उससे उन्हें लाभ तो कुछ नहीं होता, उलटे समय का अपव्यय, निराशा, अश्रद्धा, अरुचि एवं कोई हानि हो जाने का भय और बना रहता। इसलिए उन्हीं साधनाओं की चर्चा की गई है जो आज की स्थिति में भी उपयुक्त हो सकती हैं।

जिन साधनाओं का वर्णन किया गया है उनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये संक्षिप्त रूप से लिखी गई हैं और उनका पूरा विधि-विधान, समस्त नियमोपनियम नहीं बताये गये हैं। इसका कारण यह है कि एक प्रकार के योग की ही सबके लिए एक विधि-व्यवस्था नहीं हो सकती। नाद योग को सब लोग एक विधि से नहीं साध सकते। उष्ण प्रकृति वालों को अस्थिर, चञ्चल, अनेक ध्वनियों का मिला हुआ नाद सुनाई देता है, ऐसे साधक को वे उपाय बताये जाते हैं, जिससे उनकी उष्णता शान्त हो और दिव्य ध्वनियाँ ठीक सुनाई देने लगें। इसके विपरीत जिनकी प्रकृति शीत प्रधान है, उनको अनाहत नाद बहुत मन्द रुक-रुककर देर में सुनाई पड़ते हैं, उसकी दिव्य कर्णेन्द्रियों को उष्णता प्रधान साधनों से उत्तेजित करके इस योग्य बनाना पड़ता है, जिससे नाद भली प्रकार खुल जाए। जैसे शीत और उष्ण प्रकृति के दो भेद ऊपर बताये हैं, वैसे और भी अनेक भेद उपभेद हैं, जिनके कारण एक ही साधना के लिए अनेक प्रकार के नियम-उपनियम बनाने पड़ते हैं। ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं कि समस्त प्रकार की प्रकृति वाले मनुष्यों की परिस्थिति भेद के कारण किये जाने वाले समस्त विधानों का एक पुस्तक में उल्लेख हो सके।

चिकित्सा-शास्त्र में निदान, निघण्टु तथा औषधि निर्माण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ अब तक नहीं छपा जिसमें समस्त रोगों के रोगियों का समस्त परिस्थितियों के अनुसार समस्त चिकित्सा विधियों का वर्णन मिलता हो। यही बात योग साधना के सम्बन्ध में भी लागू होती है। यदि किसी एक छोटी साधना के सम्बन्ध में भी साधक भेद से उसके अन्तरों को लिखा जाए, तो एक भारी ग्रन्थ बन सकता है फिर भी

वह ग्रन्थ अपूर्ण रहेगा । ऐसी स्थिति में गायत्री की पञ्चमुखी साधना के अन्तर्गत जो साधनायें इस पुस्तक में लिखी गई हैं , वे मोटे तौर पर भली प्रकार समझाकर ही लिखी गई हैं; फिर भी उनमें अपूर्णता का दोष तो रहेगा ही ।

यह आवश्यक नहीं कि पञ्च कोशों के अन्तर्गत आने वाली सभी साधनायें करने पर जीवनोद्देश्य प्राप्त हो । जिस साधक की जिस कोश में वर्तमान स्थिति है, वह उसी कोश की सीमा में बताई गई साधना करके अपने बन्धन खोल सकता है । इस पुस्तक में चौबीस से अधिक साधनायें बताई गई हैं । इसके अतिरिक्त अनेक और साधनाएँ हैं, छोटे से जीवन में उन सबका साधन मनुष्य नहीं कर सकता, करना आवश्यक भी नहीं है ।

आयुर्वेद में हजारों औषधियों का वर्णन है । वे सभी रोगों को दूर करके स्वस्थ होने के एक ही उद्देश्य के लिए बताई गई हैं, फिर भी कोई ऐसा नहीं करता कि जितनी भी औषधियों का वर्णन है, उन सबका सेवन करे । बुद्धिमान् लोग देखते हैं कि रोगी को क्या बीमारी है, उसकी आयु, स्थिति एवं प्रकृति क्या है ? तब यह निर्णय किया जाता है कि कौन औषधि किस अनुपान में दी जाए ? कई बार थोड़ी-थोड़ी करके कई औषधियों का मिश्रण करके देना होता है । साधना के सम्बन्ध में भी यही बात है । अपनी मनोभूमि के अनुसार साधना का चुनाव आवश्यक है । जो लोग सबको एक ही लकड़ी से हाँकते हैं, सब धान बाईस पसेरी तोलते हैं, वे भारी भूल करते हैं ।

रोगी अपने आप अपने लिए औषधि का निर्णय नहीं कर सकता । कोई वैद्य या डाक्टर बीमार पड़ता है, तो वह भी किसी कुशल चिकित्सक से ही अपना इलाज कराता है । कारण यह है कि अपने आप को समझना सबके लिए बड़ा कठिन है । अक्सर लोग दूसरों की बुराई किया करते हैं, पर अपनी गलतियाँ उनको नहीं सूझतीं । दूसरों की आँख हमें दिखाई पड़ती है, पर अपनी आँख को आप नहीं देख सकते । अपनी आँख की बात जाननी हो, तो किसी दूसरे से पूछना पड़ेगा या दर्पण की मदद लेनी पड़ेगी । यही बात अपनी मनोभूमि को परखने और उसके उपयुक्त उपचार ढूँढ़ने के बारे में भी है । इसमें किसी दूसरे अनुभवी मनुष्य की सहायता आवश्यक है । इस आवश्यक सहायता का सुव्यवस्था का नाम 'गुरु का वरण' है । अच्छा पथ-प्रदर्शक मिल जाना आधी सफलता मिल जाने के बराबर है ।

इन साधनाओं का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है । स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध की स्थिति भेद से साधना विधियों में अन्तर होता है; परन्तु ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि गायत्री साधना से अमुक वर्ग को वञ्चित रखा जाए । माता के सभी पुत्र हैं । उसे अपने सभी बालकों पर समान ममता है, सभी को वह भरपूर दुलार करती है और सभी को अपना पय-पान कराना चाहती है । कोई माता ऐसा नहीं करती कि अपने पुत्र को तो पय-पान कराये और कन्या जन्मे तो उसे दुत्कार दें । ऐसा दुर्व्यवहार न मनुष्यों में होता है और न पक्षियों में, फिर परम दिव्य सत्ता ऐसा पक्षपात भेदभाव करेगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए । पूर्वकाल में अनेक ब्रह्मवादिनी, परमयोगिनी महिलायें हुई हैं । वेदान्त कार्य में सदैव पुरुषों की वामांग बनकर समान रूप से भाग लेती रही हैं । माता के सभी पुत्र बिना किसी भेदभाव के उसकी उपासना कर सकते हैं और प्रसन्नतापूर्वक उसका स्नेह एवं आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं ।

आधुनिक परिस्थितियों में से जो साधनायें सध सकें, उन्हें ही अपनाना उचित है । अब पूर्वकाल के सतयुग आदि युगों की सी स्थिति नहीं है, इसलिए वैसे योग साधन भी नहीं हो सकते और उन साधनाओं के फलस्वरूप वैसी सिद्धियाँ भी नहीं मिल सकतीं, जैसी कि उन युगों में प्राप्त थीं । अणिमा, लघिमा, महिमा आदि जिन सिद्धियों का योग ग्रन्थों में वर्णन है वे पूर्व युगों की ही हैं । शरीर को अत्यंत छोटा कर लेना, अत्यंत बड़ा बना लेना, अदृश्य हो जाना, शरीर बदल लेना, आकाश में उड़ना, पानी पर चलना जैसी शरीर सम्बन्धी सिद्धियाँ आकाश तत्त्व प्रधान शरीर और युग अर्थात् दूसरे युगों में ही होती थीं ।

त्रेता में बिना यन्त्रों के आत्मिक शक्ति से वे सब काम होते थे, जो आज वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा होते हैं । विमान, रेडियो, विद्युत्, दूरदर्शन, दूर-श्रवण, अत्यन्त भारी चीजों का उठाना जैसे कामों के लिए आज तो वैज्ञानिक यन्त्रों

की आवश्यकता होती है , पर त्रेता में यह सब कार्य मन्त्रबल से, प्राणशक्ति से हो जाते थे। रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, हनुमान्, नल, नील आदि के चरित्र पढ़ने से पता चलता है कि वे प्रकृति की उन विज्ञानभूत सूक्ष्म शक्तियों से मनमाना काम लेते थे, जितना आज बहुमूल्य यन्त्रों द्वारा बहुत थोड़ा उपयोग सम्भव हो सकता है।

महाभारत में दिव्य अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन मिलता है। शब्द भेदी वाण, अग्नि-अस्त्र, वरुण-अस्त्र, वायु-अस्त्र, सम्मोहन- अस्त्र, चक्र-सुदर्शन आदि का प्रयोग उस युद्ध में हुआ था। उस काल में मनुष्यों और पशु-पक्षियों में विचारों का आदान-प्रदान सम्भव रहा। पशु-पक्षी और मनुष्यों की वाणी में उच्चारण का अन्तर था, पर दोनों के शरीर में अग्नि तत्त्व तथा जल तत्त्व की सूक्ष्मता पर्याप्त मात्रा में रहने से एक दूसरे से अपने विचारों का भली-भाँति आदान-प्रदान कर लेते थे। त्रेता तथा द्वापर की ऐसी अनेक कथायें उपलब्ध हैं, जिनमें मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों के सम्भाषण के विस्तृत उल्लेख हैं।

इस युग में प्रकृति का अन्तराल पहले की भाँति सूक्ष्म नहीं रहा है, सृष्टि का बालकपन समाप्त हो गया और वृद्धावस्था आ रही है। इन दिनों जल तत्त्व और पृथ्वी तत्त्व की मिश्रित सन्धि चल रही है। जल- तत्त्व घटता जा रहा है और पृथ्वी- तत्त्व बढ़ता जा रहा है। जल- तत्त्व का गुण मन है। ऊँचे उठे हुए आध्यात्मिक महापुरुषों में आज मनोबल विकसित पाया जाता है। उनमें विचार-शक्ति, इच्छा-शक्ति और प्रेरणा-शक्ति अब भी पर्याप्त है। इस मनोबल द्वारा वे अपना तथा दूसरों का बहुत कुछ हित साधन कर सकते हैं। इस युग में बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गाँधी, कार्लमार्क्स आदि महापुरुषों ने अपनी प्रचण्ड प्रेरणा-शक्ति से संसार को बहुत हद तक प्रभावित किया है।

मेस्मरेजम मनोबल का ही एक खेल है। दूसरों को अपने विचार देना, उसके विचार जानना या किसी के विचार परिवर्तन करना यह मनोबल की सिद्धियाँ हैं और भी कितनी ही छोटी-मोटी सिद्धियाँ इन दिनों हो सकती हैं, जिनका इस पुस्तक में यत्र-तत्र वर्णन किया गया है। कई सिद्ध पुरुष कभी-कभी ऐसे भी मिल जाते हैं, जिन्हें पूर्व युगों की भाँति सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर अब उनकी संख्या नहीं के बराबर है। जल- तत्त्व घट रहा है इसलिए आध्यात्मिक पुरुष प्रयत्न करके मनोबल ही सम्पादित कर पाते हैं। धीरे-धीरे यह भी कम होता जायेगा और जब पृथ्वी- तत्त्व की जड़ता व्यापक हो जायेगी, तो केवल शरीर बल ही लोगों की विशेषता रह जायेगी। आगे चलकर जो शारीरिक दृष्टि से शक्तिशाली होगा, उसे ही तत्कालीन सिद्ध पुरुष माना जायेगा।

कई व्यक्ति योग साधना द्वारा ऐसे चमत्कार प्राप्त करने की फिराक में रहते हैं कि लोगों को आश्चर्य में डालकर उन पर अपनी महत्ता की छाप जमा सके। इसी उधेड़ बुन में वे इधर-उधर फिरते हैं और धूर्तों के चंगुल में पड़कर अपना बहुत-सा समय और धन बर्बाद करते हैं। हमने स्वयं चमत्कारी सिद्धि की खोज में अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग लगाया है। एक दो अज्ञात रहने वाले महापुरुषों के अतिरिक्त हमें सभी चमत्कारी लोगों में धूर्तता ही मिली।

अपने पाठकों को हमारी सलाह है कि वे चमत्कारी बनने की बालक्रीड़ा में न उलझें, क्योंकि पहले तो वर्तमान युग ही ऐसी सिद्धियों के अनुकूल नहीं है, फिर कदाचित् बहुत परिश्रम से कुछ मिले भी, तो बहुमूल्य परिश्रम की तुलना में वह अत्यन्त तुच्छ होगा। बाजीगर कैसे-कैसे खेल दिखाते हैं, सरकस वाले लोगों को हैरत में डाल देते हैं, पर इससे वे क्षणिक कौतूहल और मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाते हैं ? यह सब बच्चों की सी बातें हैं। इस ओर किसी बुद्धिमान् की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

गायत्री की पंचमुखी योग साधना का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। इन साधनाओं से साधक की अन्त: चेतनाओं का आविष्कार होता है। मन और शरीर के विकार दूर होते हैं। इच्छा, रुचि, भावना, आकांक्षा, बुद्धि, विवेक, गुण, स्वभाव, विचारधारा, कार्यप्रणाली आदि में ऐसा भी अद्‌भुत सतोगुणी परिवर्तन होता है जिसके कारण जीवन की सभी दिशायें आनन्द से परिपूर्ण हो जाती हैं। उसे स्वास्थ्य, धन, विद्या, चतुराई एवं सहयोग की कमी नहीं रहती। इन वस्तुओं को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करके वे सम्मान, कीर्ति, प्रेम एवं शान्ति के साथ जीवन यापन करते हैं। इसके अतिरिक्त आन्तरिक जीवन की, आत्मकल्याण की अमूल्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनकी तुलना में सारे चमत्कार, कौतूहल आश्चर्यजनक कृत्य मिलकर तराजू के पासंग के बराबर भी महत्ता नहीं रखते।

गायत्री के उपासक पञ्चमुखी माँ की उपासना श्रद्धापूर्वक करें, तो उन्हें आशाजनक लाभ होते हैं । चमत्कारी बाबा वे भले ही न कहलावें, पर गृहस्थ रहकर भी वे अपने आप में ऐसा परिवर्तन पा सकते हैं, जो अनेक चमत्कारों की तुलना में उनके लिए अधिक मंगलमय होगा ।

"सद्बुद्धि" मानव जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा है । जिसके पास यह सम्पदा होगी, उसे कभी किसी वस्तु की कमी न रहेगी । वस्तुओं का अभाव और परिस्थितियों की कठिनाई उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी जिसके पास कि सद्बुद्धि है । गायत्री सद्बुद्धि का महामन्त्र है । इस मन्त्र द्वारा साधक को उस दिव्य शक्ति की प्राप्ति होती है, जो संसार के समस्त सौभाग्यों की जननी है ।

पञ्चमुखी साधना का उद्देश्य

मोटी दृष्टि से देखने पर एक शरीर के अन्दर एक जीव मालूम पड़ता है; परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि एक ही आवरण में पाँच चैतन्य सत्तायें मौजूद हैं । देखा जाता है कि मनुष्य में अनेक परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं । जब जो तत्त्व प्रबल होता है, तो उसके आधार पर वह अपनी दृष्टि के अनुसार पूर्ण तत्परता से काम करता है ।

देखा गया है कि एक मनुष्य बड़ा लोभी है, खाने और पहनने में बड़ी कंजूसी करता है, पैसे को दाँतों से दबाकर पकड़ता है, परन्तु वही व्यक्ति अपने लड़के-लड़कियों की विवाह शादी का अवसर आने पर इतनी फिजूल-खर्ची करता है कि धन को होली की तरह फूँक देता है । यह परस्पर विरोधी बातें एक ही व्यक्ति में समय-समय पर प्रकट होती हैं ।

एक समय में एक व्यक्ति बड़ा श्रद्धालु होता है, दूसरे के साथ बड़ी उदारता एवं सज्जनता का व्यवहार करता है, परन्तु दूसरे समय में किसी के प्रति ऐसा अनुदार एवं दुर्जन बन जाता है कि इन दो प्रकार की भिन्नताओं में संगति बिठाना कठिन हो जाता है । एक ही व्यक्ति बहुत संयमी एवं सदाचारी होता है, पर कभी-कभी उसी का वह व्यक्तित्व प्रबल हो जाता है जिसके कारण वह दुराचार में लिप्त हो जाता है । इसी प्रकार आस्तिकता-नास्तिकता, सुधारकता-रूढ़िवादिता, दयालुता—निष्ठुरता, सदाचार-दुराचार, सत्य-असत्य, लोभ-त्याग, मूर्खता-बुद्धिमत्ता, निष्कपटता-वञ्चकता के परस्पर विरोधी रूप समय-समय पर मनुष्यों में प्रकट होते रहते हैं ।

इन विसंगतियों को देखकर अक्सर ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अमुक व्यक्ति वास्तव में एक प्रकार का है, दूसरा रूप तो उसने धोखा देने के लिए बनाया है । प्राय: बुराई के आधार पर मनुष्य का वास्तविक रूप माना जाता है और उसमें जो अच्छाई थी, उसे ढोंग कह दिया जाता है । कोई व्यक्ति दानी भी है तो भी आमतौर पर उसे सब लोग चोर मानेंगे और ख्याल करेंगे कि दान का ढोंग करके उसने दूसरों को भ्रम में डालने के लिए रचा है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं । कोई व्यक्ति केवल मात्र आडम्बर के लिए अपना समय, श्रम, धन आदि अधिक मात्रा में खर्च नहीं कर सकता । जब किसी दिशा में विशेष तत्परता एवं श्रद्धा होती है, तभी उसके लिए अधिक त्याग एवं श्रम किया जाना सम्भव है ।

बात यह है कि एक ही शरीर में कई शक्तियों का निवास होता है । एक घोंसले में कई बच्चे साथ रहते हैं, परन्तु बाहर से घोंसला एक ही दिखाई पड़ता है । गूलर के फल के भीतर भुनगे उड़ते रहते हैं, पर बाहर से उनकी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार इस देह के अन्दर कई प्रकृतियों, स्वभावों और रुचियों के अलग-अलग व्यक्तित्व रहते हैं । एक ही घर में रहने वाले कई व्यक्तियों की प्रकृति, रुचि और कार्य प्रणालियाँ अलग-अलग होती हैं, इसी तरह मनुष्य की अन्तरंग प्रवृत्तियाँ भी अनेक दिशाओं में चलती हैं ।

सिर एक है, पर उसमें नाक, कान, आँख, मुख, त्वचा की पाँच इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं । हाथ एक है पर उसमें पाँच उँगलियाँ लगी रहती हैं, पाँचों का काम अलग-अलग है । वीणा एक है पर उसमें कई तार होते हैं । इन तारों की सन्तुलित झंकार से ही कई स्वर लहरी बजती हैं । हाथ की पाँचों उँगलियों के सम्मिलित प्रयत्न से ही कोई काम पूरा हो सकता है । सिर में यदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जुड़ी न हों, तो मस्तक का कोई मूल्य न रह जाए,

तब खोपड़ी भी कूल्हों की तरह एक साधारण अंगमात्र रह जायेगी। विसंगतियों का एकीकरण ही जीवन है, इन भिन्नताओं के कारण ही जीवन में चेतना, क्रियाशीलता, विचारशीलता, मन्थन और प्रगति का संचार होता है।

सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने अपने योग बल से जाना कि मनुष्य के शरीर में पाँच प्रकार के व्यक्तित्व, पाँच चेतना, पाँच तत्त्व विद्यमान हैं। इन्हें पाँच कोश कहते हैं। शरीर पाँच तत्त्वों का बना है। इन तत्त्वों की सूक्ष्म चेतना ही पञ्चकोश कहलाती है। यह पाँचों पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक ही मूल केन्द्र में जुड़े हुए हैं। गायत्री के पाँचों मुखों का अलंकार इसी आधार पर है। मानव प्राणी की पाँच प्रकृतियाँ हैं, यही गायत्री के पाँच मुख हैं। यह पाँचों मुख एक ही गर्दन पर जुड़े हुए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पाँचों कोश एक ही आत्मा से सम्बन्धित हैं।

महाभारत के आध्यात्मिक गूढ़ रहस्य के अनुसार पाँच पाण्डव शरीरस्थ पाँच कोश ही हैं। पाँचों की एक ही स्त्री द्रोपदी है। पाँच कोशों की केन्द्र शक्ति एक आत्मा है। पाँचों पाण्डवों की अलग-अलग प्रकृति है, पाँचों कोशों की प्रवृत्ति अलग-अलग है। इस पृथकता को जब एकरूपता में सन्तुलित समस्वरता में ढाल दिया जाता है तो उनकी शक्ति अजेय हो जाती है। पाँचों पाण्डवों की एक पत्नी, एक निष्ठा, एक श्रद्धा, एक आकांक्षा हो जाती है तो उनका रथ हाँकने के लिए स्वयं भगवान् को आना पड़ता है और अन्त में उन्हें ही विजयश्री मिलती है।

पाँच कोशों को मनुष्य की पञ्चधा प्रकृति कहते हैं।१- शरीराभ्यास, २- गुण, ३- विचार, ४- अनुभव, ५- सत्। इन पाँच चेतनाओं को ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश कहा जाता है। यही गायत्री के पाँच मुख हैं।

साधारणतया इन पाँचों में एकस्वरता नहीं होती। कोई किधर को चलता है, कोई किधर को। स्वास्थ्य, योग्यता, बुद्धि, रुचि और लक्ष्य में एकता न होने के कारण मनुष्य ऐसे विलक्षण कार्य करता रहता है, जो किसी एक दिशा में उसे नहीं चलने देते। किसी रथ में पाँच घोड़े जुते हों, वे पाँच अपनी इच्छानुसार अपनी इच्छित दिशा में रथ को खींचें, तो उस रथ की बड़ी दुर्दशा होगी। कभी वह एक फर्लांग पूर्व को चलेगा, तो कभी एक मील उत्तर को खींचेगा। कोई घोड़ा पश्चिम को घसीटेगा तो कोई दक्षिण को खींचेगा। इस प्रकार रथ किसी निश्चित लक्ष्य पर न पहुँच सकेगा, घोड़ों की शक्तियाँ आपस में एक दूसरे के प्रयत्न को रोकने में खर्च होती रहेंगी और इस खींचातानी में रथ बेतरह टूटता रहेगा।

यदि घोड़े एक निर्धारित दिशा में चलते, सबकी शक्ति मिलकर एक शक्ति बनती तो बड़ी तेजी से, बड़ी आसानी से वह रथ निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच जाता। वीणा के तार बिखरे हुए हों, तो उनको बजाने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, पर यदि वे एक स्वर-केन्द्र पर मिला लिये जाएँ और निर्धारित लहरी में उन्हें बजाया जाए तो हृदय को प्रफुल्लित करने वाला मधुर संगीत निकलेगा। जीवन में परस्पर विरोधी इच्छायें, आकांक्षायें, मान्यतायें इस प्रकार क्रियाशील रहती हैं, जिससे प्रतीत होता है कि एक ही देह में पाँच आदमी बैठे हैं और पाँचों अपनी-अपनी मर्जी चला रहे हैं। जब जिसकी बन आती है तब वह अपनी ढपली पर अपना राग बजाता है।

अध्यात्म विद्या के ज्ञाताओं ने इस पृथकता को, विसंगति को एक स्थान पर केन्द्रित करने, एक सूत्र से संबंधित करने के लिए पञ्चकोशों का, पञ्चमुखी गायत्री साधना का संविधान प्रस्तुत किया है। गायत्री के चित्र में पाँच मुख दिये गये हैं। इन पाँचों की दिशाएँ, आकृतियाँ, चेष्टाएँ देखने में अलग मालूम पड़ती हैं; परन्तु वह एक ही मूल केन्द्र से सम्बद्ध होने के कारण एकस्वरता धारण किये हुए है। यही आदर्श गायत्री-साधक का होना चाहिए। उसकी दिनचर्या, श्रमशीलता, योग्यता, विचारधारा, अभिरुचि एवं आकांक्षा एक ही निर्धारित लक्ष्य से संलग्न रहनी चाहिए। पाण्डव पाँच होते हुए भी एक थे। एक ही "पाण्डव" शब्द कह देने से युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव पाँचों का बोध हो जाता है। ऐसी ही एकता हमारे भीतरी भाग में रहनी चाहिए।

डाक्टर जानते हैं कि रक्त में विजातीय पदार्थों का प्रवेश हो जाए तो अनेक रोग घेर लेते हैं। ओझा लोग जानते हैं कि देह में भूत घुस जाए, एक शरीर में दो सत्तायें प्रवेश कर जाएँ तो मनुष्य रोगी या उन्मादग्रस्त हो जाता है। घर में विरोधी स्वभाव की बहुएँ आ जाएँ, तो परिवार में भारी क्लेश और कलह उत्पन्न हो जाता है। जब तक परस्पर विरोधी तत्त्व मनोभूमि में काम करते रहेंगे, उनकी दिशायें पृथक्-पृथक् रहेंगी, तब तक कोई व्यक्ति

चैन से नहीं बैठ सकतो, उसके अन्तःस्थल में घोर अशान्ति घुसी रहेगी । आमतौर से लोग इसी अशांति में ग्रसित रहते हैं और पर्याप्त साधन सम्पन्न होते हुए भी मनुष्य जन्म जैसे अमूल्य सौभाग्य से कुछ लाभ नहीं उठा पाते । आन्तरिक विरोधों से उत्पन्न हुई गुत्थियाँ भी उनके लिए एक समस्या बन जाती हैं और मृत्यु समय तक सुलझ नहीं पातीं ।

गायत्री की पञ्चमुखी साधना का उद्देश्य आन्तरिक विरोधों को मिटाकर उनमें समस्वरता की स्थापना करना है । अन्त: में सत्-असत् की रस्साकशी होती है, देवासुर संग्राम, राम-रावण युद्ध, महाभारत होता रहता है । यह कलह तभी शान्त हो सकता है जब एक पक्ष अशक्त हो जाय । असुर का, असत् का पक्ष ग्रहण करके यदि सत् को पूर्णतया कुचलने का प्रयत्न किया जाय तो वह सम्भव भी नहीं; क्योंकि असुरता स्वयं एक विपत्ति होने के कारण अपने आप अनेक संकट उत्पन्न कर लेती है । दूसरे सत् की स्थिति आत्मा में इतनी सुदृढ़ है कि उसे पूर्णतया कुचलना सम्भव नहीं है । इसलिए आन्तरिक संघर्षों की समाप्ति का एक ही उपाय है- सत् का समर्थन एवं पोषण करके उसे इतना प्रबल कर लिया जाय कि असत् को उससे संघर्ष का साहस ही न हो । लड़ाकू बकरा जब अपने सामने सिंह को खड़ा देखेगा, तो उसे लड़ने की हिम्मत न होगी । आसुरी तत्त्व तभी तक प्रबल रहते हैं, जब तक कि दैवी तत्त्व कमजोर होते हैं । जब साधना द्वारा सतोगुण को पर्याप्त मात्रा में बढ़ा लिया जाता है, तो फिर असुरता अपने हथियार डाल देती है और शान्ति का शासन स्थापित हो जाता है ।

पञ्चकोशों की जो साधनायें पीछे बताई गई हैं । वे मनुष्य की पाँच महाशक्तियों को विनाशकारी मार्ग पर जाने से रोकती हैं, उन्हें नियन्त्रण में लाकर उपयोगी दिशा में लगाती हैं । सरकस वाले खूँखार शेर-चीतों को जंगल में से पकड़ लाते हैं और उन्हें इस प्रकार साधते हैं कि वे जानवर किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाना तो दूर, उलटे उन साधने वालों को प्रचुर धन तथा यश मिलने के माध्यम बन जाते हैं । पाँच- कोश पाँच शेर हैं । इन्हें साधने के लिए सरकस वालों की तरह गायत्री साधकों को भी अटूट साहस, अविचल धैर्य एवं सतत प्रयत्नशीलता को अपनाना होता है । इस साधना का आरंभ काफी कठिनाइयों और निराशाओं से भरा हुआ होता है, परन्तु धीरे-धीरे सफलता मिलने लगती है और गायत्री साधक जब इन पाँच महा सिंहों को, पञ्चकोशों को वश में कर लेता है, तो उसे अनन्त ऐश्वर्य एवं अक्षय कीर्ति का लाभ होता है । सरकस के शेरों की अपेक्षा इन आत्मिक सिंहों की महत्ता अनेक गुनी है, इसलिए उनके सध जाने पर सरकस वालों की अपेक्षा लाभ भी असंख्य गुने हैं । कायर इस साधना की कल्पना मात्र से डर जाते हैं, पर वीरों के लिए आपत्तियों से भरा हुआ परम पुरुषार्थ ही आनन्ददायक होता है ।

कोशों के असंतुलित, अविकसित, अनियंत्रित रहने से मानव-अन्तःकरण की विषम स्थिति रहती है । उसमें परस्पर विरोधी विचारधारायें, भावनायें और रुचियाँ उभरती और दबती रहती हैं । गायत्री साधना से इनमें एकता उत्पन्न होती है और अन्तर् के समस्त संकल्प-विकल्पों की उधेड़बुन समाप्त होकर एक सुव्यवस्थित गतिशीलता का आविर्भाव होता है । यह व्यवस्थित गतिशीलता जिस दिशा में भी चलेगी उसी दिशा में आशाजनक सफलता मिलेगी ।

योग साधना का सबसे बड़ा लाभ मानसिक स्थिति का परिमार्जित हो जाना है । परिमार्जित मनोभूमि एक प्रकार का कल्पवृक्ष है जिसके कारण वह सभी वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं, जो मानव जीवन के लिए उपयोगी, आवश्यक, लाभदायक एवं आनन्दवर्धक हैं । पाँच व्यक्तित्वों को एक ही व्यक्तित्व से सुसंयुक्त कर देना एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसके द्वारा अपनी शक्ति पाँच गुनी हो जाती है । चूँकि यह केन्द्रीकरण सतोगुण के आधार पर किया जाता है, इसलिए सात्त्विक आत्मबल की प्रचण्ड अभिवृद्धि से पञ्चमुखी गायत्री साधना का साधक महामानव, महापुरुष, महा-आत्मा बन जाता है ।

कीट-पतंगों की तरह सभी जीते हैं । आहार, निद्रा, भय, मैथुन की तुच्छ क्रियाओं में संलग्न रहकर साँसें पूरी कर लेना कोई बड़ी बात नहीं है । इस रीति से तो पशु-पक्षी भी जी लेते हैं । इस दृष्टि से तो अन्य जीव, मनुष्य से कहीं अच्छे जीते हैं । उन्हें ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, छल, दम्भ, काम, क्रोध, कुढ़न, असन्तोष, शोक, वियोग, चिन्ता आदि की आन्तरिक ग्रन्थियों में तो हर घड़ी झुलसते रहना नहीं पड़ता । वे अनेक प्रकार के पापों की गठरी तो अपने

ऊपर जमा नहीं करते। मनुष्य इन सब बातों में अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक घाटे में रहता है। मरते-मरते अन्य जीव-जन्तु अपने मृत शरीर से दूसरों का कुछ भला कर जाते हैं, पर मनुष्य वह भी नहीं कर पाता।

मानव-जीवन की जो प्रशंसा और महत्ता है, उसकी आत्मिक विशेषताओं के कारण है। यदि यह विशेषतायें अपने स्वस्थ रूप में विकसित हों, तो मनुष्य सच्चे अर्थों में मानव-जीवन का लाभ प्राप्त कर सकता है। योग-साधना का उद्देश्य व्यक्ति का पूर्ण विकास करना है। उसके भीतर जो अद्‌भुत शक्तियाँ छिपी हैं, उनको योग द्वारा इतनी उन्नत दशा तक पहुँचाया जाता है कि मनुष्य में देवत्व की झाँकी होने लगे।

भारतीय जीवन की आदिकाल से यह विशेषता रही है कि उसमें उद्देश्यमय, आदर्शयुक्त, परिमार्जित जीवन को ही प्रधानता दी गई है। इस देश में उस व्यक्ति को मनुष्य माना जाता रहा है, जो उद्देश्यमय आदर्श जीवन जीता रहा है। अज्ञान, अशक्ति और अभाव से संघर्ष करने का व्रत लेने वाले ही द्विज कहे जाते हैं। जो द्विज नहीं है अर्थात् जिसने पारमार्थिक जीवन का व्रत नहीं लिया है उस स्वार्थी, लोभी, विषयी मनुष्य को शूद्र बताकर निन्दा की है और इस प्रकार से उसका अर्ध सामाजिक बहिष्कार किया गया है। आज तो व्यापक रूप से शूद्रता फैली हुई है। गुण, कर्म, स्वभाव से आज चाण्डालत्व और शूद्रता का विस्तृत प्रसार हो रहा है।

भारतीय संस्कृति की यह अद्‌भुत महानता है कि वह अपने हर अनुयायी को यह प्रेरणा देती है कि पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों जैसा शिश्नोदर परायण तुच्छ जीवन न जियें वरन् अपना प्रत्येक क्षण महान् आदर्शों की पूर्ति में लगाए। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को, शरीर निर्वाह की जरूरतों को कम से कम रखें, जिससे उनको कमाने में कम से कम समय और श्रम देकर बचे हुए अवकाश, बुद्धिबल एवं उत्साह को महानता के सम्पादन में लगाया जा सके।

इस सांस्कृतिक प्रेरणा को ऋतम्भरा, प्रज्ञा एवं सद्‌बुद्धि नाम से पुकारा गया है। इसी को गायत्री कहते हैं। गायत्री मन्त्र में परमात्मा से सद्‌बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। यह सद्‌बुद्धि प्राचीनकाल में अधिकांश भारतवासियों को प्राप्त थी, इसी से इस भूमि को पुण्यभूमि, तपोभूमि, स्वर्गादपि गरीयसी आदि नामों से संबोधित किया जाता था और यहाँ जन्म लेने के लिए देवता भी इच्छा करते थे। जीवन मुक्त आत्मायें ललचा-ललचाकर इस देश में अवतार लेने के लिए मुक्ति-धाम से वापस लौट आती थीं। ऋतम्भरा बुद्धि ने इस देश को महान् मानवों से पाट रखा था। विद्या में, बुद्धि-बल में, पराक्रम में, धन में, स्वास्थ्य में, सौन्दर्य में यह देश भरा-पूरा था। कारण कि सद्‌बुद्धि ने भारतवासियों की अन्तःभूमिका ऐसी परिमार्जित कर दी थी कि उससे भौतिक एवं आत्मिक शक्तियों का अक्षय भण्डार उद्‌भव होना स्वाभाविक ही था।

सद्‌बुद्धि उन सब कठिनाइयों को नष्ट करती है, जो हमारी उन्नति एवं सुख—शान्ति में रोड़ा बनती हैं, सद्‌बुद्धि उन सुविधाओं को बढ़ाती है, जो सुसम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक हैं। सद्‌बुद्धि का एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक आधार गायत्री है। इस महामन्त्र के एक-एक अक्षर में गूढ़ ज्ञान भरा हुआ है, वह इतना उज्ज्वल है कि उसके प्रकाश में अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो जाता है। इन २४ अक्षरों में ऐसा अद्‌भुत ज्ञान-भण्डार भरा हुआ है, जिसमें दर्शन, धर्म, नीति, विज्ञान, शिक्षा, शिल्प आदि सभी पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। इस ज्ञान का अवगाहन करने पर तुच्छ मानव महामानव बनता है।

गायत्री के अक्षरों में ज्ञान-भण्डार तो भरा ही हुआ है, इसके अतिरिक्त इस महामन्त्र की रचना भी ऐसे विलक्षण ढंग से हुई है कि उसका उच्चारण एवं साधना करने से शरीर और मन के सूक्ष्म केन्द्रों में छिपी हुई अत्यंत महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं, जिनके कारण दैवी वरदानों की तरह सद्‌बुद्धि प्राप्त होती है। सद्‌बुद्धि द्वारा अनेक लाभ उठाना तो सरल है, पर असद्‌बुद्धि वाले के लिए यही बड़ा कठिन है कि वह अपने आप अपने कुसंस्कारों को हटाकर सुसंस्कारित सद्‌बुद्धि का स्वामी बन जाए। इस कठिनाई का हल गायत्री महामन्त्र की उपासना द्वारा होता है। जो इस साधना को करते हैं, वे अनुभव करते हैं कि कोई अज्ञात शक्ति रहस्यमय ढंग से उनके मनःक्षेत्र में नवीन ज्ञान, नवीन प्रकाश, उत्साह आश्चर्यजनक रीति से बढ़ा रही है।

यह छोटा सा मन्त्र 'अमर फल' के नाम से प्रसिद्ध है। अमृत का फल खाने में भी मधुर होता है और उसमें

अमरता का लाभ भी होता है । गायत्री के अक्षरों में संसार का समस्त ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में मौजूद है । इसके अतिरिक्त सद्बुद्धि को दिव्य मार्ग से अन्तःकरण में प्रतिष्ठित करने की शक्ति भी उसमें मौजूद है । सोना और सुगन्ध की लोकोक्ति गायत्री के सम्बन्ध में भली प्रकार चरितार्थ होती है । गायत्री को कामधेनु कहा गया है । कामधेनु अत्यन्त स्वादिष्ट, पौष्टिक दूध प्रचुर परिमाण में निरन्तर देती रहती है । इसके अतिरिक्त उसके आशीर्वाद से अनेक आपत्तियों से रक्षा और अनेक सम्पत्तियों की प्राप्ति भी होती है । इस दूसरे लाभ के कारण ही साधारण गौ की अपेक्षा कामधेनु की अधिक महत्ता है । गायत्री की दोनों महत्तायें भी कामधेनु की भाँति ही हैं । इसी से उसे भूलोक की कामधेनु कहते हैं ।

भारतवर्ष में शिल्प, कृषि, व्यापार, विज्ञान, रसायन, शास्त्र-विद्या आदि भौतिक उन्नतियों के सम्बन्ध में सदैव महत्त्वपूर्ण प्रयत्न होते रहे हैं, आज भी उनकी आवश्यकता है । पूँजी, कुशलता, श्रम एवं सहयोग के आधार पर उनको बढ़ाया जाना चाहिए और यथा सम्भव उन्हें बढ़ाया जा रहा है, क्योंकि जीवन को सुविधापूर्वक जीने के लिए भौतिक साधन-सामग्रियों की अनिवार्य आवश्यकता है । भूखा आदमी न ईमानदार रह सकता है और न स्वस्थ चित्त । इसलिए जीवन-यात्रा की सुविधायें बढ़ाने के लिए भौतिक सम्पत्तियों का उपार्जन आवश्यक है, पर यह ध्यान रखने की बात है कि यदि भौतिक उन्नति पर ही एक मात्र ध्यान रखा गया और सम्पत्ति के ऊपर से आध्यात्मिक नियन्त्रण उठा दिया गया, तो जो कुछ सांसारिक उन्नति होगी, वह केवल मनुष्य की आपत्तियाँ बढ़ाने का कारण बनेगी ।

इन दिनों विज्ञान का बड़ा जोर है, सुविधाओं के साधन नित नये निकलते जा रहे हैं । फलस्वरूप मनुष्य विलासी, आलसी, दुर्बल, रोगी, कायर और अल्पजीवी होता चला जा रहा है । जिन देशों ने अपनी शक्ति बढ़ाई है, वे छोटे देशों को गुलाम बनाने एवं उनका शोषण करने में लगे हुए हैं । वैज्ञानिक अन्वेषणों का परिणाम यह है कि एटमबम, हाइड्रोजन बम संसार में प्रलय उपस्थित करने के लिए तैयार हैं । साधारण लोगों पर दृष्टि डालिए तो उनका भी यही हाल है । भौतिक शक्ति पाकर लोग अपना और दूसरों का विनाश ही करते हैं । वकीलों की विद्या से किसका क्या हित है ? ज्यादा कमाने वाले मजदूर शराब और ताड़ी में अपनी कमाई फूँक देते हैं । साहसी स्वभाव और बलवान् शरीर वाले गुण्डा, डाकू, अत्याचारी बनने में अपना गौरव देखते हैं । देहातों में आजकल अन्न की मँहगाई से किसानों की आर्थिक दशा थोड़ी सुधरी है, तो फौजदारी, मुकद्दमेबाजी, विवाह-शादियों आदि बातों में फिजूलखर्ची की बेतरह बाढ़ आ गयी है । यह निश्चित है कि यदि भौतिक उन्नति के ऊपर आध्यात्मिक अंकुश न होगा, तो वह भस्मासुर के वरदान की तरह अपना ही सर्वनाश करने वाली सिद्ध होगी ।

इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि भौतिक उपार्जन के साथ-साथ आत्मिक उन्नति का भी ध्यान रखा जाये । सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषण तभी शोभा पाते हैं, जब पहनने वाले का स्वास्थ्य अच्छा हो । मरणासन्न अस्थिपिंजर रोगी को यदि रेशमी कपड़ों से और जेवर से लाद दिया जाय, तो उसकी शोभा तो कुछ न बढ़ेगी, उल्टे उसकी असुविधा बढ़ जायेगी । आत्मिक उन्नति के बिना भौतिक सम्पदाओं की बढ़ोत्तरी से मनुष्य की अहंकारिता, ईर्ष्या, विलासिता, कुरुचि, चिन्ता, कुढ़न, शत्रुता आदि कष्टकारक बुराइयाँ भी बढ़ जाती हैं ।

गायत्री आत्मोन्नति का, आत्मबल बढ़ाने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है । सांसारिक सम्पत्तियाँ उपार्जन करना, जिस प्रकार आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार गायत्री-साधना द्वारा आत्मिक पूँजी बढ़ाने का प्रयत्न भी निरन्तर जारी रहना चाहिए । दोनों दिशाओं में साथ-साथ संतुलित विकास होगा, तो स्वस्थ उन्नति होगी, किन्तु यदि केवल मात्र धन या भोग के संचय में ही लगा रहा गया तो निश्चित है कि वह कमाई मनोविनोद के लिए अपने पास इकट्ठी भले ही दीखे पर उससे वास्तविक सुख की उपलब्धि तनिक भी न हो सकेगी । जो सांसारिक वस्तुओं का समुचित लाभ उठाना चाहता हो, उसे चाहिए कि आत्मोन्नति के लिए भी उतना ही प्रयत्न करे ।

आँखों के बिना सुन्दर दृश्य देखने का लाभ नहीं मिल सकता, कान बहरे हों तो मधुर संगीत का रसास्वादन सम्भव नहीं । आत्मिक शक्ति न हो , तो सांसारिक वस्तुओं से कोई वास्तविक लाभ नहीं उठाया जा सकता है ।

सुन्दर दृश्य और तीव्र नेत्र ज्योति के संयोग से ही चित्त प्रसन्न होता है । भौतिक और आत्मिक उन्नति का समन्वय ही जीवन में सुस्थिर शान्ति की स्थापना कर सकता है । हम धन कमायें, विद्या पढ़ें और उन्नति करें पर यह न भूलें कि इसका वास्तविक लाभ तभी मिल सकेगा, जब आत्मोन्नति के लिए भी समुचित साधना की जा रही हो ।

१- स्वास्थ्य, २- धन, ३- विद्या, ४- चतुरता, ५- सहयोग, यह पाँच सम्पत्तियाँ इस संसार में होती हैं । इन्हीं पाँच के अन्तर्गत समस्त प्रकार के वैभव आ जाते हैं । इसी प्रकार पाँच कोशों की परिमार्जित स्थिति ही पाँच आध्यात्मिक सम्पदायें हैं । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय यह पाँच कोश आध्यात्मिक शक्तियों के पाँच भण्डार हैं । इन कोशों पर जो अधिकार कर लेता है उसकी अन्त:चेतना का पञ्चीकरण हो जाता है और १- आत्म-ज्ञान, २- आत्म-दर्शन, ३- आत्म-अनुभव ४- आत्म-लाभ, ५- आत्म-कल्याण, यह पाँच आध्यात्मिक सम्पदायें प्राप्त हो जाती हैं ।

गायत्री के चित्र में दस भुजायें दिखाई गई हैं । पाँच बायीं और पाँच दाहिनी ओर । बायीं ओर की पाँच भुजायें सांसारिक सम्पत्तियाँ हैं और दाहिनी ओर की भुजायें पाँच आत्मिक शक्तियाँ । गायत्री उपासक इन दस लाभों को प्राप्त करके रहता है ।

१- 'आत्म-ज्ञान' का अर्थ है - अपने को जान लेना, शरीर और आत्मा की भिन्नता को भली प्रकार समझ लेना और शारीरिक लाभों को आत्म-लाभ की तुलना में उतना ही महत्त्व देना, जितना कि दिया जाना उचित है । आत्म-ज्ञान होने से मनुष्य का असंयम दूर हो जाता है, इन्द्रिय भोगों की लोलुपता के कारण लोगों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का अनुचित, अनावश्यक व्यय होता है जिससे शरीर असमय में ही दुर्बल, रोगी, कुरूप एवं जीर्ण होता है । आत्म-ज्ञानी इन्द्रिय भोगों की उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्णय आत्म-लाभ की दृष्टि से करता है इसलिए यह स्वभावत: संयमी रहता है और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले दु:खों से बचा रहता है । दुर्बलता, रोग एवं कुरूपता का कष्ट उसे नहीं भोगना पड़ता । जो कष्ट उसे प्रारब्ध कर्मों के अनुसार भोगने होते हैं, वह भी आसानी से भुगत जाते हैं ।

२- 'आत्म-दर्शन' का तात्पर्य है अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना । साधना द्वारा आत्मा के प्रकाश का जब साक्षात्कार होता है तब प्रीति-प्रतीति, श्रद्धा-निष्ठा और विश्वास की भावनायें बढ़ती हैं । कभी भौतिकवादी कभी अध्यात्मवादी होने की डावाँडोल मनोदशा स्थिर हो जाती है और ऐसे गुण, कर्म, स्वभाव प्रकट होने लगते हैं जो एक आत्म-दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए उचित हैं, उस आत्म-दर्शन की द्वितीय भूमिका में पहुँचने पर दूसरों को जानने, समझने और उन्हें प्रभावित करने की सिद्धि मिल जाती है ।

जिसे आत्म-दर्शन हुआ है उसकी आत्मिक सूक्ष्मता अधिक व्यापक हो जाती है, वह संसार के सब शरीरों में अपने को समाया हुआ देखता है । जैसे अपने मनोभाव, आचरण, गुण, स्वभाव, विचार और उद्देश्य अपने को मालूम होते हैं, वैसे ही दूसरों के भीतर की सब बातें भी अपने को मालूम हो जाती हैं । साधारण मनुष्य जिस प्रकार अपने शरीर और मन से काम लेने में समर्थ होते हैं, वैसे ही आत्म-दर्शन करने वाला मनुष्य दूसरों के मन और शरीरों पर अधिकार करके उन्हें प्रभावित कर सकता है ।

३-'आत्म-अनुभव' कहते हैं, अपने वास्तविक स्वरूप का क्रियाशील होना, अपने अध्यात्म-ज्ञान के आधार पर ही अपनी वाणी, क्रिया, योजना, इच्छा, आकांक्षा, रुचि एवं भावना का होना । आमतौर से लोग विचार तो बहुत ऊँचे रखते हैं, पर बाह्य जीवन में अनेक कारणों से उन्हें चरितार्थ नहीं कर पाते । उनका व्यावहारिक जीवन गिरी हुई श्रेणी का होता है; किन्तु जिन्हें आत्मानुभव होता है, वे भीतर बाहर से एक होते हैं, उनके विचार और कार्यों में तनिक भी अन्तर नहीं होता । जो विघ्न-बाधायें सामान्य लोगों को पर्वत के समान दुर्गम मालूम पड़ती हैं, उन्हें वे एक ठोकर से तोड़ देते हैं । उनका जीवन ऋषि-जीवन बन जाता है ।

आत्म-अनुभव से सूक्ष्म प्रकृति की गतिविधि मालूम करने की सिद्धि मिलती है । किसका क्या भविष्य बन रहा है ? भूतकाल में कौन क्या कर रहा था ? किस कार्य में दैवी प्रेरणा क्या है ? क्या उपद्रव और भय उत्पन्न होने वाले हैं ? लोक-लोकान्तरों में क्या हो रहा है ? कब, कहाँ, क्या वस्तु उत्पन्न और नष्ट होने वाली है ? आदि

ऐसी अदृश्य एवं अज्ञात बातें जिन्हें साधारण लोग नहीं जानते, उन्हें आत्मानुभव की भूमिका में पहुँचा हुआ व्यक्ति भली प्रकार जानता है । आरंभ में उसे अनुभव कुछ धुँधले होते हैं, पर जैसे-जैसे उनकी दिव्य दृष्टि निर्मल होती जाती है, सब कुछ चित्रवत् दिखाई देने लगता है ।

४- 'आत्म-लाभ' का अभिप्राय है - अपने में पूर्ण आत्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा । जैसे भट्टी में पड़ा लोहा तपकर अग्निवर्ण का लाल हो जाता है, वैसे ही इस भूमिका में पहुँचा हुआ सिद्ध पुरुष दैवी तेजपुञ्ज से परिपूर्ण हो जाता है । वह सत् की प्रत्यक्ष मूर्ति होती है । जैसे अँगीठी के पास बैठने से गर्मी अनुभव होती है, वैसे ही महापुरुषों के आस-पास ऐसा सतोगुणी वातावरण छाया रहता है जिसमें प्रवेश करने वाले साधारण मनुष्य भी शान्ति अनुभव करते हैं । जैसे वृक्ष की सघन शीतल छाया में ग्रीष्म की धूप से तपे हुए लोगों को विश्राम मिलता है, उसी प्रकार आत्म- लाभ से लाभान्वित महापुरुष अनेक दुखियों को शांति प्रदान करते हैं ।

आत्म-लाभ के साथ-साथ आत्मा की, परमात्मा की अनेक दिव्य शक्तियों से सम्बन्ध हो जाता है । परमात्मा की एक-एक शक्ति का प्रतीक एक-एक देवता है । यह देवता अनेक ऋद्धि-सिद्धियों का अधिपति है । ये देवता जैसे विश्व ब्रह्माण्ड में व्यापक हैं, वैसे ही मानव शरीर में भी हैं । विश्व ब्रह्माण्ड का ही एक छोटा-सा रूप यह पिण्ड देह है । इस पिण्ड देह में जो दैवी शक्तियों के गुह्य संस्थान हैं, वे आत्म-लाभ करने वाले साधक के लिए प्रकट एवं प्रत्यक्ष हो जाते हैं और वह उन दैवी शक्तियों से इच्छानुसार कार्य ले सकता है ।

५- 'आत्म-कल्याण' का अर्थ है- जीवन-मुक्ति, सहज समाधि, कैवल्य, अक्षय- आनन्द, ब्रह्म-निर्वाण, स्थित-प्रज्ञावस्था, परमहंस- गति, ईश्वर--प्राप्ति । इस पञ्चम भूमिका में पहुँचा हुआ साधक ब्राह्मीभूत होता है । इसी पञ्चम भूमिका में पहुँची हुई आत्मायें ईश्वर की मानव प्रतिमूर्ति होती हैं । उन्हें देवदूत, अवतार, पैगम्बर, युग निर्माता, प्रकाश-स्तम्भ आदि नामों से पुकारते हैं । उन्हें क्या सिद्धि मिलती है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कोई चीज ऐसी नहीं, जो उन्हें अप्राप्य हो । अक्षय आनन्द के स्वामी होते हैं । ब्रह्मानन्द, परमानन्द एवं आत्मानन्द से बड़ा और कोई सुख इस त्रिगुणात्मक प्रकृति में सम्भव नहीं, यही सर्वोच्च लाभ आत्म कल्याण की भूमिका में पहुँचे हुए को प्राप्त हो जाता है ।

दशभुजी गायत्री की पाँच भुजा सांसारिक हैं, पाँच आत्मिक । आत्मिक भुजायें आत्म-ज्ञान, आत्मदर्शन, आत्म-अनुभव, आत्म-लाभ और आत्म-कल्याण हैं । यह दैवी सम्पदायें जिनके पास हैं, उनके वैभव की तुलना कुबेर से भी नहीं हो सकती । गायत्री का उपासक आत्मिक दृष्टि से इतना सुसम्पन्न और परिपूर्ण हो जाता है कि उसकी तुलना किन्हीं भी सांसारिक सम्पदाओं से नहीं की जा सकती । यह पाँचों भूमिकायें, सिद्धियाँ, पञ्चकोशों से संबंधित हैं । एक-एक कोश की साधना एक-एक भूमिका में प्रवेश कराती जाती है । अन्नमय कोश का साधक आत्म- ज्ञान प्राप्त करता है । प्राणमय कोश की साधना से आत्म-दर्शन होता है, मनोमय कोश के साथ आत्मानुभव होता है, विज्ञानमय कोश से आत्म-लाभ का सम्बन्ध है और आनन्दमय कोश में आत्म-कल्याण सन्निहित है ।

दशभुजी गायत्री की पाँच भुजायें सूक्ष्म और पाँच स्थूल हैं । निष्काम उपासना करने वाले माता के सूक्ष्म हाथों से आशीर्वाद पाते हैं और सकाम उपासकों को स्थूल हाथों से प्रसाद मिलता है । असंख्य व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्होंने माता की कृपा से सांसारिक सम्पत्तियाँ प्राप्त की हैं और अपनी दुर्गम कठिनाइयों से त्राण पाया है । स्वास्थ्य, धन, विद्या, चतुरता और सहयोग यह पाँच सांसारिक सम्पत्तियाँ पञ्चमुखी माता की स्थूल भुजाओं से मिलती हैं ।

ऐसे कितने ही अनुभव हमारे सामने हैं, जिनमें लोगों ने साधारण गायत्री साधना द्वारा आशाजनक सांसारिक सफलतायें प्राप्त की हैं । जिनके घर में रोग घुस रहा था, बीमारी की पीड़ा सहते-सहते और डाक्टरों का घर भरते-भरते जो कातर हो रहे थे, उन्होंने रोग मुक्ति के वरदान पाये । क्षय सरीखे प्राण घातक रोगों की मृत्यु शय्या पर से उठकर खड़े हो गये । कइयों को जन्म-जात पैतृक रोगों तक से छुटकारा मिला । कितने ही बेकार, दरिद्र और अयोग्य व्यक्ति अच्छी जीविका के अधिकारी बन गये । साधनहीन और अविकसित लोग चतुर, बुद्धिमान्, कलाकार, शिल्पी, गुणवान्, प्रतिभावान्, सर्वप्रिय नेता और यशस्वी बन गये । जिनको सब ओर से तिरस्कार,

अपमान, द्वेष, संघर्ष और असहयोग ही मिलता था, उनको घर-बाहर सर्वत्र प्रेम, सहयोग, सद्‌भाव तथा मधुर व्यवहार प्राप्त होने लगा।

ऐसे अगणित चमत्कारी लाभ उठाने वाले लोगों से हम स्वयं परिचित हैं। मुकदमा, आक्रमण, बन्धन, भय, आशंका, विरोध, परीक्षा, बीमारी, दरिद्रता, भूतबाधा, सन्तति-कष्ट, व्यसन, दुर्गुण आदि कुचक्रों के त्रासदायक चंगुल से छूटकर अनेक व्यक्तियों ने संतोष की साँस ली है। कष्टकर वर्तमान और भयंकर भविष्य को देखकर जो लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, उन्होंने जब गायत्री का आश्रय लिया तो तत्क्षण उन्हें धैर्य, साहस और प्रकाश प्राप्त हुआ। यह ठीक है कि कोई देवता आकर उनका काम स्वयं नहीं कर गया पर यह भी सत्य है कि उन्हें अनायास ही ऐसा मार्ग सूझ पड़ा, ऐसी युक्ति समझ में आई जिससे झट बिगड़ा काम बन गया और पर्वत सी भारी कठिनाई राई की तरह छोटी होकर हल हो गई। जिस आपत्ति में यह लगता था कि न जाने इसके कारण हम पर क्या बीतेगी, वह सब आशंकायें काई की तरह फट गई और कठिनता सरल हो गई। माता की कृपा से अनेक बार ऐसे चमत्कार होते हुए देखे गये हैं।

स्वास्थ्य और धन की ही भाँति दशभुजी गायत्री की तीसरी स्थूल भुजा का प्रसाद 'विद्या' के रूप में मिलता है। मन्दबुद्धि, मूढ़मगज, भुलक्कड़, मूर्ख, अदूरदर्शी, सिड़ी, सनकी एवं अर्द्धविक्षिप्त मनुष्यों को बुद्धिमान्, दूरदर्शी, तीव्र बुद्धि, विवेकवान् बनते देखा गया है। जिनकी मस्तिष्क दशा को देखकर हर कोई यह भविष्यवाणी करता था कि अपना पेट भी न भर सकेंगे, उन लोगों का मस्तिष्क और भाग्य ऐसा पलटा कि वे कुछ से कुछ हो गये, लोग उनकी सलाह लेकर काम करने में अपनी भलाई समझने लगे।

जिनकी पढ़ाई में रुचि न थी, वे पुस्तकों के कीड़े हो गये। हर साल फेल होने वाले विद्यार्थी गायत्री की थोड़ी- बहुत उपासना करने से ऐसे तीव्र बुद्धि के हुए कि सदैव अच्छे नम्बरों से उन्हें सफलता मिलती गई। अनेक उलझनें, कार्यव्यस्तता एवं अवकाश का अभाव रहने पर भी कितने ही साधनहीन व्यक्ति विद्वान् बने हैं। मस्तिष्क से काम लेने वाले कितने ही बुद्धिजीवी मनुष्य ऐसे हैं जिनकी गायत्री साधना ने उनके मस्तिष्क को अत्यन्त प्रखर बनाया है और फलस्वरूप वे उज्ज्वल नक्षत्र की तरह प्रकाशित हुए हैं। अपने बुद्धिबल से उन्होंने आशाजनक सफलता, प्रतिष्ठा, कीर्ति और सम्पदा उपार्जित की है।

विकृत मस्तिष्क वाले, विक्षिप्त, डरपोक, आलसी, झगड़ालू, चिड़चिड़े मनुष्य तीसरी भुजा के प्रसाद से स्वस्थ मनोभूमि प्राप्त करते हैं। भूतोन्माद, प्रेतबाधा, स्त्रियों और बालकों पर होने वाले दुष्ट आत्माओं के आक्रमणों को दूर करने की अद्‌भुत शक्ति गायत्री उपासना में है। हजार ओझा, सयाने और तान्त्रिक तराजू के एक पलड़े में रखे जाएँ और एक गायत्री उपासक एक ओर रखा जाए, तो निश्चित रूप से इस दिव्य शक्ति की ही उपयोगिता सिद्ध होगी।

चातुर्यपूर्ण कामों का आरम्भ करते समय शारदा का, सरस्वती का आह्वान , वन्दन और पूजन करने की प्रथा है। कारण यही है कि बुद्धि तत्त्व में माता की कृपा से एक ऐसी सूक्ष्म विशेषता बढ़ जाती है, जिससे वे विशिष्ट बातें आसानी से हृदयंगम हो जाती हैं। चित्रकला, संगीत, कविता, सम्भाषण, लेखन, शिल्प, रसायन, चिकित्सा, शिक्षण, नेतृत्व, अन्वेषण, परीक्षण, निर्णय, दलाली, प्रचार, व्यवसाय, खेल, प्रतिद्वन्द्विता, कूटनीति आदि कितनी ही बातें ऐसी हैं , जिनमें विशेष सफलता वही पा सकता है जिसकी बुद्धि में सूक्ष्मता हो। मोटी अक्ल से इस प्रकार के कर्मों में लाभ नहीं होता। कुशाग्र, सूक्ष्मवेधी बुद्धि चातुर्य गायत्री माता के पुण्य प्रसाद के रूप में प्राप्त होता है, ऐसी श्रद्धा रखने के कारण ही लोग अपने कार्यों को आरंभ करते हुए शारदा-वन्दना करते हैं।

गायत्री की स्थूल पाँच भुजाओं में पाँचवीं भुजा का प्रसाद सहयोग है। यह जिसे मिलता है वह स्वयं विनम्र, मधुरभाषी, प्रसन्नचित्त, हँसमुख, उदार, दयालु, उपकारी, सहृदय, सेवाभावी, निरहंकारी बन जाता है। यह विशेषतायें उनमें बड़ी तेजी से बढ़ती हैं फलस्वरूप उनके सम्पर्क में जो भी कोई आता है, वह उनका बेपैसे का गुलाम बन जाता है। ऐसे स्वभाव वाले मनुष्य के स्त्री, पुरुष, पुत्र, भाई, भतीजे, चाचा, ताऊ सभी अनुकूल, सहायक और प्रशंसक रहते हैं। घर में उसका मान सत्कार होता है और सब कोई उसकी सुविधा का ध्यान रखते हैं। घर में हो,

या बाहर बाजार में, मित्रों में, परिचितों में सर्वत्र उसे प्रेम, सत्कार और सहयोग प्राप्त होता है। ऐसे स्वभाव के व्यक्ति कहीं भी मित्र विहीन नहीं रहते। वे जहाँ भी रहते हैं, वहीं उन्हें प्रेमी, प्रशंसक, मित्र, सहायक और सहयोगी प्राप्त हो जाते हैं।

दाहिनी और बायीं, सूक्ष्म और स्थूल गायत्री की दस भुजायें साधक को प्राप्त होने वाली पाँच आत्मिक और पाँच भौतिक सिद्धियाँ हैं। यह दस सिद्धियाँ ऐसी हैं जिनके द्वारा यही जीवन, यही लोक स्वर्गीय सुख से ओत-प्रोत हो जाता है। यह जीवन अगले जीवन की पूर्व भूमिका है। यदि मनुष्य आज सन्तुष्ट है, तो कल भी उसे सन्तोष ही उपलब्ध होगा। यदि आज उसे कल्याण का अनुभव होता है, तो कल भी कल्याण ही होगा। सत्पुरुष अक्सर दुस्साहस पूर्ण और वर्तमान वातावरण से भिन्न कार्यक्रम अपनाते हैं, इसलिए बाह्य दृष्टि से उन्हें कुछ असुविधायें दिखाई देती हैं; परन्तु उनकी आन्तरिक स्थिति पूर्ण प्रसन्न और सन्तुष्ट होती है। ऐसी दशा में यह भी निश्चित है कि उनका अगला जीवन भी पूर्णतया प्रसन्नता एवं संतोष की भूमिका में और भी अधिक विकसित होगा और आज की बाह्य कठिनाइयाँ भी कल तक स्थिर न रहेंगी।

क्या योग साधना के लिए घर गृहस्थ छोड़कर साधु बनना, कपड़े रंगना, यत्र-तत्र भ्रमण करते रहना आवश्यक है ? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें पूर्वकाल के योगियों की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है। प्राचीनकाल में ऋषि लोग अविवाहित ही रहते थे यह मान्यता ठीक नहीं। यह ठीक है कि ऋषि-मुनियों में से कुछ ऐसे भी थे, जो कुछ समय तक अथवा आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे, पर उनमें से अधिकांश गृहस्थ थे, यह बात भी बिलकुल ठीक है। स्त्री- बच्चों के साथ होने से उन्हें तपश्चर्या एवं आत्मोन्नति में सहायता मिलती थी।

इतिहास पुराणों में पग-पग पर इस बात की साक्षी मिलती है कि भारतीय महर्षिगण योगी, यती, साधु, तपस्वी, अन्वेषक, चिकित्सक, वक्ता, रचयिता, उपदेष्टा, दार्शनिक, अध्यापक, नेता आदि विविध रूपों में अपना जीवन-यापन करते थे और इन महान् कार्यों में स्त्री- बच्चों को भी अपना भागीदार बनाते थे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों ही विवाहित थे। ब्रह्मा की गायत्री और सावित्री दो स्त्रियाँ थीं। विष्णु की तुलसी और लक्ष्मी दो पत्नी हैं। सती के मरने के बाद महादेवजी का दूसरा विवाह पार्वती से हुआ था। व्यास, अत्रि, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, च्यवन आदि सभी ऋषि गृहस्थ ही थे। अश्वत्थामा, शृंगी ऋषि, नचिकेता, आरुणि, उद्दालक, शुकदेव, परशुराम आदि ऋषिकुमार थे, उनके माता-पिता ऋषि ही थे। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ गार्गी और मैत्रेयी थीं। अत्रि की पत्नी अनसूया अपने समय की प्रमुख ब्रह्मवादिनी थी। ऐसे प्रमाणों से इतिहास पुराणों का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है, जिससे प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में योगी लोग गृहस्थ धर्म का पालन करते थे।

उस समय की परिस्थितियाँ, प्रथायें, सुविधायें तथा सादगी की पद्धति के अनुसार ऋषि लोग सात्त्विक जीवन बिताते थे। वेश बनाने या घर छोड़ने की उनकी कोई योजना न थी। लकड़ी की खड़ाऊँ, तुम्बी का जल-पात्र उनकी सादगी तथा सुविधा के आधार पर थे। उस समय आबादी कम और वन अधिक थे। आसानी से बन सकने वाली झोंपड़ी, छोटे-छोटे ग्राम उस समय की साधारण परिपाटी थी। पर आज की बदली हुई परिस्थितियों में उन बातों की नकल करना कहाँ तक उचित है, यह पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

उस समय दूध पीकर फल खाकर रहने वाले लोग त्यागी नहीं समझे जाते थे; क्योंकि विस्तृत वनों में चरने की सुविधा होने से कोई मनुष्य कितनी ही गौएँ पाल सकता था, जंगलों में अपने आप उगे फलों को लाने में कोई बाधा न थी। पर आज तो एक गाय पालने में एक परिवार के बराबर खर्च आता है। पेट को खराब कर डालने वाले फलों को न लेकर यदि सुखाद्य फलों को लिया जाय, तो भी काफी खर्च होता है। जो बात उस समय अत्यन्त सादगी की थी, वह आज अमीरों के लिए दुर्लभ है।

रास्ते रोके पड़ी रहने वाली, टूटे हुए वृक्षों की सूखी लकड़ी को साफ करने तथा हिंसक जानवरों का आक्रमण रोकने के लिए दिन रात 'धूनी' जलाई जाती थी। पर आज तो लकड़ी का भाव इतना अधिक है जिसे किसी भी स्थिति में वहन नहीं किया जा सकता। उस समय स्वाभाविक मृत्यु से मरते रहने वाले मृग आदि जीवों का चमड़ा

चाहे जितना मिलता था। पर आज तो बिना हत्या का चमड़ा प्राप्त करना असम्भव-सा लगता है। फिर एक मृगचर्म का मूल्य भी कल्पनातीत है। इतने रुपये से तो कुश के ढेरों आसन खरीदे जा सकते हैं। सर्दी-गर्मी से बचने के लिए देह पर भस्म मलने से, भभूत रमाने से काम चल जाता था, वस्त्र वहाँ जंगलों में थे नहीं। पर आज जब वस्त्रों का मिलना सुगम है, तो भभूत लगाने की क्या आवश्यंकता है ?

उस जमाने में पेड़ काटने, अग्नि सम्भालने, जंगली पशुओं से मुकाबला करने के लिए बड़ा-सा चिमटा रखना आवश्यक था, पर आज जब कि वह तीनों ही कारण नहीं रहे, तो चिमटा का क्या प्रयोजन रह गया ? पूर्वकाल में जिन बातों को सादगी एवं परिस्थितियों के अनुसार स्वाभाविक आवश्यकता समझा जाता था, आज की परिस्थितियों में उनमें से कितनी ही बातें अनावश्यक हैं। हमने भारतवर्ष की एक छोर से दूसरे छोर तक कई बार आध्यात्मिक यात्रायें की हैं। अपने अनुभव के बल पर हम कह सकते हैं कि अब कोई वन ऐसा नहीं रहा है, जहाँ फल खाकर या अपने आप चरकर आने वाली गौओं का दूध पीकर कोई व्यक्ति गुजारा कर सके, न आज के मनुष्यों के शरीर ही ऐसे हैं कि शीत प्रधान देशों में मकान या वस्त्रों के बिना रह सकें। जो योगी-यती गंगोत्री आदि में रहते हैं उनको भी वस्त्र, मकान आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है।

भिक्षा-जीवी होकर, दूसरों से ऋण लेकर आज की अभावग्रस्त जनता पर, अश्रद्धालु जनता पर भार बनकर'साधु' वेश बना लेना, बदली हुई परिस्थितियों का विचार न करके पूर्वजों की वेश-भूषा का अन्धानुकरण करना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। साधु हो जाने वालों को भी अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए उतना ही प्रयत्न करना पड़ता है, जितना कि गृहस्थी को। ऐसी दशा में यही उचित है कि अपनी जीविका की आप व्यवस्था रखते हुए पारिवारिक कार्यक्रमों के साथ-साथ सादे वेश में साधु-जीवन व्यतीत किया जाये।

साधना मन से होती है न कि वेश से। मन तो भारी भीड़ में भी शान्त रह सकता है और एकान्त वन में भी विकारग्रस्त हो सकता है, फिर एकान्तसेवी लोगों की इन्द्रिय-विजय भी कच्ची होती है। जिसे चोरी करने का अवसर ही नहीं मिलता, वह ईमानदार है, इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता ; क्योंकि प्रलोभन के वक्त वह फिसल सकता है। जिसको चोरी के सदा अवसर हैं, फिर भी अपने पर काबू रखता है, उसी को विश्वस्त-प्रामाणिक, ईमानदार कहा जायेगा। एकान्त जंगल में बैठकर, लोगों से संबंध तोड़कर कोई व्यक्ति बुराइयों से बच जाए, तो उसके संस्कार उतने सुदृढ़ नहीं हो सकते, जितने कि निरन्तर बुराइयों से संघर्ष करके अपनी अच्छाई को विकसित करने वाले के होते हैं। शूर की परीक्षा युद्ध-भूमि में होती है। घर में बैठा हुआ तो मरीज भी तीसमारखाँ कहला सकता है।

गायत्री-साधना द्वारा योग साधना करके आत्मिक उन्नति करने एवं कल्याण पथ पर चलने के लिए यह कतई आवश्यक नहीं कि कोई विचित्र वेश बनाया जाय, घर-द्वार छोड़कर भीख के टुकड़ों पर गुजारा किया जाय। कुछ विशिष्ट आत्मायें संन्यास की अधिकारी होती हैं। वह अधिकार तब मिलता है जब साधना पूर्ण परिपक्व होकर मनोभूमि इस योग्य हो जाती है कि वह संसार का पथ-प्रदर्शन करने के लिए परिव्राजक बने, साधारण साधकों के लिए यह मार्ग ग्रहण करना अनधिकार चेष्टा करना है।

गायत्री की पंचमुखी साधना करने के लिए किसी को घर छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि निश्चित समय, निश्चित व्यवस्था, निश्चित आहार-विहार की सुविधा घर छोड़ने वाले को नहीं हो सकती। पात्र- कुपात्रों का अन्न, पेट में जाकर बुद्धि पर तरह-तरह के संस्कार डालता है। इसलिए अपने परिश्रम की कमाई हुई रोटी पर गुजारा करते हुए गृहस्थ जीवन में ही साधना क्रम का आयोजन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य उचित और आवश्यक है जिससे जितना संयम हो सके उतना अच्छा है। पुरश्चरण की निश्चित अवधि में जब तक निश्चित संकल्प का जप पूरा न हो, ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है; परन्तु नियतकालीन निर्धारण संख्या या अवधि के विशेष पुरश्चरणों को छोड़कर, सामान्य साधना क्रम में ब्रह्मचर्य अनिवार्य शर्त नहीं है। गृहस्थ लोग अपने साधारण एवं स्वाभाविक दाम्पत्य कर्त्तव्यों का पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक अपनी साधना जारी रख सकते हैं। इससे उनके साधन में कोई बाधा न आयेगी।

मन पर नियन्त्रण करने की, सात्त्विकता के नियम पालन करने की सुविधा घर पर ठीक प्रकार से होती है। जहाँ पानी होगा, वहीं तो तैरना सीखा जायेगा। पानी से सैकड़ों कोस दूर रहने वाला मनुष्य भला अच्छा तैराक किस प्रकार बन सकेगा ? तैरने की अनेक पुस्तकें पढ़ने एवं अनेक शिक्षायें ग्रहण करने पर भी उसकी शिक्षा तब तक अधूरी रहेगी, जब तक कि वह पानी में रहकर भी न डूबने की अपनी योग्यता प्रमाणित न कर दे। गृहस्थ जीवन में अनेक अनुकूल-प्रतिकूल, भले-बुरे, हर्ष-विषाद के अवसर आते हैं, उन परीक्षा के अवसरों पर अपने मन को साधने से, स्वभाव और संस्कारों में प्रौढ़ता एवं परिपक्वता आती है।

अपने बुरे संस्कारों एवं स्वभावों से नित्य संघर्ष करना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए घोर प्रयत्न करना चाहिए। इस घोर प्रयत्न एवं संघर्ष को मन्थन कहते हैं। इसे ही गीता में 'धर्मयुद्ध' या 'कर्मयोग' कहा है। अर्जुन चाहता है- हमारा अज्ञानग्रस्त मन कहता है कि इस झंझट से दूर रहकर, एकान्तवासी बनकर सफलता का कोई दूसरा मार्ग मिल जाए। वह लड़ना नहीं चाहता; क्योंकि संघर्ष सदा ही कष्टसाध्य होता है, मनुष्य की कायर प्रकृति सदा उससे बचना चाहती है। कायर सिपाही सदा ही लड़ाई के मोर्चे से भाग खड़े होने की योजना बनाते हैं। इसी प्रकार अपने स्वभाव की, परिवार की, समाज की, देश-काल की परिस्थितियों से खीजकर कई आदमी निराश होकर बुराइयों को आत्म-समर्पण ही कर देते हैं।

इस स्थिति के प्रतिनिधि अर्जुन को भगवान् ने बुरी तरह लताड़ा था और उसके तर्कों में झाँकती हुई कायरता का पर्दाफाश कर दिया था। भगवान् ने कहा कि "बिना लड़े कल्याण नहीं, सफलता-असफलता की बात को मन से हटाकर लड़ने को अपना कर्त्तव्य मानकर तू लड़।" साधकों के लिए भी यही मार्ग है। विपरीत परिस्थितियों से उन्हें निरन्तर अति उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिए। इतना प्रयत्न करने पर भी कम सफलता मिली, यह सोचना धर्मयुद्ध के, विज्ञान के विपरीत है। संघर्ष एक साधना है। उससे प्रकाश एवं तेज की वृद्धि होना अवश्यम्भावी है। मन्थन से क्रिया, गति और शक्ति का उत्पन्न होना सुनिश्चित है। साधन-समर के सैनिक का प्रत्येक कदम लक्ष्य की ओर बढ़ता है। मञ्जिल चाहे कितनी दूर क्यों न हो, प्रगति चाहे कितनी मन्द क्यों न हो ? पर यह ध्रुव निश्चय है कि यदि साधक की यात्रा उसी दशा में जारी है, तो वह आज नहीं तो कल पूर्ण सफलता की प्राप्ति करके रहेगा।

गायत्री-साधना निष्फल नहीं जाती

अपनी आन्तरिक स्थिति के अनुकूल पञ्चमुखी गायत्री की पाँच साधनाओं में से एक उपयुक्त साधना चुन लेनी चाहिए। जो विद्यार्थी जिस कक्षा का होता है, उसे उसी कक्षा की पुस्तकें पढ़ने को दी जाती हैं। बी.ए. के विद्यार्थी को छठवें दर्जे की पुस्तकें पढ़ाई जाएँ, तो इससे उनकी उन्नति में कोई सहायता न मिलेगी। इस प्रकार पाँचवें दर्जे वाले को बारहवें दर्जे का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाए, तो घोर परिश्रम करने पर भी उसमें सफलता न मिलेगी। साधना के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। जो साधक अपनी मनोभूमि के अनुरूप साधना चुन लेते हैं, वे प्राय: असफल नहीं होते।

गायत्री-साधना का प्रभाव तत्काल होता है। उसका परिणाम देखने के लिए देर तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। साधना आरम्भ करते ही चित्त में सात्त्विकता, शांति, प्रफुल्लता, उत्साह एवं आशा का जागरण होता है। कोई व्यक्ति कितनी ही कठिनाई, परेशानी, असुविधा एवं संकट में पड़ा हुआ क्यों न हो, उसकी मानसिक चिन्ता, बेचैनी, घबराहट में तत्काल कमी होती है।

जैसे दर्द करते हुए घाव के ऊपर शीतल मरहम लगा देने से तत्काल चैन पड़ जाता है और दर्द बन्द हो जाता है, वैसे ही अनेक कठिनाइयों की पीड़ा के कारण दु:खी हृदय पर गायत्री साधना की मरहम ऐसी शीतल एवं शान्तिदायक प्रतीत होती है कि बहुत से मानसिक बोझ तो तत्काल हल्के हो जाते हैं।

साधक को ऐसा लगता है कि वह चिरकाल से बिछुड़ा हुआ फिरते रहने के बाद अपनी सगी माता से मिला हो। माता से बिछुड़ा हुआ बालक बहुत समय इधर-उधर भटकने के बाद जब माता को ढूँढ़ पाता है, तो उसकी छाती भर जाती है और माता से लिपटकर उसकी गोद में चढ़कर ऐसा अनुभव करता है, मानो उसकी जन्म-जन्मांतरों

की विपत्ति टल गई हो । हिरन का बच्चा अपनी माता के साथ घने वनों में हिंसक जानवरों के बीच फिरते हुए भी निर्भय रहता है । वह निश्चिंत हो जाता है कि जब माता मेरे साथ है, तो मुझे क्या फिक्र है । हिरनी भी अपने शिशु शावक की सुरक्षा के लिए कोई बात उठा नहीं रखती, वह उसे अपने प्राणों के समान प्यार करती है, माता का प्यार उससे कदापि कम नहीं होता ।

भली और बुरी परिस्थितियाँ तो प्रत्येक मनुष्य के सामने आती ही रहती हैं । सुख-दु:ख का चक्र संसार का साधारण नियम है । सामान्य श्रेणी का मनुष्य इससे निरन्तर प्रभावित होता रहता है और कभी तो अपने को सौभाग्य के सरोवर में तैरता अनुभव करता हैं और कभी आपत्तियों के दलदल में फँसा हुआ । पर जिस व्यक्ति ने गायत्री उपासना करके मन को संयत रखना सीख लिया है और यह विश्वास दृढ़ कर लिया है कि सन्मार्ग पर चलने वालों की वह महाशक्ति अवश्य सहायता और रक्षा करती है, वह कभी विपरीत परिस्थितियों में व्याकुल नहीं हो सकता । वह प्रत्येक दशा में शान्तचित्त रहता हुआ गायत्री माता की अनुकम्पा पर भरोसा रखकर प्रयत्नशील रहता है और शीघ्र ही विपत्तियों से छुटकारा पा जाता है ।

विपत्तियाँ स्वयं इतना कष्ट नहीं पहुँचातीं । जितना कि उसकी आशंका, कल्पना, भावना दु:ख देती है । किसी का व्यापार बिगड़ जाए, घाटा आ जाए, तो उसे घाटे के कारण शरीर यात्रा में कोई प्रत्यक्ष बाधा नहीं पड़ती । रोटी, कपड़ा, मकान आदि को वह घाटा नहीं छीन लेता और न घाटे के कारण शरीर में दर्द, ज्वर आदि होता है, फिर भी लोग मानसिक कारणों से बेतरह दु:खी रहते हैं । इस मानसिक कष्ट में गायत्री-साधना से तत्काल शांति मिलती है । उसे एक ऐसा आत्म-बल मिलता है, ऐसी आन्तरिक दृढ़ता एवं आत्मनिर्भरता प्राप्त होती है, जिसके कारण अपनी कठिनाई उसे तुच्छ दिखाई पड़ने लगती है और विश्वास हो जाता है कि वर्तमान का जो बुरे से बुरा परिणाम हो सकता है, उसके कारण भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ सकता । असंख्य मनुष्यों की अपेक्षा फिर भी मेरी स्थिति अच्छी रहेगी ।

गायत्री साधना की यही विशेषता है कि उससे तत्काल आत्म-बल प्राप्त होता है, जिसके कारण मानसिक पीड़ाओं में तत्क्षण कमी होती है । हमें ऐसे अनेक अवसर याद हैं जब दु:खों के कारण आत्महत्या करने के लिए तत्पर होने वाले मनुष्यों के आँसू रुके हैं और उनने संतोष की साँस छोड़ते हुए आशा भरे नेत्रों को चमकाया है । घाटा, बीमारी, मुकदमा, विरोध, गृह-क्लेश, शत्रुता आदि के कारण उत्पन्न होने वाले परिणामों की कल्पना से जिनके होंठ सूखे रहते थे, चेहरा विषादग्रस्त रहता था, उन्होंने माता की कृपा पाकर हँसना सीखा और मुस्कराहट की रेखा उनके कपोलों पर दौड़ने लगी ।

"जो होना है होकर रहेगा । प्रारब्ध भोग हमें स्वयं भोगने पड़ेंगे । जो टल नहीं सकता उसके लिए दु:खी होना व्यर्थ है । अपने कर्मों का परिणाम भोगने के लिए वीरोचित बहादुरी को अपनाया जाए ।" इन भावनाओं के साथ वह अपनी उन कठिनाइयों को तृणवत् तुच्छ समझने लगता है, जिन्हें कल तक पर्वत के समान भयंकर और दुस्तर समझता था ।

"जिन लोगों को यह भय था कि उन्हें सताया जायेगा, दु:ख दिया जायेगा, न जाने क्या-क्या आपत्तियाँ उठानी पड़ेंगी, भविष्य घोर अन्धकार में रहेगा" उनके मन में साहस का उदय होते ही यह विश्वास जम गया कि मुझ अविनाशी आत्मा का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आना निश्चित है । इसी प्रकार सुख के बाद दु:ख और दु:ख के बाद सुख आना भी निश्चित है । यह हो नहीं सकता कि आज की कठिनाई सदा बनी रहे और उससे छुटकारा पाने का कोई उपाय न निकले । यदि संभावित कठिनाई आई भी, तो यह निश्चित है कि उसकी भयंकरता कम करने के लिए कोई न कोई नया उपाय भी भगवान् अवश्य सुझावेगा ।

इस प्रकार ऐसे अनेक साहसपूर्ण विचार मन में उठना आरंभ हो जाते हैं और उस आत्मबल के कारण साधक की आधी कठिनाई तो तत्क्षण दूर हो जाती है, उसका सोता हुआ मानस अपने विषाद से छुटकारा पा जाता है, आशा और उत्साह की किरणें उसे अपने चारों ओर फैली दीखती हैं ।

"जो प्रभु राई को पर्वत कर सकता है और पर्वत को राई बना सकता है, वह हमारे भाग्याकाश का अन्धकार

मिटाकर प्रकाश भी चमका सकता है"- इस विश्वास के साथ गायत्री- साधक में आशा एवं उत्साह की तरंगें हिलोरें लेने लगती हैं ।

अनेक बार तो गायत्री के उपासक की कठिनाइयाँ ऐसे अचरज भरे ढंग से हल होती हैं कि उसे दैवी चमत्कार ही कहना पड़ता है । ऐसी घटनायें हमने स्वयं अपनी आँखों से देखी हैं कि "जहाँ सब लोग पूर्ण निराश हो चुके थे, कार्य सिद्ध होना असंभव मालूम होता था, भय एवं आशंका की घड़ी बिलकुल नजदीक आ गयी थी और मालूम पड़ता था कि विपत्ति का पर्वत अब टूटना ही चाहता है । लोगों के कलेजे धक्-धक् कर रहे थे कि अब विपत्ति निश्चित है, रक्षा का कोई उपाय कारगर नहीं हो सकता" ऐसी विपन्न परिस्थितियों में यकायक जादू की तरह परिवर्तन हुआ है, परिस्थितियों ने ऐसा पलटा खाया कि कुछ से कुछ हो गया । अन्धकार की काली घटायें उड़ गईं और प्रकाश का सुनहरा सूरज चमकने लगा, ऐसी घटनाओं को देखकर सहसा यह शब्द मुँह से निकले कि "प्रभु की कृपा से कुछ भी असंभव नहीं है ।" तुलसीदास जी की "मूक होहिं वाचाल पंगु चढ़हिं गिरवर गहन" वाली मान्यता अनेक बार चरितार्थ होती देखी गयी है ।

कई बार अत्यन्त प्रबल प्रारब्ध इतना अटल होता है कि वह टल नहीं पाता । हरिश्चन्द्र, पाण्डव, राजा नल, दशरथ सरीखे महापुरुषों को प्रारब्ध के कुचक्र की यातनायें सहनी पड़ीं, यद्यपि उनके सहायक, सम्बन्धी और गुरुजन अत्यन्त उच्चकोटि के आत्म-शक्ति सम्पन्न थे, फिर भी दुर्भाग्य टल न सके । जहाँ ऐसे अनिवार्य अवसर होते हैं, वहाँ भी गायत्री महाशक्ति के कारण प्राप्त हुए, आत्म-बल के कारण मानसिक त्रास तत्क्षण कम हो जाता है और साधक विषाद, दीनता, कायरता, बेचैनी, घबराहट, निराशा, व्याकुलता का परित्याग करके साहस और धैर्यपूर्वक परिस्थितियों का मुकाबला करता है और हँस-खेलकर सन्तोष और शान्ति के साथ बुरी घड़ियों को गुजार लेता है ।

वेदमाता की आराधना करना एक प्रकार का आध्यात्मिक कायाकल्प करना है । जिन्हें कायाकल्प की विद्या मालूम है, वे जानते हैं कि इस महा अभियान को करते समय कितने धैर्य और संयम का पालन करना होता है, तब कहीं शरीर की जीर्णता दूर होकर नवीनता प्राप्त होती है । गायत्री-आराधना का आध्यात्मिक कायाकल्प और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । उसके लाभ केवल शरीर तक ही सीमित नहीं, वरन् शरीर, मस्तिष्क, चित्त, स्वभाव, दृष्टिकोण सभी का नव-निर्माण होता है और स्वास्थ्य, मनोबल एवं सांसारिक सुख-सौभाग्यों की वृद्धि होती है ।

ऐसे असाधारण महत्त्व के अभियान में समुचित श्रद्धा, सावधानी, रुचि एवं तत्परता रखनी पड़े, तो इसे कोई बड़ी बात न समझना चाहिए । केवल शरीर को पहलवानी के योग्य बनाने में काफी समय तक धैर्यपूर्वक व्यायाम करते रहना पड़ता है । दण्ड बैठक, कुश्ती आदि के कष्टसाध्य कर्मकाण्ड करने होते हैं । दूध, घी, मेवा, बादाम आदि में काफी खर्च होता रहता है, तब कहीं जाकर पहलवान बना जा सकता है । क्या आध्यात्मिक कायाकल्प करना पहलवान बनने से भी कम महत्त्व का है ? बी.ए. की उपाधि लेने वाले जानते हैं कि उनने कितना धन, समय, श्रम और अध्यवसाय लगाकर उस उपाधि पत्र को प्राप्त कर पाया है । गायत्री की सिद्धि प्राप्त करने में यदि पहलवान या ग्रेजुएट के समान प्रयत्न करना पड़ा, तो कोई घाटे की बात नहीं है । प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों ने जो आश्चर्यजनक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं, उनका उन्होंने समुचित मूल्य चुकाया था । हर एक लाभ की उचित कीमत देनी होती है । गायत्री साधना का आध्यात्मिक कायाकल्प यदि अपना मूल्य चाहता है, तो उसे देने में किसी भी ईमानदार साधक को आनाकानी नहीं करनी चाहिए ।

यह सत्य है कि कई ब.र जादू की तरह गायत्री उपासना का लाभ होता है । आई हुई विपत्ति अति शीघ्र दूर होती है और अभीष्ट मनोरथ आश्चर्यजनक रीति से पूरे हो जाते हैं, पर कई बार ऐसा नहीं होता है कि अकाट्य प्रारब्ध भोग न टल सके और अभीष्ट मनोरथ पूरा न हो । राजा हरिश्चन्द्र, नल, पाण्डव, राम, मोरध्वज जैसे महापुरुषों को होनहार भवितव्यता का शिकार होना पड़ा था । इसलिए सकाम उपासना की अपेक्षा निष्काम उपासना ही श्रेष्ठ है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग का ही उपदेश दिया है । यह साधना कभी निष्फल नहीं जाती । उसका तो परिणाम मिलेगा ही, पर हम अल्पज्ञ होने के कारण अपना प्रारब्ध और वास्तविक हित नहीं

समझते । माता सर्वज्ञ होने से सब समझती है और वह वही फल देती है, जिनमें हमारा वास्तविक लाभ होता है । साधन-काल में एक ही कार्य हो सकता है या तो मन भक्ति में तन्मय रहे या कामनाओं के मनमोदक खाता रहे । मनमोदकों में उलझे रहने से भक्ति नहीं रह पाती, फलस्वरूप अभीष्ट लाभ नहीं हो पाता । यदि कामनाओं को हटा दिया जाए, तो उससे निश्चिन्त होकर समय और मन भक्तिपूर्वक साधना में लग जाता है । तदनुसार सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।

कोई युवक किसी दूसरे युवक को कुश्ती में पछाड़ने के लिए व्यायाम और पौष्टिक भोजन द्वारा शरीर को सुदृढ़ बनाने की उत्साहपूर्वक तैयारी करता है । पूरी तैयारी के बाद भी कदाचित् वह कुश्ती पछाड़ने में असफल रहता है, तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उसकी तैयारी निरर्थक चली गयी । वह तो अपना लाभ दिखायेगी ही । शरीर में सुदृढ़ता, चेहरे की कान्ति, अंगों की सुडौलता, फेफड़ों की मजबूती, बलवीर्य की अधिकता, नीरोगिता, दीर्घजीवन, कार्य क्षमता, बलवान् सन्तान आदि अनेक लाभ उस बढ़ी हुई तन्दुरुस्ती से होकर रहेंगे । कुश्ती की सफलता से वञ्चित रहना पड़ा यह ठीक है, पर शरीर को बल-वृद्धि द्वारा प्राप्त होने वाले अन्य लाभों से उसे कोई वञ्चित नहीं कर सकता । गायत्री साधक अपने काम्य प्रयोजन में सफल नहीं हो सके, तो भी उसे अन्य अनेक मार्गों से ऐसे लाभ मिलेंगे, जिनकी आशा बिना साधना किये नहीं की जा सकती ।

बालक चीजें माँगता है, पर माता उसे वह चीजें नहीं देती । रोगी की सब माँगे बुद्धिमान् वैद्य या परिचर्या करने वाले पूरी नहीं करते । ईश्वर की सर्वज्ञता की तुलना में मनुष्य, बालक या रोगी के समान ही है । जिन अनेकों कामनाओं को हम नित्य करते हैं, उनमें से कौन हमारे लिए वास्तविक लाभ और कौन हानि करने वाली है ? इसे सर्वज्ञ माता ही अच्छी तरह समझती है, जिसे उसकी भक्त वत्सलता पर सच्चा विश्वास है । उसे कामनाओं को पूरा करने की बात उसी पर छोड़ देनी चाहिए और अपना सारा मनोयोग साधना पर लगा देना चाहिए । ऐसा करने से हम घाटे में नहीं रहेंगे वरन् सकाम साधना की अपेक्षा अधिक लाभ में ही रहेंगे ।

जयपुर के महाराज रामसिंह एक बार शिकार खेलते हुए रास्ता भूलकर एक निर्जन वन में भटक गये थे । वहाँ एक अपरिचित वनवासी ने उनका उदार आतिथ्य किया । उसकी रूखी सूखी रोटी का महाराज ने कुछ दिन बाद विपुल धन-राशि के रूप में बदला दिया । यदि उस वनवासी ने अपनी रोटी की कीमत उसी वक्त माँग ली होती, तो वह राजा का प्रीति-भाजन नहीं बन सकता था । सकाम साधना करने वाले मतलबी भक्तों की अपेक्षा माता को निष्काम भक्तों की श्रद्धा अधिक प्रिय लगती है । वह उसका प्रतिफल देने में अधिक उदारता दिखाती है ।

हमारा दीर्घकालीन अनुभव है कि कभी किसी की गायत्री साधना निष्फल नहीं जाती, न उलटा परिणाम ही होता है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम धैर्य, स्थिरता, विवेक और मनोयोगपूर्वक कदम बढ़ायें । उस मार्ग में छछोरपन से नहीं, सुदृढ़ आयोजन से ही लाभ होता है । इस दिशा में किया हुआ सच्चा पुरुषार्थ अन्य किसी भी पुरुषार्थ से अधिक लाभदायक सिद्ध होता है । गायत्री साधना में जितना समय, श्रम, धन और मनोयोग लगता है सांसारिक दृष्टि से उस सबका जो मूल्य है, वह कई गुना होकर साधक के पास निश्चित रूप से लौट आता है ।

गायत्री का तन्त्रोक्त वाम-मार्ग

वाम-मार्ग, तन्त्र-विद्या का आधार प्राणमय कोश है । जितनी शक्ति प्राण में या प्राणमय कोश के अन्तर्गत है केवल उतनी तन्त्रोक्त प्रयोगों द्वारा चरितार्थ हो सकती है । ईश्वर प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार, जीवन मुक्ति, अन्तःकरण का परिमार्जन आदि कार्य तन्त्र की पहुँच से बाहर हैं । वाम-मार्ग से तो वह भौतिक प्रयोजन सध सकते हैं ,जो वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा सिद्ध हो सकते हैं ।

बन्दूक की गोली मारकर या विष का इन्जेक्शन देकर किसी मनुष्य का प्राण घात किया जा सकता है । तन्त्र द्वारा अभिचार क्रिया करके किसी दूसरे का प्राण लिया जा सकता है । निर्बल प्राण वाले मनुष्य पर तो प्रयोग और

भी आसानी से हो जाते हैं, जैसे छोटी चिड़िया को मारने के लिए स्टेनगन की जरूरत नहीं पड़ती। गुलेल में रखकर फेंकी गई मामूली कंकड़ी के आघात से ही चिड़िया गिर पड़ती है और पंख फड़फड़ाकर प्राण त्याग कर देती है। इसी प्रकार निर्बल प्राण वाले, कमजोर, बीमार, बालक, वृद्ध या डरपोक मनुष्य पर मामूली शक्ति का तान्त्रिक भी प्रयोग कर लेता है और उन्हें घातक बीमारी और मृत्यु के मुँह में धकेल देता है।

शराब, चरस, गाँजा आदि नशीली चीजों की मात्रा शरीर में अधिक पहुँच जाए, तो मस्तिष्क की क्रिया-पद्धति विकृत हो जाती है। नशे में मदहोश हुआ मनुष्य ठीक प्रकार सोचने, विचारने, निर्णय करने एवं अपने ऊपर काबू रखने में असमर्थ होता है। उसकी विचारधारा, वाणी एवं क्रिया में अस्तव्यस्तता होती है। उन्माद या पागलपन के सब लक्षण उस नशीली चीज की अधिक मात्रा से उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार तांत्रिक प्रयोगों द्वारा एक ऐसा सूक्ष्म नशीला प्रभाव किसी के मस्तिष्क में प्रवेश कराया जा सकता है कि उसकी बुद्धि पदच्युत हो जाए और तीव्र प्रयोगों की दशा से कपड़े फाड़ने वाला पागल बन जाए अथवा मन्द प्रयोगों की दशा में अपनी बुद्धि की तीव्रता खो बैठे और चतुरता से वंचित होकर वज्रमूर्ख हो जाए।

कुछ विषैली औषधियाँ ऐसी हैं जिन्हें भूल से सेवन कर लिया जाए, तो शरीर में भयंकर उपद्रव खड़े हो जाते हैं। कै, दस्त, हिचकी, छींक, बेहोशी, मूर्छा, दर्द, अनिद्रा, भ्रम आदि रोग हो जाते हैं। इसी प्रकार तान्त्रिक विधान में ऐसी विधियाँ भी हैं, जिनके द्वारा एक प्रकार का विषैला पदार्थ किसी के शरीर में प्रवेश कराया जा सकता है।

विज्ञान ने रेडियो किरणों की शक्ति से अपने आप उड़ने वाला 'रेडारबम' नामक ऐसा यन्त्र बनाया है, जो किसी निर्धारित स्थान पर जाकर गिरता है। कृत्या, घात, मारण आदि के अभिचारों में ऐसी ही सूक्ष्म क्रिया प्राण शक्ति के आधार पर की जाती है। दूरस्थ व्यक्ति पर वह तांत्रिक 'रेडार' ऐसा गिरता है कि लक्ष्य को क्षत-विक्षत कर देता है।

युद्धकाल में बमबारी करके खेत, मकान, कारखाने, उद्योग, उत्पादन, रेल, मोटर, सड़क, पुल आदि नष्ट कर दिये जाते हैं, जिससे उस स्थान के मनुष्य साधनहीन हो जाते हैं, उनकी सम्पन्नता और अमीरी उस बमवारी द्वारा नष्ट हो जाती है और वे थोड़े ही समय में असहाय बन जाते हैं। तन्त्र द्वारा किसी के सौभाग्य, वैभव और सम्पन्नता पर बमबारी करने से उसे इस प्रकार नष्ट किया जा सकता है कि सब हैरत में रह जायें कि उसका सब कुछ इतनी जल्दी, इतने आकस्मिक रूप से कैसे नष्ट हो गया या होता जा रहा है ?

कूटनीतिक जासूस और व्यवसायी ठग ऐसा छद्म वेश बनाते और ऐसा जाल रचते हैं, जिसके आकर्षण, प्रलोभन और कुचक्र में फँसकर समझदार आदमी भी बेवकूफ बन जाता है। मेस्मरेजम एवं हिप्नोटिज्म द्वारा किसी के मस्तिष्क को अर्द्धसम्मोहित करके वशवर्ती बना लिया जाता है; फिर उस व्यक्ति को जैसे आदेश दिये जायें, तदनुसार ही आचरण करता है। मेस्मरेजम या तन्त्र से वशीभूत मनुष्य उसी प्रकार सोचता, विचारता, अनुभव करता है, जैसा कि प्रयोक्ता का संकेत होता है। उसकी इच्छा, मनोवृत्ति भी उस समय वैसी ही हो जाती है, जैसी कि कार्य करने की प्रेरणा दी जा रही हो। तन्त्र विद्या में मेस्मरेजम से अनेक गुनी प्रचण्ड शक्ति है, उसके द्वारा जिस मनुष्य पर गुप्त रूप से बौद्धिक वशीकरण का जाल फेंका जाता है, वह एक प्रकार की सूक्ष्म तन्द्रा में जाकर दूसरे का वशवर्ती हो जाता है। उसकी बुद्धि वही सोचती, वैसी ही इच्छा करती है, वैसा ही कार्य करती है जैसा कि उससे गुप्त षड़यन्त्र द्वारा कराया जा रहा है। अपनी निज की विचारशीलता से वह प्रायः वंचित हो जाता है।

व्यभिचारी पुरुष किन्हीं सरल स्वभाव वाली स्त्रियों पर इस प्रकार का जादू चलाते हैं कि उन्हें पथ भ्रष्ट करने में सफल हो जाते हैं। सीधी-सादी, कुलशील का पूरा संकोच और सम्मान करने वाली देवियाँ दूसरों के वशीभूत होकर अपनी प्रतिष्ठा, लोक-लज्जा आदि को तिलांजलि देकर ऐसा आचरण करती हैं, जिसे देखकर हैरत होती है कि इनकी बुद्धि ऐसे आकस्मिक तरीके से विपरीत क्यों हो गयी ? परन्तु वस्तुतः वे बेचारी निर्दोष होती हैं। वे बाज़ के चंगुल में फँसे हुए पक्षी या भेड़िये के मुँह में लगी हुई बकरी की तरह जिधर घसीटी जाती हैं उधर ही घिसट जाती हैं।

इसी प्रकार दुराचारिणी स्त्रियाँ किन्हीं पुरुषों पर अपना तान्त्रिक प्रभाव डालकर उनकी नाक में नकेल डाल देती हैं और मनचाहे नाच नचाती हैं। कई वेश्याओं को इस प्रकार का जादू मालूम होता है। वे ऐसे पंछी फँसा लेती हैं, जो अपना सब कुछ खो बैठने पर भी उस चंगुल से छूट नहीं पाते। उन फँसे हुए पक्षियों का स्वास्थ्य, सौन्दर्य और धन अपहरण करके वे अपने स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा धन को बढ़ाती रहती हैं।

तन्त्र द्वारा स्त्री पुरुष आपस में एक दूसरे की शक्ति को चूसते हैं। ऐसे साधन तन्त्र प्रक्रिया में मौजूद हैं, जिनके द्वारा एक पुरुष अपनी सहगामिनी स्त्री की जीवन-शक्ति को, प्राणशक्ति को चूसकर उसे छूँछ कर सकता है और स्वयं उससे परिपुष्ट हो सकता है। अण्डों की प्राणशक्ति चूसकर तगड़े बनने एवं दूसरों के रक्त का इन्जेक्शन लेकर अपने शरीर को पुष्ट करने के उदाहरण अनेक होते हैं, पर ऐसे भी उदाहरण होते हैं कि समागम द्वारा साथी की सूक्ष्म प्राणशक्ति को चूस लिया जाये। तान्त्रिक प्रधानता के मध्यकालीन युग में बड़े आदमी इस आधार पर बहुविवाह की ओर अग्रसर हो रहे थे और रनिवासों में सैकड़ों रानियाँ रखी जाने लगी थीं।

इस प्रक्रिया को स्त्रियाँ भी अपना लेती हैं। जादूगरनी स्त्रियाँ सुन्दर युवकों को मेढ़ा, बकरा, तोता आदि बना लेती थीं, ऐसी कथायें सुनी जाती हैं। तोता, बकरा आदि बनाना आज कठिन है, पर अब भी ऐसी घटनायें देखी गई हैं कि वृद्धा तन्त्रसाधिनी युवकों को चूसती हैं और वे अनिच्छुक होते हुए भी अपनी प्राणशक्ति खोते रहने के लिए विवश होते हैं। इससे एक पक्ष पुष्ट होता है और दूसरा अपनी स्वाभाविक शक्ति से वंचित होकर दिन-दिन दुर्बल होता जाता है।

वाम-मार्ग के पंच मकारों में पञ्चम मकार 'मैथुन' है। अन्नमय कोश और प्राणमय कोश के सम्मिलित मैथुन से यह महत्त्वपूर्ण क्रिया होती है। इसमें अगणित गुप्त, अन्तरंग शक्तियों के अनुलोम-विलोम क्रम से आकर्षण-विकर्षण, घूर्णन-चूर्णन, आकुञ्चन-विकुञ्चन, प्रत्यारोहण, अभिवर्द्धन, वशीकरण, प्रत्यावर्तन आदि सूक्ष्म मंथन होते हैं, जिनके कारण जोड़े में, स्त्री-पुरुष के शरीरों में आपसी महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान होता है। रति-क्रिया साधारणतः एक अत्यन्त साधारण शारीरिक क्रिया दिखाई देती है, पर उसका सूक्ष्म महत्त्व अत्यधिक है। उस महत्त्व को समझते हुए ही भारतीय धर्म में सर्व साधारण की सुरक्षा का, हितों का ध्यान रखते हुए इस संबंध में अनेक मर्यादायें बाँधी गई हैं।

मस्तिष्क, हृदय और जननेन्द्रिय शरीर में यह तीन शक्ति पुञ्ज हैं। इन्हीं स्थानों में ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, रुद्र-ग्रन्थि है। वाम-मार्ग काली तत्त्व से संबंधित होने के कारण रुद्र-ग्रन्थि से जब शक्ति संचय करने के लिए कूर्म प्राण को आधार बनाना होता है, तो मैथुन द्वारा सामर्थ्य-भण्डार जमा किया जाता है। जननेन्द्रिय के सूक्ष्म प्रभाव क्षेत्र में मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, बज्र मेरु, तड़ित कच्छप, कुण्डल सर्पिणी, रुद्र-ग्रन्थि, समान, कृकल, अपान, कूर्म प्राण, अलम्बुषा, डाकिनी, सुषुम्ना आदि के अवस्थान हैं। इनका आकुञ्चन-प्रकुञ्चन जब तन्त्रविद्या के आधार पर होता है, तो यह शक्ति उत्पन्न होती है और वह शक्ति दोनों ही दिशा में उल्टी-सीधी चल सकती है। इस विद्या के ज्ञाता जननेन्द्रिय का उचित रीति से प्रयोग करके आशातीत लाभ उठाते हैं, परन्तु जो लोग इस विषय में अनभिज्ञ हैं, वे स्वास्थ्य और जीवनी शक्ति को खो बैठते हैं। साधारणतः रति-क्रिया में क्षय ही अधिक होता है, अधिकांश नर-नारी उसमें अपने बल को खोते ही हैं, पर तन्त्र के गुप्त विधानों द्वारा अन्नमय और प्राणमय कोशों की सुप्त शक्तियाँ इससे जगाई भी जा सकती हैं।

वाम-मार्ग में मैथुन को इन्द्रिय भोग की क्षुद्र सरसता के रूप में नहीं लिया जाता वरन् शक्ति-केन्द्रों के जागरण एवं मन्थन द्वारा अभीष्ट सिद्धि के लिए उसका उपयोग होता है। सुप्त प्राणों का जागरण एवं एक की सामर्थ्यों का दूसरे के शरीर में परिवर्तन, हस्तान्तरण करने के लिए इसका 'रति साधना' के रूप में प्रयोग होता है। मानव प्राणी के लिए परमात्मा द्वारा दिए हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपहार इस 'रति' और 'प्राण' के पुञ्ज को ईश्वरीय भाव से परम श्रद्धा के साथ पूजा जाता है। शिव-लिंग के साथ शक्ति-योनि के तादात्म्य की मूर्तियाँ आमतौर से पूजी जाती हैं। उनमें जननेन्द्रिय में स्थित दिव्य शक्ति के प्रति उच्चकोटि की श्रद्धा का संकेत है। क्षुद्र सरसता के लिए उसका प्रयोग तो हेय ही माना गया है।

चूँकि इस विद्या के सार्वजनिक उद्घाटन से इसका दुरुपयोग होने और अनैतिकता फैलने का पूरा खतरा है। इसलिए इसे अत्यंत गोपनीय रखा गया है। उपर्युक्त पंक्तियों में तन्त्र में सन्निहित शक्तियों के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालना ही यहाँ अभीष्ट है।

किसी अस्त्र को आगे की ओर भी चलाया जा सकता है और पीछे की ओर भी। ईख से स्वादिष्ट मिष्टान्न भी बन सकता है और मदिरा भी। गायत्री महाशक्ति को जहाँ आत्म-कल्याण एवं सात्त्विक प्रयोजनों के लिए लगाया जाता है, वहाँ उसे तामसिक प्रयोजनों में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। गायत्री का दक्षिण-मार्ग भी है और वाम-मार्ग भी। दक्षिण-मार्ग वेदोक्त, सतोगुणी, सरल, धर्मपूर्ण एवं कल्याण का साधन है। वाम-मार्ग तन्त्रोक्त, तमोगुणी, दुस्साहसपूर्ण, अनैतिक एवं सांसारिक चमत्कारों को सिद्ध करने वाला है।

गायत्री के दक्षिण-मार्ग की शक्ति का स्रोत ब्रह्म का परम सतोगुणी 'ह्रीं' तत्त्व है और वाम-मार्ग का महातत्त्व 'क्लीं' केन्द्र से अपनी शक्ति प्राप्त करता है। अपने या दूसरे के प्राण का मन्थन करके तन्त्र की तड़ित शक्ति उत्पन्न की जाती है। रति और प्राण के मन्थन एवं रतिकर्म के संबंध में पिछले पृष्ठ पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। दूसरा मन्थन किसी प्राणी के वध द्वारा होता है। प्राणान्त समय में भी प्राणी का प्राण मैथुन की भाँति उत्तेजित, उद्विग्न एवं व्याकुल होता है, उस स्थिति में भी तान्त्रिक लोग उस प्राण-शक्ति का बहुत बड़ा भाग खींचकर अपना शक्ति-भण्डार भर लेते हैं। नीति-अनीति का ध्यान न रखने वाले तान्त्रिक पशु-पक्षियों का बलिदान इसी प्रयोजन के लिए करते हैं।

मृत मनुष्यों के शरीरों में कुछ समय तक उपप्राणोंका अस्तित्व सूक्ष्म अंश में बना रहता है। तान्त्रिक लोग श्मशान-भूमि में मरघट जगाने की साधना करते हैं। अघोरी लोग शव-साधना करके मृतक की बची खुची शक्ति चूसते हैं। देखा जाता है कि कई अघोरी मृतक की लाश को जमीन में से खोदकर ले जाते हैं, मृतकों की खोपड़ियाँ संग्रह करते हैं, चिताओं पर भोजन पकाते हैं। यह सब इसलिए किया जाता है कि मरे हुए शरीर के अति सूक्ष्म भागों के भीतर, विशेषत: खोपड़ी में जहाँ-तहाँ उपप्राणों की प्रसुप्त चेतना मिल जाती है। दाना-दाना बीनकर अनाज की बोरी भर लेने वाले कंजूसों की तरह अघोरी लोग हड्डियों का फास्फोरस मिश्रित 'द्यु' तत्त्व एक बड़ी मात्रा में इकट्ठा कर लेते हैं।

दक्षिण-मार्ग किसान के विधिपूर्वक खेती करके न्यायानुमोदित अन्न उपार्जन करने के समान है। किसान अपने अन्न को बड़ी सावधानी और मितव्ययिता से खर्च करता है; क्योंकि उसमें उसका दीर्घकालीन कठोर श्रम लगा है, पर डाकू की स्थिति ऐसी नहीं होती। वह दुस्साहसपूर्ण आक्रमण करता है और यदि सफल हुआ, तो उस कमाई को होली की तरह फूँकता है। योगी लोग चमत्कार प्रदर्शन में अपनी शक्ति खर्च करते हुए किसान की भाँति झिझकते हैं, पर तान्त्रिक लोग अपने गौरव और बड़प्पन का आतंक जमाने के लिए छुद्र स्वार्थों के कारण दूसरों को अनुचित हानि—लाभ पहुँचाते हैं। अघोरी, कापालिक, रक्त बीज, वैतालिक, ब्रह्म-राक्षस आदि कई सम्प्रदाय तान्त्रिकों के होते हैं, उनकी साधना-पद्धति एवं कार्य-प्रणाली भिन्न-भिन्न होती है। स्त्रियों में डाकिनी, शाकिनी, कपालकुण्डला, सर्पसूत्रा पद्धतियों का प्रचार अधिक पाया जाता है।

बंदूक से गोली छूटते समय वह पीछे की ओर झटका मारती है। यदि सावधानी के साथ छाती से सटाकर बन्दूक को ठीक प्रकार से न रखा गया, तो वह ऐसे जोर का झटका देगी कि चलाने वाला औंधे मुँह पीछे को गिर पड़ेगा। कभी-कभी इससे अनाड़ियों के गले की हँसली हड्डी तक टूट जाती है। तन्त्र द्वारा भी बन्दूक जैसी तेजी के साथ विस्फोट होता है। उसका झटका सहन करने योग्य स्थिति यदि साधक की न हो, तो उसे भयंकर खतरे में पड़ जाना होता है।

तन्त्र का शक्ति-स्रोत दैवी, ईश्वरीय शक्ति नहीं वरन् भौतिक शक्ति है। प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु अपनी धुरी पर द्रुत गति से भ्रमण करते हैं तब उसके घर्षण से जो ऊष्मा पैदा होती है, उसका नाम काली या दुर्गा है। इस ऊष्मा को प्राप्त करने के लिए अस्वाभाविक, उलटा, प्रतिगामी मार्ग ग्रहण करना पड़ता है। जल का बहाव रोका जाय, तो उस प्रतिरोध से एक शक्ति का उद्भव होता है। तांत्रिक वाम-मार्ग पर चलते हैं फलस्वरूप काली शक्ति

का प्रतिरोध करके अपने को एक तामसिक, पञ्चभौतिक बल से सम्पन्न कर लेते हैं। उलटा आहार, उलटा विहार, उलटी दिनचर्या, उलटी गतिविधि सभी कुछ उनका उलटा होता है। अघोरी, रक्तबीजी, कापालिक, डाकिनी आदि के सम्पर्क में जो लोग रहे हैं, वे जानते हैं कि उनके आचरण कितने उलटे और वीभत्स होते हैं।

द्रुतगति से एक नियत दिशा में दौड़ती हुई रेल, मोटर, नदी, वायु आदि के आगे आकर उसकी गति को रोकना और उस प्रतिरोध से शक्ति प्राप्त करना यह खतरनाक खेल है। हर कोई इसे कर भी नहीं सकता, क्योंकि प्रतिरोध के समय झटका लगता है। प्रतिरोध जितना कड़ा होगा, झटका उतना ही जबरदस्त लगेगा। तन्त्र साधक जानते हैं कि जब कोलाहल से दूर एकान्त खण्डहरों, श्मशानों में अर्धरात्रि के समय जब उनकी साधना का मध्यकाल आता है तब कितने रोमांचकारी भय आ उपस्थित होते हैं। गगनचुम्बी राक्षस, विशालकाय सर्प, लाल नेत्रों वाले शूकर और महिष, छुरी से दाँतों वाले सिंह साधक के आस-पास जिस रोमांचकारी भयंकरता से गर्जन-तर्जन करते हुए कुहराम मचाते और आक्रमण करते हैं, उनसे न तो डरना और न विचलित होना यह साधारण काम नहीं है। साहस के अभाव में यदि इस प्रतिरोधी प्रतिक्रिया से साधक भयभीत हो जाए, तो उसके प्राण संकट में पड़ सकते हैं। ऐसे अवसरों पर कोई व्यक्ति पागल, बीमार, गूँगे, बहरे, अन्धे हो जाते हैं। कइयों को तो प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है। इस मार्ग में साहसी और निर्भीक प्रकृति के मनुष्य ही सफलता पाते हैं।

ऐसी कितनी ही घटनायें हमें मालूम हैं, जिनमें तन्त्र साधकों को खतरे से होकर गुजरना पड़ा है। विशेषत: जब किसी सूक्ष्म प्राण सत्ता को वशीभूत करना होता है, तो उसकी विपरीत प्रतिक्रिया बड़ी विकट होती है। सूक्ष्म जगत्‌रूपी समुद्र में मछलियों की भाँति कुछ चैतन्य प्राणधारी स्वतंत्र सत्ताओं का अस्तित्व पाया जाता है। जैसे समुद्र में मछलियाँ अनेक जाति की होती हैं, उसी प्रकार यह सत्तायें भी अनेक स्वभावों, गुणों, शक्तियों से सम्पन्न होती हैं। इन्हें पितर, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस, देव-दानव, ब्रह्म-राक्षस, बेताल, कूष्माण्ड, भैरव, रक्तबीज आदि कहते हैं। उनमें से किसी को सिद्ध करके उसकी शक्ति से अपने प्रयोजनों को साधा जाता है। इनको सिद्ध करते समय वे उलटकर कुचले हुए सर्प की तरह ऐसा आक्रमण करते हैं कि निर्बल साधक के लिए उस चोट का झेलना कठिन होता है। ऐसे खतरे में पड़कर कई व्यक्ति इतने भयभीत एवं आतंकित होते हमने देखे हैं कि जिनकी छाती की रक्तवाहिनी नाड़ियाँ फट गईं और मुख, नाक तथा मल मार्ग से खून बहने लगा। ऐसे आहत लोगों में से अधिकांश को मृत्यु के मुख में प्रवेश करना पड़ा, जो बचे उनका शरीर और मस्तिष्क विकारग्रस्त हो गया।

भूतोन्माद, मानसिक भ्रम, आवेश, अज्ञात आत्माओं द्वारा कष्ट दिया जाना, दु:स्वप्न, तान्त्रिकों के अभिचारी आक्रमण आदि किसी सूक्ष्म प्रक्रिया द्वारा जो व्यक्ति आक्रान्त हो रहा हो, उसे तान्त्रिक प्रयोगों द्वारा रोका जा सकता है और उस प्रयोक्ता पर उसी के प्रयोग को उलटाकर उस अत्याचार का मजा चखाया जा सकता है; परंतु इस प्रकार के कार्य दक्षिणमार्गी गायत्री उपासना से भी हो सकते हैं। अभिचारियों या दुष्टों पर तात्कालिक उलटा आक्रमण करना तो तन्त्र द्वारा ही सम्भव है; पर हाँ, प्रयत्नों को वेदोक्त साधना से भी निष्फल किया जा सकता है और उनकी शक्ति को छीनकर भविष्य के लिए उन्हें विष रहित सर्प जैसा हतवीर्य बनाया जा सकता है। तन्त्र द्वारा किन्हीं स्त्री-पुरुषों की काम-शक्ति अपहरण करके उन्हें नपुंसक बना दिया जाता है, पर अति असंयम को दक्षिण मार्ग द्वारा भी संयमित किया जा सकता है। तन्त्र की शक्ति प्रधानत: मारक एवं आक्रमणकारी होती है; पर योग द्वारा शोधन, परिमार्जन, संचय एवं रचनात्मक निर्माण कार्य किया जाता है।

तन्त्र के चमत्कारी प्रलोभन असाधारण हैं। दूसरों पर आक्रमण करना तो उनके द्वारा बहुत ही सरल है। किसी को बीमारी, पागलपन, बुद्धिभ्रम, उच्चाटन उत्पन्न कर देना, प्राण-घातक संकट में डाल देना आसान है। सूक्ष्म जगत् में भ्रमण करती हुई किसी 'चेतनाग्रन्थि' को प्राणवान् बनाकर उससे प्रेत, पिशाच, बेताल, भैरव, कर्ण पिशाचिनी, छाया पुरुष आदि के रूप में सेवक की तरह काम लेना, सुदूर देशों से अजनबी चीजें मँगा देना, गुप्त रखी हुई चीजें या अज्ञात व्यक्तियों के नाम, पते बता देना तान्त्रिक के लिए सम्भव है। आगे चलकर वेश बदल लेना या किसी वस्तु का रूप बदल देना भी उनके लिए संभव है। इसी प्रकार की अनेकों विलक्षणतायें उनमें देखी जाती हैं, जिससे लोग बहुत प्रभावित होते हैं और उनकी भेंट-पूजा भी खूब होती है; परन्तु स्मरण रखना चाहिए

कि इन शक्तियों का स्रोत परमाणुगत ऊष्मा (काली) ही है, जो परिवर्तनशील है । यदि थोड़े दिनों साधना बन्द रखी जाए या प्रयोग छोड़ दिया जाए, तो उस शक्ति का घट जाना या समाप्त हो जाना अवश्यम्भावी है ।

तन्त्र द्वारा कुछ छोटे-मोटे लाभ भी हो सकते हैं । किसी के तान्त्रिक आक्रमण को निष्फल करके किसी निर्दोष की हानि को बचा देना ऐसा ही सदुपयोग है । तान्त्रिक विधि से 'शक्ति-पात' करके अपनी उत्तम शक्तियों का कुछ भाग किसी निर्बल मन वाले को देकर उसे ऊँचा उठा देना भी सदुपयोग ही है और भी कुछ ऐसे ही प्रयोग हैं, जिन्हें विशेष परिस्थिति में काम में लाया जाए, तो वह भी सदुपयोग ही कहा जायेगा । परंतु असंस्कृत मनुष्य इस तमोगुण प्रधान शक्ति का सदा सदुपयोग ही करेंगे, इसका कुछ भरोसा नहीं । स्वार्थ साधन का अवसर हाथ में आने पर उसका लाभ छोड़ना किन्हीं बिरलों का ही काम होता है ।

तन्त्र अपने आप में कोई बुरी चीज नहीं है । वह एक विशुद्ध विज्ञान है । वैज्ञानिक लोग यन्त्रों और रासायनिक पदार्थों की सहायता से प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों का उपयोग करते हैं । तान्त्रिक अपने को ऐसी रासायनिक एवं यान्त्रिक स्थिति में ढाल लेता है कि अपने शरीर और मन को एक विशेष प्रकार से संचालित करके प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों का मनमाना उपयोग करे । इस विज्ञान का विद्यार्थी कोमल परमाणुओं वाला होना चाहिए, साथ ही साहसी प्रकृति का भी । कठोर और कमजोर मन वाले इस दिशा में अधिक प्रगति नहीं कर पाते । यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक आसानी से सफल तान्त्रिक बनती देखी गई हैं । छोटी-छोटी प्रारम्भिक सिद्धियाँ तो उन्हें स्वल्प प्रयत्न से ही प्राप्त हो जाती हैं ।

तन्त्र एक स्वतन्त्र विज्ञान है । विज्ञान का दुरुपयोग भी हो सकता है और सदुपयोग भी । परन्तु इसका आधार अनुचित और खतरनाक है और शक्ति प्राप्त करने के उद्‌गम स्रोत अनैतिक, अवांछनीय हैं, साथ ही प्राप्त सिद्धियाँ भी अस्थायी हैं । आमतौर से तान्त्रिक घाटे में रहता है । उससे संसार का जितना उपकार हो सकता है, उससे अधिक अपकार होता है, इसलिए चमत्कारी होते हुए भी इस मार्ग को निषिद्ध एवं गोपनीय ठहराया गया है । अन्य समस्त तन्त्र साधना की अपेक्षा गायत्री का वाम-मार्ग अधिक शक्तिशाली है । अन्य सभी विधियों की अपेक्षा इस विधि से मार्ग-सुगम पड़ता है, फिर भी निषिद्ध वस्तु त्याज्य है । सर्व-साधारण के लिए तो उससे दूर रहना ही उचित है ।

यों तन्त्र की कुछ सरल विधियाँ भी हैं । अनुभवी पथ-प्रदर्शक इन कठिनाइयों का मार्ग सरल बना सकते हैं । हिंसा, अनीति एवं अकर्म से बचकर ऐसे लाभों के लिए साधन कर सकते हैं ,जो व्यावहारिक जीवन में उपयोगी हों और अनर्थ से बचकर स्वार्थ साधन होता रहे; पर यह लाभ तो दक्षिणमार्गी साधन से भी हो सकते हैं । जल्दबाजी का प्रलोभन छोड़कर यदि धैर्य और सात्त्विक साधन किये जाएँ, तो उनके भी कम लाभ नहीं हैं । हमने दोनों मार्गों का लम्बे समय तक साधन करके यही पाया है कि दक्षिण मार्ग का राज पथ ही सर्वसुलभ है ।

गायत्री द्वारा साधित तन्त्र विद्या का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है । सर्प-विद्या, प्रेत-विद्या, भविष्य-ज्ञान, अदृश्य वस्तुओं का देखना, परकाया प्रवेश, घात-प्रतिघात, दृष्टि-बन्ध, मारण, उन्मादीकरण, वशीकरण, विचार-संदोह, मोहनमन्त्र, रूपान्तरण, विस्मृति, सन्तान सुयोग, छाया-पुरुष, भैरवी, अपहरण, आकर्षण-अभिकर्षण आदि अनेक ऐसे-ऐसे कार्य हो सकते हैं, जिनको अन्य किसी भी तान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है; परन्तु यह स्पष्ट है कि तन्त्र की प्रणाली सर्वोपयोगी नहीं है । उसके अधिकारी कोई बिरले ही होते हैं ।

दक्षिणमार्गी, वेदोक्त, योग सम्मत, गायत्री-साधना किसान द्वारा अन्न उपजाने के समान, धर्म संगत, स्थिर लाभ देने वाली और लोक—परलोक में सुख शान्ति देने वाली है । पाठकों का वास्तविक हित इसी राजपथ के अवलम्बन में है । दक्षिण मार्ग से, वेदोक्त साधन से जो लाभ मिलते हैं ,वे ही आत्मा को शान्ति देने वाले, स्थायी रूप से उन्नति करने वाले एवं कठिनाइयों को हल करने वाले हैं । तन्त्र में चमत्कार बहुत हैं, वाम मार्ग से आसुरी

शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उसकी संहारक एवं आतंकवादी क्षमता बहुत है, परन्तु इससे किसी का भला नहीं हो सकता। तात्कालिक लाभ को ध्यान में रखकर जो लोग तन्त्र के फेर में पड़ते हैं, वे अन्ततः घाटे में रहते हैं। तन्त्र विद्या के अधिकारी वही हो सकते हैं जो तुच्छ स्वार्थों से ऊँचे उठे हुए हैं। परमाणु बम के रहस्य और प्रयोग हर किसी को नहीं बताये जा सकते, इसी प्रकार तन्त्र की खतरनाक जिम्मेदारी केवल सत्पात्रों को ही सौंपी जा सकती है।

गायत्री की गुरु दीक्षा

मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जहाँ कितनी ही विशेषतायें हैं, वहाँ कितनी ही कमियाँ भी हैं। एक सबसे बड़ी कमी यह है कि पशु-पक्षियों के बच्चे बिना किसी के सिखाये अपनी जीवनचर्या की साधारण बातें अपने आप सीख जाते हैं; पर मनुष्य का बालक ऐसा नहीं करता है। यदि उसका शिक्षण दूसरे के द्वारा न हो, तो वह उन विशेषताओं को प्राप्त नहीं कर सकता जो मनुष्य में होती हैं।

अभी कुछ दिन पूर्व की बात है दक्षिण अफ्रीका के जंगलों में एक मादा भेड़िया मनुष्य के दो छोटे बच्चों को उठा ले गई। कुछ ऐसी विचित्र बात हुई कि उसने उन्हें खाने के बजाय अपना दूध पिलाकर पाल लिया, वे बड़े हो गये। एक दिन शिकारियों का दल भेड़िये की तलाश में इधर से निकला तो हिंसक पशु की माँद में मनुष्य के बालक देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वे उन्हें पकड़ लाये। ये बालक भेड़ियों की तरह चलते थे, वैसे ही गुर्राते थे, वही सब खाते थे और उनकी सारी मानसिक स्थिति भेड़िये जैसी थी। कारण यही था कि उन्होंने जैसा देखा, वैसा सीखा और वैसे ही बन गये।

जो बालक जन्म से बहरे होते हैं, वे जीवनभर गूंगे भी रहते हैं; क्योंकि बालक दूसरे के मुँह से निकलने वाले शब्दों को सुनकर उसकी नकल करना सीखता है। यदि कान बहरे होने की वजह से वह दूसरों के शब्द सुन नहीं सकता, तो फिर यह असम्भव है कि शब्दोच्चारण कर सके। धर्म, संस्कृति, रीति- रिवाज, भाषा, वेश-भूषा, शिष्टाचार, आहार-विहार आदि बातें बालक अपने निकटवर्ती लोगों से सीखता है। यदि कोई बालक जन्म से ही अकेला रखा जाए, तो वह उन सब बातों से वञ्चित रह जायेगा, जो मनुष्य में होती हैं।

पशु-पक्षियों के बच्चों में यह बात नहीं है। बया पक्षी का छोटा बच्चा पकड़ लिया जाय और वह माँ-बाप से कुछ न सीखे तो भी बड़ा होकर अपने लिए वैसा ही सुन्दर घोंसला बना लेगा जैसा कि अन्य बया पक्षी बनाते हैं, पर अकेला रहने वाला मनुष्य का बालक भाषा, कृषि, शिल्प, संस्कृति, धर्म-शिष्टाचार, लोक-व्यवहार, श्रम-उत्पादन आदि सभी बातों से वञ्चित रह जायेगा। पशुओं के बालक जन्म से ही चलने फिरने लगते हैं और माता का पय पान करने लगते हैं, पर मनुष्य का बालक बहुत दिन में कुछ समझ पाता है। आरम्भ में तो वह करवट बदलना, दूध का स्थान तलाश करना तक नहीं जानता, अपनी माता तक को नहीं पहचानता, इन बातों में पशुओं के बच्चे अधिक चतुर होते हैं।

मनुष्य कोरे कागज के समान है, कागज पर जैसी स्याही से जैसे अक्षर बनाये जाते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। कैमरे की प्लेट पर जो छाया पड़ती है, वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है। मानव मस्तिष्क की रचना भी कोरे कागज एवं फोटो-प्लेट की भाँति है। वह निकटवर्ती वातावरण में से अनेक बातें सीखता है। उसके ऊपर जिन बातों का विशेष प्रभाव पड़ता है, उन्हें वह अपने मानस क्षेत्र में जमा कर लेता है। मनुष्य गीली मिट्टी के समान है जैसे साँचे में ढाल दिया जाए, वैसा ही खिलौना बन जाता है। उच्च परिवारों में पलने वाले बालकों में वैसी ही विशेषतायें होती हैं और निकृष्ट श्रेणी के बीच रहकर जो बालक पलते हैं, उनमें वैसी ही क्षुद्रतायें बहुधा पाई जाती हैं।

हमारे पारदर्शी पूर्वज मनुष्य की इस कमजोरी को भली प्रकार समझते थे। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि यदि बालकों पर अनियन्त्रित प्रभाव पड़ता रहा, उनके सुधार और परिवर्तन का प्रारंभ से ही ध्यान न रखा गया, तो यह बहुत मुश्किल है कि वे अपनी मनोभूमि को वैसी बना सकें जैसी कि मानव प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। आमतौर से सब माता-पिता उतने सुसंस्कृत नहीं होते कि अपने बच्चों पर केवल अच्छा प्रभाव ही पड़ने दें और

बुरे प्रभाव से उन्हें बचाते रहें । दूसरे यह भी है कि माँ-बाप में बालक के प्रति लाड़-प्यार का भाव स्वभावत: अधिक होता है, वे उनके प्रति अधिक उदार एवं मोहग्रस्त होते हैं, ऐसी दशा में अपने बालकों की बुराइयाँ उन्हें सूझ भी नहीं पड़तीं । फिर इतने सूक्ष्म-दर्शी माँ-बाप कहाँ होते हैं, जो अपनी सन्तान की मानसिक स्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण एवं विश्लेषण करके कुसंस्कारों का परिमार्जन तत्काल करने को उद्यत रहें ।

सत् शिक्षण की आवश्यकता

मनुष्य की यह कमजोरी है कि वह दूसरों से ही सब कुछ सीखता है, जो कि उसके उच्च विकास में बाधक होती है । कारण कि साधारण वातावरण में भले तत्त्वों की अपेक्षा बुरे तत्त्व अधिक होते हैं । उन बुरे तत्त्वों में ऐसा आकर्षण होता है कि कच्चे दिमाग उनकी ओर बड़ी आसानी से खिंच जाते हैं । फलस्वरूप वे बुराइयाँ अधिक सीख लेने के कारण आगे चलकर बुरे मनुष्य साबित होते हैं । छोटी आयु में यह पता नहीं चलता कि बालक किन संस्कारों को अपनी मनोभूमि में जमा रहा है । बड़ा होने पर जब वे संस्कार एवं स्वभाव प्रकट होते हैं, तब उन्हें हटाना कठिन हो जाता है; क्योंकि दीर्घकाल तक वे संस्कार बालक के मन में जमे रहने एवं पकते रहने के कारण ऐसे सुदृढ़ हो जाते हैं कि उनका हटाना कठिन होता है ।

ऋषियों ने इस भारी कठिनाई को देखकर एक अत्यंत ही सुन्दर और महत्त्वपूर्ण उपाय यह निश्चित किया कि प्रत्येक बालक पर माँ-बाप के अतिरिक्त किसी ऐसे व्यक्ति का भी नियन्त्रण रहना चाहिए जो मनोविज्ञान की सूक्ष्मताओं को समझता हो । दूरदर्शी तत्त्वज्ञानी और पारदर्शी होने के कारण बालक के मन में रहने वाले संस्कार बीजों को अपनी पैनी दृष्टि से तत्काल देख लेने और उनमें आवश्यक सुधार करने की योग्यता रखता हो । ऐसे मानसिक नियन्त्रणकर्ता की उनने प्रत्येक बालक को अनिवार्य आवश्यकता घोषित की ।

शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य के तीन प्रत्यक्ष देव हैं- (१) माता, (२) पिता, (३) गुरु । इन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपाधि दी है । माता जन्म देती है इसलिए ब्रह्मा है, पिता पालन करता है इसलिए विष्णु है और गुरु कुसंस्कारों का संहार करता है इसलिए शंकर है । गुरु का स्थान माता-पिता के समकक्ष है । कोई यह कहे कि मैं बिना माता के पैदा हुआ, तो उसे "झूँठा" कहा जायेगा, क्योंकि माता के गर्भ में रहे बिना कोई किस प्रकार जन्म ले सकता है ? इसी कारण कोई यह कहे कि मैं बिना बाप का हूँ, तो वह 'वर्णसंकर' कहा जायेगा, क्योंकि जिसके बाप का पता न हो, ऐसे बच्चे तो वेश्याओं के यहाँ पैदा होते हैं । उसी प्रकार कोई कहे कि मेरा कोई गुरु नहीं है, तो समझा जायेगा कि यह असभ्य एवं असंस्कारित है, क्योंकि जिसके मस्तिष्क पर विचार, स्वभाव, ज्ञान, गुण, कर्म पर किसी दूरदर्शी का नियन्त्रण नहीं रहा, उसके मानसिक स्वास्थ्य का क्या भरोसा किया जा सकता है ? ऐसे असंस्कृत व्यक्तियों को 'निगुरा' कहा जाता है । 'निगुरा' का अर्थ है बिना गुरु का । किसी समय में 'निगुरा' कहना भी वर्णसंकर या मिथ्याचारी कहलाने के समान गाली समझी जाती थी ।

बिना माता का, बिना पिता का, बिना गुरु का भी कोई मनुष्य हो सकता है, यह बात प्राचीनकाल में अविश्वस्त समझी जाती थी । कारण कि भारतीय समाज के सुसम्बद्ध विकास के लिए ऋषियों की यह अनिवार्य व्यवस्था थी कि प्रत्येक कार्य का गुरु होना चाहिए, जिससे वह महान् पुरुष बन सके । उस समय प्रत्येक माता-पिता को अपने बालकों को महापुरुष बनाने की अभिलाषा रहती थी । इसके लिए यह आवश्यकता रहती थी कि उनके बालक किसी सुविज्ञ आचार्य के शिष्य हों ।

गुरुकुल प्रणाली का उस समय आम रिवाज था । पढ़ने की आयु के होते ही बालक ऋषियों के आश्रम में भेज दिये जाते थे । राजा महाराजाओं तक के बालक गुरुकुलों का कठोर जीवन बिताने जाते थे, ताकि वे कुशल-नियन्त्रण में रहकर सुसंस्कृत बन सकें और आगे चलकर मनुष्यों के महान् गौरव की रक्षा करने वाले महापुरुष सिद्ध हो सकें । मैं अमुक आचार्य का शिष्य हूँ, यह बात बड़े गौरव के साथ कही जाती थी, प्राचीन परिपाटी के अनुसार जब कोई मनुष्य किसी दूसरे को परिचय देता था तो कहता था, "मैं अमुक आचार्य का शिष्य, अमुक पिता का पुत्र, अमुक गोत्र का, अमुक नाम का व्यक्ति हूँ" संकल्पों में, प्रतिज्ञाओं में, साक्षी में, राजदरबार में अपना परिचय इसी आधार पर दिया जाता था ।

मनोभूमि का परिष्कार

बगीची को यदि सुन्दर बनाना है, तो इसके लिए किसी कुशल माली की नियुक्ति आवश्यक है । जब आवश्यकता हो तब सींचना, जब अधिक पानी भर गया हो, तो उसे बाहर निकाल देना, समय पर गोड़ना, निराई करना, अनावश्यक टहनियों को छाँटना, खाद देना, पशुओं को चरने न देने की रखवाली करना आदि बातों के सम्बन्ध में माली सदा सजग रहता है, फलस्वरूप यह बगीचा हरा-भरा, फला-फूला, सुन्दर और समुन्नत रहता है ।

मनुष्य का मस्तिष्क एक बगीचा है, इसमें नाना प्रकार के मनोभाव, विचार, संकल्प, इच्छा, वासना, योजना रूपी वृक्ष उगते हैं, उनमें से कितने ही अनावश्यक और कितने ही आवश्यक होते हैं । बगीचे में कितने ही पौधे झाड़-झंखाड़ जैसे अपने आप उग आते हैं, वे बढ़ें तो बगीचे को नष्ट कर सकते हैं । इसलिए माली उन्हें उखाड़ देता है और दूर-दूर से लाकर अच्छे-अच्छे बीज उसमें बोता है । गुरु अपने शिष्य के मस्तिष्क रूपी बगीचे का माली होता है, वह अपने क्षेत्र में से जंगली झाड़-झंखाड़ जैसे अनावश्यक संकल्पों, संस्कारों, आकर्षण और प्रभावों को उखाड़ता रहता है और अपनी बुद्धिमता, दूरदर्शिता एवं चतुरता के साथ ऐसे संस्कार बीज जमाता रहता है, जो उस मस्तिष्क रूपी बगीचे को बहुमूल्य बनाएँ ।

कोई व्यक्ति यह सोचे कि "मैं स्वयं ही अपना आत्म-निर्माण करूँगा, अपने आप, अपने को सुसंस्कृत बनाऊँगा, मुझे किसी गुरु की आवश्यकता नहीं" तो ऐसा किया जा सकता है । आत्मा में अनन्त शक्ति है । अपना कल्याण करने की शक्ति उसमें मौजूद है; परन्तु ऐसे प्रयत्नों में कोई मनस्वी व्यक्ति ही सफल होते हैं । सर्व साधारण के लिए यह बात बहुत कष्टसाध्य है, क्योंकि बहुधा अपने दोष अपने को नहीं दीखते, जैसे अपनी आँखें अपने आपको स्वयं दिखाई नहीं देतीं । किसी दूसरे मनुष्य या दर्पण की सहायता से ही अपनी आँखों को देखा जा सकता है । जब कोई वैद्य, डॉक्टर बीमार होते हैं तो स्वयं अपना इलाज आप नहीं करते, क्योंकि अपनी नाड़ी स्वयं देखना, अपना निदान आप कर लेना साधारणतया बहुत कठिन होता है, इसलिए वे किसी दूसरे वैद्य या डॉक्टर से अपनी चिकित्सा कराते हैं ।

कोई सुयोग्य व्यक्ति भी आत्म-निरीक्षण में सफल नहीं होते हैं । हम दूसरों की जैसी अच्छी आलोचना कर सकते हैं, दूसरों को जैसी नेक सलाह दे सकते हैं वैसी अपने लिए नहीं कर पाते, कारण यह है कि अपने सम्बन्ध में आप निर्णय करना कठिन होता है । कोई अपराधी ऐसा नहीं जिसे यदि मजिस्ट्रेट बना दिया जाए, तो अपने अपराध के सम्बन्ध में उचित फैसला लिखे । निष्पक्ष फैसला करना हो तो किसी दूसरे जज का ही आश्रय लेना पड़ेगा । आत्म-निर्माण का कार्य भी ऐसा ही है जिसके लिए दूसरे सुयोग्य सहायक की, गुरु की आवश्यकता होती है ।

समुचित बौद्धिक विकास की सुव्यवस्था के लिए 'गुरु' की नियुक्ति को भारतीय धर्म में आवश्यक माना गया है । इससे मनुष्य की विचारधारा, स्वभाव, संस्कार, गुण, प्रकृति, आदतें, इच्छायें, महत्त्वाकांक्षायें, कार्य-पद्धति आदि का प्रवाह उत्तम दिशा में हो सके । जिससे मनुष्य अपने आप में सन्तुष्ट, प्रसन्न, पवित्र और परिश्रमी रहे एवं दूसरों को अपनी उदारता तथा सद्व्यवहार से सुख पहुँचाये । इस प्रकार के सुसंस्कारित मनुष्य जिस देश में अधिक होंगे वहाँ निश्चयपूर्वक सुख-शान्ति की, सुव्यवस्था की, पारस्परिक सहयोग की, प्रेम की, साथ ही सहयोग की बहुलता रहेगी । हमारा पूर्व इतिहास साक्षी है कि सुसंस्कारित मस्तिष्क के भारतीय महापुरुषों ने कैसे महान् कार्य किये थे और इस भूमि पर किस प्रकार स्वर्ग को अवतरित कर दिया था ।

हमारे पूर्वकालीन महान् गौरव की नींव में ऋषियों की दूरदर्शिता छिपी हुई है, जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय को अपना मानसिक परिष्कार कराने के लिए किसी उच्च चरित्र, आदर्शवादी, सूक्ष्मदर्शी विद्वान् के नियन्त्रण में रहना आवश्यक होता था । जो व्यक्ति मानसिक परिष्कार करने की आवश्यकता से जी चुराते थे, उन्हें 'निगुरा' की गाली दी जाती थी । 'निगुरा' शब्द का अपमान करीब-करीब 'बिना बाप का' या 'वर्णसंकर' कहे जाने के बराबर

समझा जाता था । धन का कमाना, विद्या पढ़ना, अस्त्र चलाना सभी बातें आवश्यक थीं, पर मानसिक परिष्कार तो सबसे अधिक आवश्यक था, क्योंकि असंस्कृत मनुष्य तो समाज का अभिशाप बनकर ही रहता है, भले ही उसके पास कितनी ही अधिक भौतिक सम्पदा क्यों न हो । गुरु को प्रत्यक्ष तीन देवों में तीन परम पूज्यों में स्थान देने का यही कारण था ।

दूषित वातावरण का प्रभाव

आज यह प्रथा टूट चली है । गुरु कहलाने के अधिकारी व्यक्तियों का मिलना मुश्किल है । जिनमें गुरु बनने की योग्यता है, वे अपने व्यक्तिगत, आत्मिक या भौतिक लाभों के सम्पादन में लगे हुए हैं । लोक सेवा, राष्ट्र-निर्माण की रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर, सुसंस्कृत बनाने का उत्तरदायित्व सिर पर लेने की ओर उनका ध्यान नहीं है । वे इसमें स्वल्प लाभ, अधिक झंझट और भारी बोझ अनुभव करते हैं । इसकी अपेक्षा वे दूसरे सरल तरीकों से अधिक धन और यश कमा लेने के अनेक मार्ग जब सामने देखते हैं, तो 'गुरु' का गहन उत्तरदायित्व ओढ़ने से कन्नी काट जाते हैं ।

दूसरी ओर ऐसे अयोग्य व्यक्ति जिनका चरित्र, ज्ञान, अनुभव, विवेक आदि कुछ भी नहीं, जिनमें दूसरों को सुसंस्कृत करने की क्षमता होना तो दूर जो अपने को सुसंस्कृत नहीं बना सके, ऐसे लोग पैर पुजाने और दक्षिणा लेने के लोभ में कान फूँकने लगे, खुशामद, दीनता और भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर शिष्य तलाश करने लगे, तो गुरुत्व की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई । जिस काम को कुपात्र लोग हाथों में लेते हैं वह अच्छा काम भी बदनाम हो जाता है और जिस साधारण काम को यदि भले व्यक्ति करने लगें, तो वह अच्छा हो जाता है । दीन-दुखियों के हाथ में रहने से चरखा 'दुर्भाग्य' का चिह्न समझा जाता था, पर गाँधीजी जैसे महापुरुष के हाथ का वही चरखा दीन-दुखियों के हाथ में पहुँचकर यज्ञ बन जाता है । ऋषियों के हाथ में जब तक 'गुरुत्व' था, तब तक उस पद की प्रतिष्ठा रही, पर आज जबकि कुपात्र, भिखारी और क्षुद्र लोग गुरु बनने का दुस्साहस करने लगे तो वह महान् पद ही बदनाम हो गया । आज 'गुरु' या 'गुरुघण्टाल' शब्द किसी पुराने पापी या धूर्तराज के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

लोगों ने देखा कि एक आदमी दक्षिणा भी लेता है, पैर भी पुजवाता है; पर वह किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं पहुँचाता, तो उनने भी इस व्यर्थ के झंझट को तोड़ देना उचित समझा । गुरु शिष्य की परम्परा शिथिल होने लगी और धीरे-धीरे उसका लोप होने लगा है । निष्प्रयोजन, निष्प्राण, निरुपायी होने पर भी जो परम्परायें खर्चीली हैं, वे देर तक जीवित नहीं रह सकतीं । अब बहुत कम मनुष्य रह गये हैं जो गुरु की नियुक्ति आवश्यक समझते हों या 'निगुरा' कहलाने में अपना अपमान समझते हों ।

आज के दूषित वातावरण ने सभी दिशाओं में गड़बड़ी पैदा कर दी है । असली सोना कम है पर नकली सोना बेहिसाब तैयार हो रहा है । असली घी मिलना मुश्किल है पर वेजीटेबिल घी से दुकानें पटी पड़ी हैं । असली मोती, असली जवाहरात कम हैं पर नकली मोती और इमीटेशन रत्न ढेरों बिकते हैं । इतना होते हुए भी असली चीजों का महत्त्व कम नहीं हुआ है । लोग घासलेट घी को खूब खरीदते-बेचते हैं, पर इससे असली घी की उपयोगिता घट नहीं जाती । असंख्यों गड़बड़ियाँ होते रहने पर भी असली घी के गुण वही रहेंगे और उसके लाभों में कोई कमी न होगी । असली सोना, असली रत्न आदि भी इसलिए निरुपयोगी नहीं हो जाते कि नकली चीजों ने उस क्षेत्र को बदनाम कर दिया है । मिलावट, नकलीपन, धोखेभड़ी के हजार पर्वत मिलकर भी वास्तविकता का, वस्तुस्थिति का महत्त्व राई भर भी नहीं घटा सकते ।

व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का निर्माण एक सच्चाई है, जो आज की विषम स्थिति में तो क्या, किसी भी बुरी से बुरी स्थिति में भी गलत सिद्ध नहीं हो सकती । रोटी बनानी होगी तो आटे की, पानी की, आग की जरूरत पड़ेगी । चाहे कैसा भी भला या बुरा समय हो इस अनिवार्य आवश्यकता में कोई अन्तर नहीं आ सकता । अच्छे मनुष्य, सच्चे मनुष्य, प्रतिष्ठित मनुष्य, सुखी मनुष्य की रचना के लिए यह आवश्यक है कि अच्छे, सुयोग्य और दूरदर्शी मनुष्यों द्वारा हमारे मस्तिष्क का नियंत्रण, संशोधन, निर्माण और विकास किया जाए । मनुष्य कोरे कागज के समान

है । वह जैसा ग्रहण करेगा, जैसा सीखेगा वैसा करेगा । साथ ही यह भी सुनिश्चित है कि यदि आरंभिक अवस्था में प्रयत्नपूर्वक सद्‌गुण नहीं सिखाये जायेंगे, तो वह सामान्यत: बुराई की ओर ही झुकेगा, यदि बुराई से बचना है तो अच्छाई से सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है । मनुष्य का मन खाली नहीं रह सकता, उसे अच्छाई का प्रकाश न मिलेगा, तो निश्चय ही बुराई के अन्धकार में रहना होगा ।

शिक्षा और विद्या का महत्त्व

मनुष्य को सुयोग्य बनाने के लिए उसके मस्तिष्क को दो प्रकार से उन्नत किया जाता है- (१) शिक्षा द्वारा, (२) विद्या द्वारा । शिक्षा के अन्तर्गत वे सब बातें आती हैं, जो स्कूलों में, कालेजों में, ट्रेनिंग कैम्पों में , हाट - बाजारों में, घर में, दुकान में, समाज में सिखाई जाती हैं । गणित, भूगोल, इतिहास, भाषा, शिल्प, व्यायाम, रसायन, चिकित्सा, निर्माण, व्यापार, कृषि, संगीत, कला आदि बातें सीखकर मनुष्य व्यवहार कुशल, चतुर, कमाऊ, लोकप्रिय एवं शक्ति सम्पन्न बनता है । विद्या द्वारा मनोभूमि का निर्माण होता है । मनुष्य की इच्छा, भावना, श्रद्धा, मान्यता, रुचि एवं आदतों को अच्छे ढाँचे में ढालना विद्या का काम है । चौरासी लाख योनियों में घूमते हुए आने के कारण पिछले पाशविक संस्कारों से मन भरा रहता है, उनका संशोधन करना विद्या का काम है । यदि मनुष्य इससे वञ्चित रह जाये तो फिर उसका जीवन अविकसित, अनुपयोगी और अपने तथा समाज के लिए भार स्वरूप बन जाता है ।

शिक्षक शिक्षा देता है । शिक्षा का अर्थ है- सांसारिक ज्ञान । विद्या का अर्थ है- मनोभूमि की सुव्यवस्था । शिक्षा आवश्यक है, पर विद्या उससे भी अधिक आवश्यक है । शिक्षा बढ़नी चाहिए, पर विद्या का विस्तार उससे भी अधिक होना चाहिए, अन्यथा दूषित मनोभूमि रहते हुए यदि सांसारिक सामर्थ्य बढ़ी, तो उसका परिणाम भयंकर होगा । धन की, चतुरता की, विज्ञान की इन दिनों बहुत उन्नति हुई है; पर यह स्पष्ट है कि उन्नति के साथ-साथ हम सर्वनाश की ओर ही बढ़ रहे हैं । कम साधन होते हुए भी, विद्वान् मनुष्य सुखी रह सकता है, परन्तु केवल बौद्धिक या सांसारिक शक्तियाँ होने पर दूषित मनोभूमि का मनुष्य अपने लिये तथा दूसरों के लिए केवल विपत्ति, चिन्ता, कठिनाई, क्लेश एवं बुराई ही उत्पन्न कर सकता है । इसलिए विद्या पर उतना ही नहीं , बल्कि उससे भी अधिक जोर दिया जाना चाहिए, जितना कि शिक्षा पर दिया जाता है ।

आज हम अपने बालकों को ग्रेजुएट बना देने के लिए ढेरों पैसा खर्च करते हैं, पर उनकी आन्तरिक भूमिका को सुव्यवस्थित करने की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं करते । फलस्वरूप शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी वे बालक अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति कोई आदर्श व्यवहार नहीं कर पाते । किसी भी ओर उनकी प्रगति ऐसी नहीं होती, जो प्रसन्नतादायक हो । शिक्षा के साथ उनमें जो अनेक दुर्गुण आ जाते हैं, उन दुर्गुणों में ही उनकी योग्यता द्वारा होने वाली कमाई बर्बाद होती रहती है ।

इस तथ्य को हमारे पूर्वज जानते थे कि शिक्षा से भी, विद्या का महत्त्व अधिक है । इसलिए वे छोटी सी आयु में अपने बच्चों को गुरु का नियन्त्रण स्थापित करा देते थे । गुरु लोग अपने गम्भीर ज्ञान, विशाल अनुभव, सूक्ष्मदर्शी विवेक और उज्ज्वल चरित्र द्वारा शिष्य को प्रभावित करके उनकी मनोभूमि का निर्माण करते थे । अपनी प्रचण्ड शक्ति-किरणों द्वारा उसके अन्त:करण में ऐसे बीज अंकुरित कर देते थे, जो फलने-फूलने पर उस व्यक्ति को महापुरुष सिद्ध करें ।

गायत्री द्वारा द्विजत्व की प्राप्ति

भारतीय धर्म के अनुसार, गुरु की आवश्यकता प्रत्येक भारतीय के लिए है । जैसे ईश्वर के प्रति, शास्त्रों के प्रति भारतीय आचार के प्रति, ऋषियों और देवताओं के प्रति, आस्था एवं आदर बुद्धि का होना भारतीय धर्म के अनुयायियों के लिए आवश्यक है वैसे ही यह आवश्यक है कि वह 'निगुरा' न हो । उसे किसी सुयोग्य सत्पुरुष का ऐसा पथ-प्रदर्शन प्राप्त होना चाहिए, जो उनके सर्वांगीण विकास में सहायता दे सके । किसी भी मनुष्य के

सुसंस्कृत, सभ्य होने का मार्ग यही है कि योग्य शिक्षक या गुरु से सद्‌गुणों और सत्कर्मों का प्रशिक्षण प्राप्त करे। इसके बिना मानव-पद की सार्थकता कठिन ही रहती है।

संभ्रान्त भारतीय धर्मानुयायी को द्विज कहते हैं। द्विज वह है जिसका दो बार जन्म हुआ है। एक बार माता-पिता के रज-वीर्य से सभी का जन्म होता है। इस तरह मनुष्य जन्म पा लेने से कोई मनुष्य प्रतिष्ठित आर्य नहीं बन सकता। केवल जन्म-मात्र से मनुष्य का गौरव नहीं। कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो पशुओं से भी गये बीते हैं। स्वभावत: जन्मजात पशुता तो प्राय: सभी में होती है। इस पशुता का मनोविज्ञान द्वारा परिष्कार किया जाता है, इस परिष्कार की पद्धति को द्विजत्व या दूसरा जन्म कहते हैं।

शास्त्रों द्वारा बताया गया है कि -**"जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।"** अर्थात् जन्म से सभी शूद्र उत्पन्न होते हैं, संस्कारों द्वारा, प्रभावों द्वारा मनुष्य का दूसरा जन्म होता है। यह दूसरा जन्म माता गायत्री और पिता आचार्य द्वारा होता है। गायत्री के २४ अक्षरों में ऐसे सिद्धान्त और आदर्श सन्निहित हैं,जो मानव अन्त:करण को उच्च स्तर पर विकसित करने के प्रधान आधार हैं।समस्त वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण, सूत्र आदि ग्रन्थों में जो कुछ भी शिक्षा है, वह गायत्री के अक्षरों में सन्निहित शिक्षाओं की व्याख्या मात्र है। समस्त भारतीय धर्म, समस्त भारतीय आदर्श, समस्त भारतीय संस्कृति का सर्वस्व गायत्री के २४ अक्षरों में बीज रूप में मौजूद है। इसलिए द्विज के लिए, दूसरे जन्म के लिए गायत्री को माता माना गया है।

पर ये शिक्षायें केवल मन्त्र याद कर लेने या पुस्तकों में लिखी हुई बातें पढ़ लेने मात्र से हृदयंगम नहीं हो सकतीं। पढ़ने से किसी बात की जानकारी तो हो जाती है, पर हृदय में उनका प्रवेश करा देना किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा ही हो सकता है। दीपक को दीपक से जलाया जाता है, अग्नि से अग्नि उत्पन्न होती है, साँचे में वस्तुएँ ढाली जाती हैं, व्यक्तियों से व्यक्तियों का निर्माण होता है। इसलिए गायत्री की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप से जीवन में घुला देने का कार्य न तो अपने आप किया जा सकता है और न उसके पढ़ने मात्र से होता है, उसके लिए किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्ति को गुरु कहते हैं। दूसरे जन्म का, द्विजत्व का, आदर्श जीवन का पिता गुरु को माना गया है।

गुरु द्वारा गायत्री के आधार पर जो शिक्षायें दी जाती हैं, उनको भली प्रकार हृदयंगम करने, सदा छाती से चिपकाये रहने, उसका पूरी तरह प्रयोग करने का उत्तरदायित्व कन्धे पर रखा हुआ अनुभव करने की बात हर समय आँखों के आगे रहे, इसके लिए द्विजत्व का प्रतीक यज्ञोपवीत पहना दिया जाता है। यज्ञोपवीत गायत्री की मूर्तिमान् प्रतिमा है। गायत्री में नौ पद हैं- १- तत्, २- सवितुर्, ३- वरेण्यं, ४- भर्गो, ५- देवस्य, ६- धीमहि, ७- धियो, ८- योन:, ९- प्रचोदयात्। यज्ञोपवीत में ९ धागे हैं, प्रत्येक धागा गायत्री के एक-एक पद का प्रतीक है। यज्ञोपवीत में तीन ग्रन्थियाँ और एक अन्तिम ब्रह्म ग्रन्थि होती है। बड़ी ग्रन्थि 'ॐ' की और शेष तीन 'भू:', 'भुव:', 'स्व:' की प्रतीक हैं, जैसे पत्थर या धातु की मूर्ति में देवता की प्रतिष्ठा करके उसकी पूजा की जाती है, वैसे ही गायत्री की मूर्ति सूत की बनाकर हृदय-मन्दिर पर प्रतिष्ठित की जाती है। मन्दिर में मूर्ति के सम्मुख हर घड़ी नहीं रहा जा सकता, पर गायत्री की प्रतिमा, यज्ञोपवीत का तो हर घड़ी पास रहना आवश्यक है, उसे तो क्षण भर के लिए भी अलग नहीं किया जा सकता। वह तो हर घड़ी हृदय के ऊपर झूलता रहता है। उसका बोझ तो हर घड़ी कन्धे पर रखा रहता है। इस प्रकार गायत्री पूजा को, गायत्री की प्रतिमा को, गायत्री की शिक्षा को जीवन-संगिनी बनाया गया है। कोई प्रतिष्ठित भारतीय धर्मानुयायी यज्ञोपवीत को छोड़ नहीं सकता, उसकी महत्ता की आवश्यकता से इन्कार नहीं कर सकता।

कहा जाता है गायत्री का अधिकार केवल द्विजों को है। द्विजत्व का तात्पर्य-गुरु द्वारा गायत्री को ग्रहण करना। जो लोग अश्रद्धालु हैं, आत्म निर्माण से जी चुराते हैं, आदर्श-जीवन बिताने से उदासीन हैं, जिनकी सन्मार्ग में प्रवृत्ति नहीं, ऐसे लोग 'शूद्र' कहे जाते हैं। जो दूसरे जन्म का, आदर्श-जीवन का, मनुष्य की महानता का, सन्मार्ग का अवलम्बन नहीं करना चाहते, ऐसे लोगों का जन्म पाशविक ही कहा जायेगा, ऐसे लोग गायत्री में क्या रुचि लेंगे ? जिनकी जिस मार्ग में श्रद्धा न होगी, वह उसमें क्या सफलता प्राप्त करेगा ? इसलिए ठीक ही कहा गया

है कि शूद्रों को गायत्री का अधिकार नहीं । इस महाविद्या का अधिकारी वही है, जो आत्मिक कायाकल्प का लक्ष्य रखता है, जिसे पाशविक जीवन की अपेक्षा उच्च जीवन पर आस्था है, जो द्विज बनकर सैद्धान्तिक जन्म लेकर सत्पुरुष बनना चाहता है । वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को भूलकर लोगों ने जाति परम्परा के आधार पर द्विजत्व मानना आरंभ कर दिया है, इसी से अनेक दोष उत्पन्न हो रहे हैं ।

उत्कीलन और शाप विमोचन

शास्त्रों में बताया गया है कि गायत्री मन्त्र कीलित है, उसका जब तक उत्कीलन न हो जाए, तब तक वह फलदायक नहीं होती । यह कहा गया है कि गायत्री को शाप लगा हुआ है । उस शाप का जब तक 'अभिमोचन' न कर लिया जाए, तब तक उससे कुछ लाभ नहीं होता । कीलित होने और शाप लगने के प्रतिबन्ध क्या हैं और उत्कीलन एवं अभिमोचन क्या हैं ? यह विचारणीय बात है ।

जैसे यह कहा जा सकता है कि 'औषधि विद्या कीलित है ।' क्योंकि अगर कोई ऐसा व्यक्ति जो शरीर शास्त्र, निदान, निघण्टु, चिकित्सा विज्ञान की बारीकियों को नहीं समझता, अपनी अधूरी जानकारी के आधार पर अपनी चिकित्सा आरम्भ कर दें तो उससे कुछ भी लाभ न होगा । उल्टी हानि हो सकती है । यदि औषधि से कोई लाभ लेना हो तो किसी अनुभवी वैद्य की सलाह लेना आवश्यक है । आयुर्वेद ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा हुआ है, उन्हें पढ़कर बहुत-सी बातें जानी जा सकती हैं, फिर भी वैद्य की आवश्यकता तो है ही । वैद्य के बिना हजारों रुपये के चिकित्सा ग्रन्थ और लाखों रुपये का औषधालय भी रोगी को कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकता । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि "औषधि विद्या कीलित है ।" गायत्री महाविद्या के बारे में भी यही बात है । साधक की मनोभूमि के आधार पर साधना विधान में, नियमोपनियमों में, आदर्शों में अनेक हेर-फेर करने होते हैं, सबकी साधना एक-सी नहीं हो सकती, ऐसी दशा में उस व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन आवश्यक है, जो इस विद्या का ज्ञाता एवं अनुभवी हो । जब तक ऐसा निर्देशक न मिले तब तक औषधि विद्या की तरह गायत्री विद्या भी साधक के लिए कीलित ही रहेगी । उपयुक्त निर्देशक का मिल जाना ही उत्कीलन है । ग्रन्थों में बताया है कि गुरु द्वारा ग्रहण कराई गई गायत्री ही उत्कीलित होती है, वही सफल होती है ।

स्कन्द पुराण में वर्णन है कि एक बार वसिष्ठ, विश्वामित्र और ब्रह्मा ने क्रुद्ध होकर गायत्री को शाप दिया कि "उसकी साधना निष्फल होगी ।" इतनी बड़ी शक्ति के निष्फल होने से हाहाकार मच गया । तब देवताओं ने प्रार्थना की कि इन शापों का विमोचन होना चाहिए । अन्त में ऐसा मार्ग निकाला गया कि जो शाप विमोचन विधि को पूरा करके गायत्री की साधना करेगा, उसका प्रयत्न तो सफल होगा और शेष लोगों का श्रम निरर्थक जायेगा । इस कथन में एक भारी रहस्य छिपा हुआ है जिसे न जानने वाले केवल **"शापमुक्तो भव"** वाले मन्त्र को पढ़ लेने मात्र से यह मान लेते हैं कि हमारी साधना शापमुक्त हो गई ।

विश्वामित्र का अर्थ है- संसार का मित्र, लोकसेवी, परोपकारी । वसिष्ठ का अर्थ है- विशेष रूप से श्रेष्ठ, ब्रह्मा का अर्थ है- ब्रह्मपरायण । इन तीन गुणों वाले पथ-प्रदर्शक के आदेशानुसार होने वाले आध्यात्मिक प्रयत्न ही सफल एवं कल्याणकारी होते हैं ।

स्वार्थी, दूसरे का बुरा करने को उद्यत, वाममार्गी मनोवृत्ति का मनुष्य यदि साधक को वैसी ही साधना सिखायेगा, तो वह अपना और शिष्य दोनों का नाश करेगा । जिसका चरित्र उच्च नहीं, जो उदार नहीं, जिसमें महानता और प्रतिभा नहीं, वह दूसरों का नया निर्माण क्या करेगा ? इसी प्रकार जो ब्रह्मपरायण नहीं ,जिसकी साधना एवं तपस्या नहीं, ऐसा गुरु किसी की आत्मा में क्या प्रकाश दे सकेगा ? तात्पर्य यह है कि विश्वामित्र- उदार, वशिष्ठ—महानता युक्त, ब्रह्मा - ब्रह्म परायण, इन तीनों गुणों से युक्त निर्देशक जब किसी व्यक्ति का निर्माण करेगा, तो उसका प्रयत्न निष्फल नहीं जा सकता । इसके विपरीत कुपात्र, अयोग्य और अनुभवहीन व्यक्तियों की शिक्षानुसार की गई साधना, तो इसी प्रकार व्यर्थ रहेगी, मानो किसी ने शाप देकर उसे निष्फल कर दिया हो । शाप लगने और उसके विमोचन करने का गुप्त रहस्य उपयुक्त मार्गदर्शक की अध्यक्षता में अपनी कार्य पद्धति का निर्माण करना ही है ।

गायत्री उच्च मानव जीवन की जन्मदात्री, आधारशिला एवं बीज शक्ति है । भारतीय संस्कृति रूपी ज्ञान-गंगा की उद्‌गम भूमि गंगोत्री यह गायत्री ही है, इसलिए इसे द्विजों की माता कहा गया है । माता के पेट में रहकर मनुष्य देह का जन्म होता है, गायत्री माता के पेट में रहकर मनुष्य का आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, दिव्य विशेषताओं वाला दूसरा जन्म होता है । परन्तु यह माता सर्वसम्पन्न होते हुए भी पिता के अभाव में अपूर्ण हैं । द्विजत्व का दूसरा शरीर माता और पिता दोनों के ही तत्त्व बिन्दुओं से निर्मित होता है । गायत्री माता की अदृश्य सत्ता को गुरु द्वारा ही ठीक प्रकार से शिष्य की मनोभूमि में आरोपित किया जाता है । इसीलिए जब द्विजत्व का संस्कार होता है, तो इस दूसरे आध्यात्मिक जन्म में गायत्री को माता और आचार्य को पिता घोषित किया जाता है ।

उच्च आदर्शों की शिक्षा न तो अपने आप ही प्राप्त होती है, न केवल आधार ग्रन्थों से । हीन चरित्र के अयोग्य व्यक्ति उच्च आदर्शों की ओर दूसरों को आकर्षित नहीं कर सकते । बढ़िया धनुष बाण पास होते हुए भी कोई व्यक्ति स्वयं शब्दवेधी बाण चलाने वाला नहीं बन सकता और न अनाड़ी शिक्षक द्वारा बाण-विद्या में पारंगत बना जा सकता है । अच्छा शिक्षक और अच्छा धनुष-बाण दोनों मिलकर ही सफल परिणाम उपस्थित करते हैं । गायत्री के कीलित एवं शापित होने का और उसके उत्कीलन एवं शाप विमोचन करने का यही रहस्य है ।

आत्म-कल्याण की तीन कक्षायें-

आध्यात्मिक साधना का क्षेत्र तीन भागों में बँटा हुआ है । तीन व्याहृतियों में उनका स्पष्टीकरण कर दिया गया है । १- भूः, २- भुवः, ३- स्वः- यह तीन आत्मिक भूमिकायें मानी गई हैं । 'भूः' का अर्थ है- स्थूल जीवन, शारीरिक एवं सांसारिक जीवन । 'भुवः' का अर्थ है- अन्तःकरण चतुष्टय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का कार्यक्षेत्र । 'स्वः' का अर्थ है- विशुद्ध आत्मिक सत्ता । मनुष्य की आन्तरिक स्थिति इन तीन क्षेत्रों में ही होती है ।

"भूः" का सम्बन्ध अन्नमय कोश से है । "भुवः" प्राणमय और मनोमय कोश से आच्छादित है । "स्वः" का प्रभाव क्षेत्र विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश है । शरीर से सम्बन्ध रखने वाली, जीविका उपार्जन, लोक-व्यवहार, नीति, शिल्प, कला, स्कूली-शिक्षा, व्यापार, सामाजिक, राजनैतिक ज्ञान, नागरिक कर्त्तव्य आदि बातें भूः क्षेत्र में आती हैं । ज्ञान, विवेक, दूरदर्शिता, धर्म, दर्शन, मनोबल, प्राण शक्ति, तान्त्रिक प्रयोग, योग-साधना आदि बातें भुवः क्षेत्र की हैं । आत्म-साक्षात्कार, ईश्वर-परायणता, ब्राह्मी स्थिति, परमहंस गति, समाधि, तुरीयावस्था, परमानन्द, मुक्ति का क्षेत्र 'स्वः' के अन्तर्गत हैं । आध्यात्मिक क्षेत्र के ये तीन लोक हैं । पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग की भाँति ही हमारे भीतर भूः, भुवः, स्वः तीन लोक हैं ।

इन तीन स्थितियों के आधार पर ही गायत्री के तीन विभाग किये गये हैं । उसे त्रिपदा कहा गया है, उसके तीन चरण हैं । पहली भूमिका, प्रथम चरण, भूः क्षेत्र के लिए है । उसके अनुसार वे शिक्षाएँ दी जाती हैं, जो मनुष्य के व्यक्तिगत और सांसारिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं ।

"गायत्री गीता" एवं "गायत्री स्मृति" में गायत्री के चौबीस अक्षरों की व्याख्या की गई है । एक-एक अक्षर एवं शब्द से जिन सिद्धान्तों, आदर्शों एवं उपदेशों की शिक्षा मिलती है, वे इतने अमूल्य हैं कि उनके आधार पर जीवन-नीति बनाने का प्रयत्न करने वाला मनुष्य दिन-दिन सुख, शान्ति, समृद्धि, उन्नति एवं प्रतिष्ठा की ओर बढ़ता चला जाता है । "गायत्री-महाविज्ञान" के प्रथम भाग में गायत्री कल्प-वृक्ष का चित्र बनाकर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि तत्, सवितुर्, वरेण्यं आदि शब्दों का मनुष्य के लिए कैसा आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण शिक्षण है ? वे शिक्षायें अत्यन्त सरल, तत्काल अपना परिणाम दिखाने वाली एवं घर बाहर सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने वाली हैं ।

गायत्री की दस भुजाओं के सम्बन्ध में "गायत्री-मञ्जरी" में यह बताया गया है कि इन दस भुजाओं से माता दस शूलों को नष्ट करती हैं । १- दूषित दृष्टि, २- परावलम्बन, ३- भय, ४- क्षुद्रता, ५- असावधानी, ६- स्वार्थपरता, ७- अविवेक, ८- आवेश, ९- तृष्णा, १०- आलस्य । यह दस शूल माने गये हैं । इन दस दोषों, मानसिक शत्रुओं को नष्ट करने के लिए १ प्रणव व्याहृति तथा ९ पदों द्वारा दस ऐसी अमूल्य शिक्षायें दी गई हैं, जो मानव जीवन में स्वर्गीय आनन्द की सृष्टि कर सकती हैं । नीति, धर्म, सदाचार, सम्पन्नता, व्यवहार, आदर्श, स्वार्थ और परमार्थ

का जैसा सुन्दर समन्वय इन शिक्षाओं में है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता । वेदशास्त्रों की सम्पूर्ण शिक्षाओं का निचोड़ इन अक्षरों में रख दिया गया है । इनका जो जितना अनुसरण करता है, वह तत्काल उतने ही अंशों में लाभान्वित हो जाता है ।

प्रथम भूमिका - 'मन्त्र दीक्षा'

जीवन का प्रथम चरण 'भू:' है । व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहार में जो अनेक गुत्थियाँ, उलझनें, कठिनाइयाँ आती हैं, उन सबका सुलझाव इन अक्षरों में दी हुई शिक्षा से होता है । सांसारिक जीवन का कोई भी कठिन प्रश्न ऐसा नहीं है, जिनका उत्तर और उपाय उन अक्षरों में न हो । इस रहस्यमय व्यावहारिक ज्ञान की अपने उपयुक्त व्याख्या कराने के लिए जिस गुरु की आवश्यकता होती है, उसे 'आचार्य' कहते हैं । आचार्य 'मन्त्र-दीक्षा' देते हैं । मन्त्र का अर्थ है- विचार, तर्क, प्रमाण, अवसर, स्थिति पर विचार करते हुए आचार्य अपने शिष्य को समय-समय पर ऐसे सुझाव, सलाह, उपदेश, गायत्री मन्त्र की शिक्षाओं के आधार पर देते हैं, जिनसे उसकी विभिन्न समस्याओं का पथ-प्रशस्त होता चले । यह प्रथम भूमिका है । इसे भू: क्षेत्र कहते हैं । इस क्षेत्र के शिष्य को आचार्य द्वारा मन्त्र दीक्षा दी जाती है ।

मन्त्र दीक्षा लेते समय शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि "मैं गुरु का आदेश, अनुशासन पूर्ण श्रद्धा के साथ मानूँगा । समय-समय पर उनकी सलाह से अपनी जीवन नीति निर्धारित करूँगा, अपनी सभी भूलें निष्कपट रूप से उन पर प्रकट कर दिया करूँगा ।" आचार्य शिष्य को मन्त्र का अर्थ समझाता है और माता गायत्री को यज्ञोपवीत रूप से देता है । शिष्य देवभाव से आचार्य का पूजन करता है और गुरु-पूजा के लिए उन्हें वस्त्र, आभूषण, पात्र, भोजन, दक्षिणा आदि सामर्थ्यानुसार भेंट करता है । रोली, अक्षत, तिलक, कलावा वरण आदि के द्वारा दोनों परस्पर एक दूसरे को बाँधते हैं । मन्त्र-दीक्षा एक प्रकार से दो व्यक्तियों में आध्यात्मिक रिश्तेदारी की स्थापना है । इस दीक्षा के पश्चात् पाप-पुण्य में से वे एक प्रतिशत के भागीदार हो जाते हैं । शिष्य के सौ पापों में से एक का फल गुरु को भोगना पड़ता है । इसी प्रकार पुण्य में भी एक दूसरे के साझीदार होते हैं, यह सामान्य दीक्षा है । यह मन्त्र दीक्षा साधारण श्रेणी के सुशिक्षित सत्पुरुष आचार्य प्रारम्भिक श्रेणी के साधक को दे सकते हैं ।

द्वितीय भूमिका - 'अग्नि दीक्षा'

दूसरी भुव: भूमिका में पहुँचने पर दूसरी दीक्षा लेनी पड़ती है । इसे प्राण-दीक्षा या अग्नि-दीक्षा कहते हैं । प्राणमय कोश एवं मनोमय कोश के अन्तर्गत छिपी हुई शक्तियों को जाग्रत् करने की साधना का शिक्षण क्षेत्र यही है । साधना संग्राम के अस्त्र-शस्त्रों को धारण करना, सँभालना और चलाना इसी भूमिका में सीखा जाता है । प्राणशक्ति की न्यूनता का उपचार इसी क्षेत्र में होता है । साहस, उत्साह, परिश्रम, दृढ़ता, स्फूर्ति, आशा, धैर्य, लगन आदि वीरोचित गुणों की अभिवृद्धि इसी दूसरी भूमिका में होती है । मनुष्य शरीर के अन्तर्गत ऐसे अनेक चक्र, उपचक्र, भ्रमर, उपत्यिका, सूत्र प्रत्यावर्तन, बीज, मेरु आदि गुप्त संस्थान होते हैं, जो प्राणमय भूमिका की साधना से जाग्रत् होते हैं । इस जागरण के फलस्वरूप साधक में ऐसी अनेक विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जैसी कि साधारण मनुष्यों में नहीं देखी जातीं ।

भुव: भूमिका में ही मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के चतुष्टय का संशोधन, परिमार्जन एवं विकास होता है । यह सब कार्य मध्यमा और पश्यन्ती वाणी द्वारा किया जाता है, वैखरी वाणी द्वारा वचनों के माध्यम से प्रारम्भिक साधक को 'भू:' क्षेत्र के मन्त्र दीक्षित को सलाह शिक्षा आदि दी जाती है । जब प्राण दीक्षा होती है, तो गुरु अपना प्राण शिष्य के प्राण में घोल देता है, बीज रूप से अपना आत्मबल साधक के अन्त:करण में स्थापित कर देता है । जैसे आग से आग जलायी जाती है, बिजली की धारा से बल्व जलते या पंखे चलते हैं, उसी प्रकार अपना शक्ति-भाग बीज रूप से दूसरे की मनोभूमि में जमाकर वहाँ उसे सींचा और बढ़ाया जाता है । इस क्रिया पद्धति को अग्नि

दीक्षा कहते हैं । अशक्त को सशक्त बनाना, निष्क्रिय को सक्रिय बनाना, निराश को आशान्वित करना प्राण दीक्षा का काम है । मन से विचार उत्पन्न होता है, अग्नि से क्रिया उत्पन्न होती है । अन्त:भूमि में हलचल, क्रिया, प्रगति, चेष्टा, क्रान्ति, बेचैनी, आकांक्षा का तीव्र गति से उदय होता है ।

साधारणत: लोग आत्मोन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं देते, थोड़ा-सा देते हैं तो उसे बड़ा भारी बोझ समझते हैं, कुछ जप तप करते हैं तो उन्हें अनुभव होता है मानो बहुत बड़ा मोर्चा जीत रहे हों । परन्तु जब आन्तरिक स्थिति भुव: क्षेत्र में पहुँचती है तो साधक को बड़ी बेचैनी और असन्तुष्टि होती है, उसे अपना साधन बहुत साधारण दिखाई पड़ता है और अपनी उन्नति उसे, बहुत मामूली दीखती है । उसे छटपटाहट एवं जल्दी होती है कि मैं किस प्रकार शीघ्र लक्ष्य तक पहुँच जाऊँ । अपनी उन्नति चाहे कितनी ही सुव्यवस्थित ढंग से हो रही हो पर उसे सन्तोष नहीं होता । यह व्याकुलता उसकी कोई भूल नहीं होती वरन् भीतर ही भीतर जो तीव्र क्रिया शक्ति काम कर रही है उसकी प्रतिक्रिया है । भीतरी क्रिया, प्रवृत्ति और प्रेरणा का बाह्य लक्षण असन्तोष है । यदि असन्तोष न हो, तो समझना चाहिए कि साधक की क्रिया शक्ति शिथिल हो गई । जो साधक दूसरी भूमिका में है, उसका असन्तोष जितना ही तीव्र होगा उतनी ही क्रिया शक्ति तेजी से काम करती रहेगी । बुद्धिमान् पथ-प्रदर्शक, दूसरी कक्षा के साधक में सदा असन्तोष भड़काने का प्रयत्न करते हैं; ताकि आन्तरिक क्रिया और भी सतेज हो । साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि वह असन्तोष कहीं निराशा में परिणत न हो जाय ।

अग्नि-दीक्षा लेकर साधक का आन्तरिक प्रकाश स्वच्छ हो जाता है और उसे अपने छोटे से छोटे दोष दिखाई पड़ने लगते हैं । अँधेरे में, धुँधले प्रकाश में बड़ी वस्तुयें भी ठीक प्रकार दीखती हैं और कई बार तो प्रकाश की तेजी के कारण वे वस्तुयें और भी अधिक महत्त्वपूर्ण दीखती हैं । आत्मा में ज्ञानाग्नि का प्रकाश होते ही साधक को अपनी छोटी-छोटी भूल, बुराई, कमियाँ भली प्रकार दीख पड़ती हैं । उसे मालूम पड़ता है कि मैं असंख्य बुराइयों का भण्डार हूँ, नीची श्रेणी के मनुष्यों से भी मेरी बुराइयाँ अधिक हैं । अब भी पाप मेरा पीछा नहीं छोड़ते । इस प्रकार वह अपने अन्दर घृणास्पद तत्त्वों को बड़ी मात्रा में देखता है । जिन गलतियों को साधारण श्रेणी के लोग कतई गलती नहीं मानते, उनका नीर-क्षीर विवेक वह करता है । मानस पापों तक से दु:खी होता है ।

महात्मा सूरदास जब परम भागवत हो रहे थे, तब उन्हें अपनी बुराइयाँ सूझीं । जब तक वे वस्तुत: पापी और व्यभिचारी रहे तब तक उन्हें अपने काम में कोई बुराई न दीखी, पर जब वे भगवान् की शरण में आये तो भूतकाल की बुराइयों का स्मरण करने मात्र से उनकी आत्मा काँप गई और उसकी तीव्र संवेदना को शान्त करने के लिए अपने नेत्र फोड़ डाले । फिर भी आत्म निरीक्षण करने पर उन्हें अपने भीतर दोष ही दोष दीखे, जिनकी घोषणा उन्होंने अपने प्रसिद्ध पद में की- 'मो सम कौन कुटिल खल, कामी ।'

भुव: की भूमिका में पहुँचे हुए साधक के तीन लक्षण प्रधान रूप में होते हैं - (१) आत्म कल्याण के लिए तपश्चर्या में तीव्र प्रवृत्ति,(२) अपनी प्रगति को मन्द अनुभव करना, अपनी उन्नति के प्रति असन्तोष (३) अपने विचार, कार्य एवं स्वभाव में अनेक बुराइयों का दिखाई देना । यह भूमिका धीरे-धीरे पकती रहती है । यदि हाँड़ी के भीतर शान्ति हो तो उसके दो कारण समझे जा सकते हैं- (१) या तो अभी पकना आरंभ नहीं हुआ, हाँडी गरम नहीं हुई,(२) या पककर दाल बिलकुल तैयार हो गई । या तो अज्ञानान्धकार में डूबे हुए मूर्ख प्रकृति के लोग मुदित रहते हैं और अपनी बुराइयों में ही मौज करते हैं या फिर अन्तिम कक्षा में पहुँचा योगी आत्म साक्षात्कार करके ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त कर शान्त हो जाता है । मध्यम कक्षा में तप, प्रयत्न, असन्तोष एवं वेदना की प्रधानता रहती है । चूँकि यह स्थिति आवश्यक है, इसे ही आत्मा का अग्नि-संस्कार कहते हैं । इसमें अन्त:करण का परिपाक होता है । शरीर को तपश्चर्याओं की अग्नि में और अन्त:करण को असन्तोष की अग्नि में तपाकर पकाया जाता है । पूरी मात्रा में अग्नि-संस्कार हो जाने पर न तो शरीर को तपाने की आवश्यकता रहती है और न ही मन को तपाना पड़ता है । तब वह तीसरी कक्षा 'स्व:' की शान्ति भूमिका प्राप्त करता है ।

मन्त्र दीक्षा के लिये कोई भी विचारवान् , दूरदर्शी, उच्च चरित्र, प्रतिभाशाली सत्पुरुष उपयुक्त हो सकता है, वह अपनी तर्क शक्ति और बुद्धिमता से शिष्य के विचारों का परिमार्जन कर सकता है । उसके कुविचारों को ,

भ्रमों को सुलझाकर अच्छाई के मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक सलाह, शिक्षण एवं उपदेश दे सकता है, अपने प्रभाव से उसे प्रभावित भी कर सकता है । अग्नि-दीक्षा के लिए ऐसा गुरु चाहिए जिसके भीतर अग्नि पर्याप्त मात्रा में हो, तप की पूँजी का जो धनी हो । दान वही कर सकता है जिसके पास धन हो, विद्या वही दे सकता है जिसके पास विद्या हो । जिसके पास जो वस्तु नहीं वह दूसरों को क्या देगा ? जिसने स्वयं तप करके प्राण शक्ति संचित की है, अग्नि अपने अन्दर प्रज्वलित कर रखी है, वही दूसरों को प्राण या अग्नि देकर भुवः भूमिका की दीक्षा दे सकता है ।

तीसरी भूमिका - 'ब्रह्म-दीक्षा'

तीसरी भूमिका "स्वः" है । इसे ब्रह्म-दीक्षा कहते हैं । जब दूध अग्नि पर औटाकर नीचे उतार लिया जाता है और ठण्डा हो जाता है तब उसमें दही का जामन देकर जमा दिया जाता है, फलस्वरूप वह सारा दही ही बन जाता है । मन्त्र द्वारा दृष्टिकोण का परिमार्जन करके साधक अपने सांसारिक जीवन को प्रसन्नता और सम्पन्नता से ओत-प्रोत करता है, अग्नि द्वारा अपने कुसंस्कारों, पापों, भूलों, कषायों, दुर्बलताओं को जलाता है, उनसे अपना पिण्ड छुड़ाकर बन्धन मुक्त होता है एवं तप की ऊष्मा द्वारा अन्तःकरण को पकाकर ब्राह्मीभूत करता है । दूध पकते-पकते जब रबड़ी, मलाई आदि की शक्ल में पहुँच जाता है तब उसका मूल्य और स्वाद बहुत बढ़ जाता है ।

पहली ज्ञान-भूमि, दूसरी शक्ति-भूमि और तीसरी ब्रह्म-भूमि होती है । क्रमशः एक के बाद एक को पार करना पड़ता है । पिछली दो कक्षाओं को पारकर साधक जब तीसरी कक्षा में पहुँचता है, तो उसे सद्‌गुरु द्वारा ब्रह्म-दीक्षा लेने की आवश्यकता होती है ।यह "परा" वाणी द्वारा होती है । वैखरी वाणी द्वारा मुँह से शब्द उच्चारण करके ज्ञान दिया जाता है । मध्यमा और पश्यन्ती वाणियों द्वारा शिष्य के प्राणमय और मनोमय कोश में अग्नि संस्कार किया जाता है । परा वाणी द्वारा आत्मा बोलती है और उसका सन्देश दूसरी आत्मा सुनती है । जीभ की वाणी कान सुनते हैं, मन की वाणी नेत्र सुनते हैं, हृदय की वाणी हृदय सुनता है और आत्मा की वाणी आत्मा सुनती है । जीभ 'वैखरी' वाणी बोलती है । मन 'मध्यमा' बोलता है । हृदय की वाणी 'पश्यन्ती' कहलाती है और आत्मा 'परा' वाणी बोलती है । ब्रह्म-दीक्षा में जीभ, मन, हृदय किसी को नहीं बोलना पड़ता । आत्मा के अन्तरंग क्षेत्र में जो अनहद ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे दूसरी आत्मा ग्रहण करती है । उसे ग्रहण करने के पश्चात् वह भी ऐसी ही ब्राह्मीभूत हो जाती है जैसा थोड़ा-सा दही पड़ने से औटाया हुआ दूध सबका सब दही बन जाता है ।

काला कोयला या सड़ी-गली लकड़ी का टुकड़ा जब अग्नि में पड़ता है, तो उसका पुराना स्वरूप बदल जाता है और वह अग्निमय होकर अग्नि के ही गुणों से सुसज्जित हो जाता है । यह कोयला या लकड़ी का टुकड़ा भी अग्नि के गुणों से परिपूर्ण होता है और गर्मी, प्रकाश तथा जलाने की शक्ति भी उसमें अग्नि के समान होती है । ब्राह्मी दीक्षा से ब्रह्मभूत हुए साधक का शरीर तुच्छ होते हुए भी उसकी अन्तरंग सत्ता ब्राह्मीभूत हो जाती है । उसे अपने भीतर-बाहर चारों ओर सत् ही सत् दृष्टिगोचर होता है । विश्व में सर्वत्र उसे ब्रह्म ही ब्रह्म परिलक्षित होता है ।

गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर अपना विराट् रूप दिखाया था, अर्थात् उसे वह ज्ञान दिया था जिससे विश्व के अन्तरंग में छिपी हुई अदृश्य ब्रह्म सत्ता का दर्शन कर सके । भगवान् सब में व्यापक है पर उसे कोई बिरले ही देखते, समझते हैं । भगवान् ने अर्जुन को यह दिव्य दृष्टि दी जिससे उसकी ईक्षण शक्ति इतनी सूक्ष्म और पारदर्शी हो गयी कि वह उन दिव्य तत्त्वों का अनुभव करने लगा, जिसे साधारण लोग नहीं कर पाते । इस दिव्य दृष्टि को ही पाकर योगी लोग आत्मा का, ब्रह्म का साक्षात्कार अपने भीतर और बाहर करते हैं तथा ब्राह्मी गुणों से, विचारों से, स्वभावों से, कार्यों से ओतप्रोत हो जाते हैं । यशोदा ने, कौशल्या ने, काकभुशुण्डि ने ऐसी दिव्य दृष्टि पाई थी और ब्रह्म का साक्षात्कार किया था । ईश्वर का दर्शन इसे ही कहते हैं । ब्रह्म दीक्षा पाने वाला शिष्य ईश्वर में अपनी समीपता और स्थिति का वैसे ही अनुभव करता है जैसे कोयला अग्नि में पड़कर अपने को अग्निमय अनुभव करता है ।

द्विजत्व की तीन कक्षाएँ हैं - (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य । पहली कक्षा है- वैश्य । वैश्य का उद्देश्य है, सुख सामग्री का उपार्जन । उसको मन्त्र (विचार) द्वारा यह लोक व्यवहार सिखाया जाता है, वह दृष्टिकोण दिया जाता है जिसके द्वारा सांसारिक जीवन सुखमय, शान्तिमय, सफल एवं सुसम्पन्न बन सके । बुरे गुण, कर्म एवं स्वभावों के कारण लोग अपने आपको चिन्ता, भय, दुःख, रोग, क्लेश एवं दरिद्रता के चंगुल में फँसा लेते हैं । यदि उनका दृष्टिकोण सही हो, दस शूलों से बचे रहें, तो निश्चय ही मानव जीवन स्वर्गीय आनन्द से ओत-प्रोत होना चाहिए ।

क्षत्रिय तत्त्व का आधार है शक्ति । शक्ति तप से उत्पन्न होती है । दो वस्तुओं को घिसने से गर्मी पैदा होती है । पत्थर पर घिसने से चाकू तेज होता है । बिजली की उत्पत्ति घर्षण से होती है । बुराइयों के, त्रुटियों के, कुसंस्कारों के, विकारों के विरुद्ध संघर्ष, कार्य को तप कहते हैं । तप से आत्मिक शक्ति उत्पन्न होती है और उसे जिस दिशा में भी प्रयुक्त किया जाए उसी में चमत्कार उत्पन्न हो जाते हैं । शक्ति स्वयं ही चमत्कार है, शक्ति का नाम ही सिद्धि है ।अग्नि-दीक्षा से तप आरम्भ होता है, आत्म-दान के लिए युद्ध छेड़ा जाता है । गीता में भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया था कि 'तू निरन्तर युद्ध कर ।' निरन्तर युद्ध किससे करता ? महाभारत तो थोड़े ही दिन में समाप्त हो गया था, फिर अर्जुन निरन्तर किससे लड़ता ? भगवान् का संकेत आन्तरिक शत्रुओं से संघर्ष जारी रखने का था । यही अग्नि दीक्षा का उपदेश था । अग्नि-दीक्षा से दीक्षित व्यक्ति में क्षत्रियत्व का, साहस का, शौर्य का, पुरुषार्थ का, पराक्रम का विकास होता है । इससे वह यश का भागी बनता है ।

मन्त्र-दीक्षा से साधक व्यवहार कुशल बनता है और अपने जीवन को सुख-शान्ति, सहयोग एवं सम्पन्नता से भरा-पूरा कर लेता है । अग्नि-दीक्षा से उसकी प्रतिभा, प्रतिष्ठा, ख्याति, प्रशंसा एवं महानता का प्रकाश होता है । दूसरों का सिर उसके चरणों में स्वतः झुक जाता है । लोग उसे नेता मानते हैं, उसका अनुसरण और अनुगमन करते हैं । इस प्रकार उपर्युक्त दो दीक्षाओं द्वारा वैश्य और क्षत्रिय बनने के उपरान्त साधक ब्राह्मण बनने के लिए अग्रसर होता है । ब्रह्म-दीक्षा से उसे 'दिव्य दृष्टि' मिलती है, इसे नेत्रोन्मीलन कहते हैं ।

शंकरजी ने तीसरा नेत्र खोलकर कामदेव को जला दिया था । अर्जुन को भगवान् ने "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" दिव्य नेत्र देकर अपने विराट् स्वरूप का दर्शन सम्भव करा दिया था । वह तृतीय नेत्र हर योगी का खुलता है, उसे वे बातें दिखाई पड़ती हैं जो साधारण व्यक्तियों को नहीं दीखतीं । उनको कण-कण में परमात्मा का पुण्य प्रकाश बहुमूल्य रत्नों की तरह जगमगाता हुआ दिखाई पड़ता है ।भक्त माइकेल को प्रत्येक शिला में स्वर्गीय फरिश्ता दिखाई पड़ता था । सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि बड़ी संकुचित होती है, वे आज के हानि-लाभों में ही रोते-हँसते हैं, पर ब्रह्मज्ञानी दूर तक देखता है । वह वस्तु और परिस्थिति पर पारदर्शी विचार करता है और प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु की लीला एवं दया का अनुभव करता हुआ प्रसन्न रहता है । विश्व मानव की सेवा में ही वह अपना जीवन लगाता है । इस प्रकार ब्रह्म दीक्षा में दीक्षित हुआ साधक परम भागवत होकर, परम शान्ति को अन्तःकरण में धारण करता हुआ दिव्य तत्त्वों से परिपूर्ण होता जाता है । इस श्रेणी के साधकों को ही भूसुर कहते हैं ।

कल्याण मन्दिर का प्रवेश द्वार

तीन दीक्षाओं से तीन वर्णों में प्रवेश मिलता है ।दीक्षा का अर्थ है-विधिवत्, व्यवस्थित कार्यक्रम और निश्चित श्रद्धा ।यों कोई विद्यार्थी नियत कोर्स न पढ़कर, नियत कक्षा में न बैठकर कभी कोई, कभी कोई पुस्तक पढ़ता रहे, तो भी धीरे-धीरे उसका ज्ञान बढ़ता ही रहेगा और क्रमशः उसके ज्ञान में उन्नति होती ही जायेगी । सम्भव है वह अव्यवस्थित क्रम से ग्रेजुएट बन जाय, पर यह मार्ग है कष्ट साध्य और लम्बा । क्रमशः एक-एक कक्षा पार करते हुए एक-एक कोर्स पूरा करते हुए निर्धारित क्रम से यदि पढ़ाई जारी रखी जाए, तो अध्यापक को भी सुविधा रहती है और विद्यार्थी को भी । यदि कोई विद्यार्थी आज कक्षा ५ की, कल कक्षा १० की, आज संगीत की, कल डॉक्टरी की पुस्तकों को पढ़े, तो उसे याद करने में और शिक्षक को पढ़ाने में असुविधा होगी । इसलिए ऋषियों ने आत्मोन्नति की तीन भूमिकायें निर्धारित कर दीं हैं, द्विजत्व को तीन भागों में बाँट दिया है । क्रमशः एक-एक कक्षा में प्रवेश करना और नियम, प्रतिबंध, आदेश एवं अनुशासन को श्रद्धापूर्वक मानना इसी का नाम दीक्षा है ।

तीन कक्षाओं को उत्तीर्ण करने के लिए तीन बार भर्ती होना पड़ता है । कई जगह एक ही अध्यापक तीन कक्षाओं को पढ़ाते हैं, कई जगह हर कक्षा के लिए अलग अध्यापक होते हैं । कई बार तो स्कूल ही बदलने पड़ते हैं । प्राइमरी स्कूल उत्तीर्ण करके हाईस्कूल में भर्ती होना पड़ता है और हाईस्कूल, इन्टर पास करके कॉलेज में नाम लिखाना पड़ता है । तीन विद्यालयों की पढ़ाई पूरी करने पर एम.ए. की पूर्णता प्राप्त होती है ।

इन तीन कक्षाओं के अध्यापकों की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है । प्रथम कक्षा में सद्‌विचार और सत् आचार सिखाया जाता है । इसके लिए कथा, प्रवचन, सत्संग, भाषण, पुस्तक, प्रचार, शिक्षण, सलाह, तर्क आदि साधन काम में लाये जाते हैं । इनके द्वारा मनुष्य की विचार भूमिका का सुधार होता है, कुविचारों के स्थान पर सद्‌विचार स्थापित होते हैं, जिनके कारण साधक अनेक शूलों और क्लेशों से बचता हुआ सुख शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर लेता है । इस प्रथम कक्षा के विद्यार्थी को गुरु के प्रति श्रद्धा रखना आवश्यक है । श्रद्धा न होगी तो उनके वचनों का, उपदेशों का न तो महत्त्व समझ में आयेगा और न उन पर विश्वास होगा । प्रयत्क्ष है कि उसी बात को कोई महापुरुष कहे, तो लोग उसे बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं और उसी बात को यदि तुच्छ मनुष्य कहे, तो कोई कान नहीं देता । दोनों ने एक ही बात कही पर एक के कहने पर उपेक्षा की गई, दूसरे के कहने पर ध्यान दिया गया । इसमें कहने वाले के ऊपर सुनने वालों की श्रद्धा या अश्रद्धा का होना ही प्रधान कारण है । किसी व्यक्ति पर विशेष श्रद्धा हो, तो उसकी साधारण बातें भी असाधारण प्रतीत होती हैं । श्रद्धा में अपरिमित शक्ति होती है और जिस किसी में यह पर्याप्त मात्रा में होगी, उसे जीवन में सफलता प्राप्त होना निश्चित है ।

रोज सैकड़ों कथा, प्रवचन, व्याख्यान होते हैं । अखबारों में, पर्चों, पोस्टरों में तरह-तरह की बातें सुनाई जाती हैं, रेडियो से नित्य ही उपदेश सुनाये जाते हैं, पर उन पर कोई कान नहीं देता । कारण यही है कि सुनने वालों को सुनाने वालों के प्रति व्यक्तिगत श्रद्धा नहीं होती, इसलिए ये महत्त्वपूर्ण बातें भी निरर्थक एवं उपेक्षणीय मालूम देती हैं । कोई उपदेश तभी प्रभावशाली हो सकता है जब उसका देने वाला, सुनने वालों का श्रद्धास्पद हो । वह श्रद्धा जितनी ही तीव्र होगी, उतना ही अधिक उपदेश का प्रभाव पड़ेगा । प्रथम कक्षा के मन्त्र दीक्षित गायत्री का समुचित लाभ उठा सकें, इस दृष्टि से साधक को, दीक्षित को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा रखेगा । उसे वह देवतुल्य या परमात्मा का प्रतीक मानेगा । इसमें कुछ विचित्रता भी नहीं है । श्रद्धा के कारण जब मिट्टी, पत्थर और धातु की मूर्तियाँ हमारे लिए देव बन जाती हैं, तो कोई कारण नहीं कि एक जीवित मनुष्य में देवत्व का आरोपण करके अपनी श्रद्धानुसार उसे अपने लिए देव न बना लिया जाए ।

श्रद्धा का प्रकटीकरण करने की आवश्यकता-

एकलव्य भील ने मिट्टी के द्रोणाचार्य बनाकर उससे बाण विद्या सीखी थी और उस मूर्ति ने उस भील को बाण-विद्या में इतना पारंगत कर दिया था कि उसके द्वारा बाणों से कुत्ते का मुँह सी दिये जाने पर द्रोणाचार्य से प्रत्यक्ष पढ़ने वाले पाण्डवों को ईर्ष्या हुई थी । स्वामी रामानन्द के मना करते रहने पर भी कबीर उनके शिष्य बन बैठे और अपनी तीव्र श्रद्धा के कारण वह लाभ प्राप्त किया, जो उनके विधिवत् दीक्षित शिष्यों में से एक भी प्राप्त न कर सका था । रजोधर्म होने पर गर्भाशय में एक बूँद वीर्य का पहुँच जाना गर्भ धारण कर देता है, पर जिसे रजोदर्शन न होता हो उस बन्ध्या स्त्री के लिए पूर्ण पुंसत्व शक्ति वाला पति भी गर्भ स्थापित नहीं कर सकता । श्रद्धा एक प्रकार का रजोधर्म है जिससे साधक के अन्तःकरण में सदुपदेश जमते और फलते-फूलते हैं । अश्रद्धालु के मन पर ब्रह्मा का उपदेश भी कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता । श्रद्धा के अभाव में किसी महापुरुष के दिन-रात साथ रहने पर भी कोई व्यक्ति कुछ लाभ नहीं उठा सकता है, और श्रद्धा होने पर दूरस्थ व्यक्ति भी लाभ उठा सकता है । इसलिए आरम्भिक कक्षा के मंत्र दीक्षित को गुरु के प्रति तीव्र श्रद्धा की धारणा करनी पड़ती है ।

विचारों को मूर्त रूप देने के लिए उनको प्रकट रूप से व्यवहार में लाना पड़ता है । जितने भी धार्मिक कर्मकाण्ड, दान, पुण्य, व्रत, उपवास, हवन, पूजन, कथा, कीर्तन आदि हैं । वे सब इसी प्रयोजन के लिए हैं कि आन्तरिक श्रद्धा व्यवहार में प्रकट होकर साधक के मन में परिपुष्ट हो जाए । गुरु के प्रति मंत्र-दीक्षा में "श्रद्धा" की शर्त होती है । श्रद्धा न हो या शिथिल हो तो वह दीक्षा केवल चिह्न पूजा मात्र है । अश्रद्धालु की गुरु दीक्षा से कुछ

विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । दीक्षा के समय स्थापित हुई श्रद्धा, कर्मकाण्ड के द्वारा सजग रहे, इसी प्रयोजन के लिए समय-समय पर गुरु पूजन किया जाता है । दीक्षा के समय वस्त्र, पात्र, पुष्प, भोजन, दक्षिणा द्वारा गुरु का पूजन करते हैं । गुरुपूर्णिमा (आषाढ़ सुदी १५) को यथा-शक्ति गुरु के चरणों में श्रद्धांजलि के रूप में कुछ भेंट-पूजा अर्पित करते हैं । यह प्रथा अपनी आन्तरिक श्रद्धा को मूर्त-रूप देने, बढ़ाने एवं परिपुष्ट करने के लिए है । केवल विचार मात्र से कोई भावना परिपक्व नहीं होती, क्रिया और विचार दोनों के सम्मिश्रण से एक संस्कार बनता है, जो मनोभूमि में स्थिर होकर आशाजनक परिणाम उपस्थित करता है ।

प्राचीन काल में यह नियम था कि गुरु के पास जाने पर शिष्य कुछ वस्तु भेंट के लिए ले जाता था, चाहे वह कितने ही स्वल्प मूल्य की क्यों न हो ? समिधा की लकड़ी को हाथ में लेकर शिष्य गुरु के सम्मुख जाते थे, इसे 'समित्पाणि' कहते थे । वे समिधायें उनकी श्रद्धा की प्रतीक होती हैं चाहे उनका मूल्य कितना ही कम क्यों न हो । शुकदेवजी जब राजा जनक के पास ब्रह्म-विद्या की शिक्षा लेने गये, तो राजा जनक मौन रहे, उनने एक शब्द भी उपदेश न दिया । शुकदेवजी वापस लौट आये । पीछे उन्हें ध्यान आया कि भले ही मैं संन्यासी हूँ और राजा जनक गृहस्थ हैं पर जबकि मैं उनसे कुछ सीखने गया, तो अपनी श्रद्धा का प्रतीक साथ लेकर जाना चाहिए था । दूसरी बार शुकदेवजी हाथ में समिधायें लेकर नम्र भाव से उपस्थित हुए, तो उनको विस्तारपूर्वक ब्रह्म का रहस्य समझाया ।

श्रद्धा न हो तो सुनने वाले का और कहने वाले का श्रम तथा समय निरर्थक जाता है । इसलिए शिक्षण के समान ही श्रद्धा बढ़ाने का भी प्रयत्न जारी रखना चाहिए । निर्धन व्यक्ति भले ही न्यूनतम मूल्य की वस्तुयें ही क्यों न भेंट करें, उन्हें सदैव गुरु को बार-बार अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का प्रयत्न करना चाहिए । यह भेंट-पूजन एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे श्रद्धा रूपी "ग्रहण शक्ति" का तीव्र विकास होता है, श्रद्धा ही वह अस्त्र है, जिससे परमात्मा को पकड़ा जा सकता है । भगवान् और किसी वस्तु से वश में नहीं आते, वे केवल मात्र श्रद्धा के ब्रह्मपाश में ही फँसकर भक्त के गुलाम बनते हैं । ईश्वर को परास्त करने का एटम बम श्रद्धा ही है । इस महानतम दैवी सम्मोहनास्त्र को बनाने और चलाने का प्रारम्भिक अभ्यास गुरु से ही किया जाता है । जब यह शस्त्र भली प्रकार हाथ में आ जाता है, तो उससे भगवान् को वश में कर लेना साधक के बायें हाथ का खेल हो जाता है ।

प्रारम्भिक कक्षा का रसास्वादन करने पर साधक की मनोभूमि काफी सुदृढ़ और परिपक्व हो जाती है । वह भौतिकवाद की तुच्छता और आत्मिकवाद की महानता व्यावहारिक दृष्टि से, वैज्ञानिक दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टि से समझ लेता है, तब उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मेरा लाभ आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने में ही है । श्रद्धा परिपक्व होकर जब निष्ठा के रूप में परिणत हो जाती है, तो वह भीतर से काफी मजबूत हो जाता है । अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसमें इतनी दृढ़ता होती है कि वह कष्ट सह सके, तप कर सके, त्याग की परीक्षा का अवसर आये तो विचलित न हो । जब ऐसी पक्की मनोभूमि होती है, तो "गुरु" द्वारा उसे अग्नि-दीक्षा देकर कुछ और गरम किया जाता है । जिससे उसके मैल जल जायें, कीर्ति का प्रकाश हो तथा तप की अग्नि में पककर वह पूर्णता को प्राप्त हो ।

तपस्वी की गुरुदक्षिणा

गीली लकड़ी को केवल धूप में सुखाया जा सकता है । उसे थोड़ी सी गर्मी पहुँचाई जाती है । धीरे-धीरे उसकी नमी सुखाई जाती है । जब वह भली प्रकार सूख जाती है, तो अग्नि में देकर मामूली लकड़ी को महाशक्तिशालिनी प्रचण्ड अग्नि के रूप में परिणत कर दिया जाता है । गीली लकड़ी को चूल्हे में दिया जाए, तो उसका परिणाम अच्छा न होगा । प्रथम कक्षा के साधक पर केवल गुरु की श्रद्धा की जिम्मेदारी है और दृष्टिकोण को सुधार कर अपना प्रत्यक्ष जीवन सुधारना होता है । यह सब प्रारम्भिक छात्र के उपयुक्त है । यदि आरंभ में तीव्र साधना में नये साधक को फँसा दिया जाय, तो वह बुझ जायेगा । तप की कठिनाई देखकर वह डर जायेगा और

प्रयत्न छोड़ बैठेगा । दूसरी कक्षा का छात्र चूँकि धूप में सूख चुका है इसलिए उसे कोई विशेष कठिनाई मालूम नहीं देती, वह हँसते-हँसते साधना के श्रम का बोझ उठा लेता है ।

अग्नि-दीक्षा के साधक को तपाने के लिए कई प्रकार के संयम, व्रत, नियम, त्याग आदि करने कराने होते हैं । प्राचीन काल में उद्दालक, धौम्य, आरुणि, उपमन्यु, कच, शलीमुख, जरुत्कार, हरिश्चन्द्र, दशरथ, नचिकेता, शेष, विरोचन, जाबालि, सुमनस, अम्बरीष, दिलीप आदि अनेक शिष्यों ने अपने गुरुओं के आदेशानुसार अनेक कष्ट सहे और उनके बताये हुए कार्यों को पूरा किया । स्थूल दृष्टि से इन महापुरुषों के साथ गुरुओं का जो व्यवहार था, वह 'हृदय-हीनता' का कहा जा सकता है । पर सच्ची बात यह है कि उन्होंने स्वयं निन्दा और बुराई को अपने ऊपर ओढ़कर शिष्यों को अनन्त काल के लिए प्रकाशवान् एवं अमर कर दिया । यदि कठिनाइयों में होकर राजा हरिश्चन्द्र को न गुजरना पड़ा होता, तो वे भी असंख्यों राजा, रईसों की भाँति विस्मृति के गर्त में चले गये होते ।

अग्नि-दीक्षा पाकर शिष्य गुरु से पूछता है कि -"आदेश कीजिए, कि मैं आपके लिए क्या गुरु-दीक्षा उपस्थित करूँ ?" गुरु देखता है कि शिष्य की मनोभूमि, सामर्थ्य, योग्यता, श्रद्धा, त्यागवृत्ति कितनी है, उसी आधार पर वह उससे गुरु-दक्षिणा माँगता है । यह याचना अपने लिए रुपया, पैसा, धन, दौलत देने के रूप में कदापि नहीं हो सकती । सद्‌गुरु सदा परम त्यागी, अपरिग्रही, कष्ट सहिष्णु एवं स्वल्प सन्तोषी होते हैं । उन्हें अपने शिष्य से या किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं होती । जो गुरु अपने लिए कुछ माँगता है वह गुरु नहीं, ऐसे लोग गुरु जैसे परम पवित्र पद के अधिकारी कदापि नहीं हो सकते । अग्नि-दीक्षा देकर गुरु जो कुछ माँगता है, वह शिष्य को अधिक उज्ज्वल, अधिक सुदृढ़, अधिक उदार, अधिक तपस्वी बनाने के लिए होता है । यह याचना उसके यश का विस्तार करने के लिए, पुण्य को बढ़ाने के लिए एवं उसे त्याग का आत्म-सन्तोष देने के लिए होती है ।

"गुरु दक्षिणा माँगिये' शब्दों में शिष्य कहता है कि "मैं सुदृढ़ हूँ, मेरी आत्मिक स्थिति की परीक्षा लीजिए ।" स्कूल कालेजों में परीक्षा ली जाती है । उत्तीर्ण छात्र की योग्यता एवं प्रतिष्ठा को वह उत्तीर्णता का प्रमाणपत्र अनेक गुना बढ़ा देता है । परीक्षा न ली जाए तो योग्यता का क्या पता चले ? किसी व्यक्ति की महानता का पुण्य प्रसार करने के लिए उसके गौरव को सर्वसाधारण पर प्रकट करने के लिए, साधक को अपनी महानता पर आत्म विश्वास कराने के लिए गुरु अपने शिष्य से गुरु-दक्षिणा माँगता है । शिष्य उसे देकर धन्य हो जाता है ।

प्रारम्भिक कक्षा में मन्त्र-दीक्षा का शिष्य सामर्थ्यानुसार गुरु पूजन करता है । श्रद्धा रखना और उनकी सलाहों से अपने दृष्टिकोण को सुधारना, बस इतना ही उसका कार्यक्षेत्र है । न वह शिष्य दक्षिणा माँगने के लिए गुरु से कहता है और न गुरु उससे माँगता ही है । दूसरी कक्षा का शिष्य अग्नि दीक्षा लेकर 'गुरु दक्षिणा माँगने ' के लिए, उसकी परीक्षा लेने के लिए प्रार्थना करता है ।

गुरु इस कृपा को करना स्वीकार करके शिष्य की प्रतिष्ठा, महानता, कीर्ति एवं प्रामाणिकता में चार चाँद लगा देता है । गुरु की याचना सदैव ऐसी होती है जो सबके लिए, सब दृष्टियों से परम कल्याणकारी हो, उस व्यक्ति का तथा समाज का उससे भला होता है । कई बार निर्बल मनोभूमि के लोग भी आगे बढ़ाये जाते हैं, उनसे गुरुदक्षिणा में ऐसी छोटी चीज माँगी जाती है जिसे सुनकर हँसी आती है । अमुक फल, अमुक शाक, अमुक मिठाई आदि का त्याग कर देने जैसी याचना कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखती । पर शिष्य का मन हल्का हो जाता है, वह अनुभव करता है कि मैंने त्याग किया, गुरु के आदेश का पालन किया, गुरु दक्षिणा चुका दी, ऋण से उऋण हो गया और परीक्षा उत्तीर्ण कर ली । बुद्धिमान् गुरु साधक की मनोभूमि और आन्तरिक स्थिति देखकर ही उसे तपाते हैं ।

ब्रह्मदीक्षा की दक्षिणा आत्मदान

क्रमश: दीक्षा का महत्त्व बढ़ता है, साथ ही उसका मूल्य भी बढ़ता है । जो वस्तु जितनी बढ़िया होती है उसका मूल्य भी उसी अनुपात में होता है । लोहा सस्ता बिकता है । कम पैसे देकर मामूली दुकानदार से लोहे की वस्तु खरीदी जा सकती है । पर यदि सोना या जवाहरात खरीदने हों , तो ऊँची दुकान पर जाना पड़ेगा और अधिक दाम खर्च करना पड़ेगा । ब्रह्म-दीक्षा में न विचार-शक्ति से काम चलता है और न प्राण शक्ति से । एक

आत्मा से दूसरी आत्मा 'परा' वाणी द्वारा वार्तालाप करती है । आत्मा की भाषा को परा कहते हैं । वैखरी भाषा को कान सुनते हैं 'मध्यमा' को मन सुनता है, पश्यन्ती हृदय को सुनाई पड़ती है और 'परा' वाणी द्वारा दो आत्माओं में सम्भाषण होता है, अन्य वाणियों की बात आत्मा नहीं समझ सकती । जैसे चींटी की समझ में मनुष्य की वाणी नहीं आती और मनुष्य चींटी की वाणी नहीं सुन पाता, उसी प्रकार आत्मा तक व्याख्यान आदि नहीं पहुँचते । उपनिषद् का वचन है कि "बहुत पढ़ने से व बहुत सुनने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती । बलहीनों को भी वह प्राप्त नहीं होती ।" कारण स्पष्ट है यह बातें आत्मा तक पहुँचती ही नहीं , तो वह सुनी कैसे जायेंगी ?

कीचड़ में फँसे हुए हाथी को दूसरा हाथी ही निकालता है । पानी में बहते जाने वाले को कोई तैरने वाला ही पार निकालता है । राजा की सहायता करना किसी राजा को ही सम्भव है । एक आत्मा में ब्रह्म ज्ञान जाग्रत् करना, उसे ब्राह्मीभूत, ब्रह्म परायण बनाना केवल उसी के लिए सम्भव है जो स्वयं ब्रह्म-तत्त्व में ओत-प्रोत हो रहा हो । जिसमें स्वयं अग्नि होगी, वही दूसरों को प्रकाश और गर्मी दे सकेगा । अन्यथा अग्नि का चित्र कितना ही आकर्षक क्यों न हो, उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा ।

कई व्यक्ति साधु महात्माओं का वेश बना लेते हैं, पर उनमें ब्रह्म तेज की अग्नि नहीं होती । जिसमें साधुता हो वही महात्मा है, जिसको ब्रह्म का ज्ञान हो वही ब्राह्मण है, जिसने रागों से मन को बचा लिया है वही वैरागी है, जो स्वाध्याय में, मनन में लीन रहता हो वही मुनि है, जिसने अहंकार को, मोह-ममता को त्याग दिया है वही संन्यासी है, जो तप में प्रवृत्त हो वह तपस्वी है । कौन क्या है ? इसका निर्णय गुण-कर्म से होता है, वेश से नहीं । इसलिए ब्रह्म-परायण होने के लिए कोई वेश बनाने की आवश्यकता नहीं । दूसरों को बिना प्रदर्शन किए, सीधे-सादे तरीके से रहकर जब आत्म-कल्याण किया जा सकता है, तो व्यर्थ में लोक दिखावा क्यों किया जाय ? सादा वस्त्र, सादा वेश और सादा जीवन में जब महानतम आत्मिक साधना हो सकती है, तो असाधारण वेश तथा अस्थिर कार्यक्रम क्यों अपनाया जाय ? पुराने समय अब नहीं रहे, पुरानी परिस्थितियाँ भी अब नहीं हैं, आज की स्थिति में सादा जीवन में ही आत्मिक विकास की सम्भावना अधिक है ।

ब्राह्मी दृष्टि का प्राप्त होना ब्रह्म समाधि है । सर्वत्र सब में ईश्वर का दिखाई देना, अपने अन्दर तेज पुञ्ज की उज्ज्वल झाँकी होना, अपनी इच्छा और आकांक्षाओं का दिव्य, दैवी हो जाना यही ब्राह्मी-स्थिति है । पूर्व युगों में आकाश-तत्त्व की प्रधानता थी, दीर्घ काल तक प्राणों को रोककर ब्रह्माण्ड में एकत्रित कर लेना और शरीर को नि:चेष्ट कर देना समाधि कहलाता था । ध्यान काल में पूर्ण तन्मयता होना और शरीर की सुधि-बुधि भूल जाना उन युगों में 'समाधि' कहलाता था, उन युगों में वायु और अग्नि तत्त्वों की प्रधानता थी । आज के युग में जल और पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होने से ब्राह्मी स्थिति को ही समाधि कहते हैं । इस युग के सर्वश्रेष्ठ शास्त्र भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में इसी ब्रह्म समाधि की विस्तारपूर्वक शिक्षा दी गयी है । उस स्थिति को प्राप्त करने वाला ब्रह्म समाधिस्थ ही कहा जायेगा ।

अभी भी कई व्यक्ति जमीन में गड्ढा खोदकर उसमें बन्द हो जाने का प्रदर्शन करके अपने को समाधिस्थ सिद्ध करते हैं । यह बाल-क्रीड़ा अत्यन्त उपहासास्पद है । वह मन की घबराहट पर काबू पाने की मानसिक साधना का चमत्कार मात्र है । अन्यथा लम्बे-चौड़े गड्ढे में क्या कोई भी आदमी काफी लम्बी अवधि तक सुखपूर्वक रह सकता है । रात भर लोग रुई की रजाई में मुँह बन्द करके सोते रहते हैं, रजाई के भीतर की जरा-सी हवा से रात भर का गुजारा हो जाता है, तो लम्बे चौड़े गड्ढे की हवा आसानी से दस पन्द्रह दिन काम दे सकती है । फिर भूमि में स्वयं भी हवा रहती है । गुफाओं में रहने का अभ्यासी मनुष्य आसानी से जमीन में गड़ने की समाधि का प्रदर्शन कर सकता है । ऐसे क्रीड़ा कौतुकों की ओर ध्यान देने की सच्चे ब्रह्मज्ञानी को कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती ।

परावाणी द्वारा अन्तरंग प्रेरणा

आत्मा में ब्रह्म तत्त्व का प्रवेश करने में दूसरी आत्मा द्वारा आया हुआ ब्रह्म-संस्कार बड़ा काम करता है । साँप जब किसी को काटता है तो तिल भर जगह में दाँत गाड़ता है और विष भी कुछ रत्ती भर ही डालता है । पर विष धीरे-धीरे सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, सारी देह विषैली हो जाती है और अन्त में परिणाम मृत्यु होता है ।

ब्रह्म-दीक्षा भी आध्यात्मिक 'सर्प-दंशन' है । एक का विष दूसरे को चढ़ जाता है । अग्नि की एक चिनगारी सारे ढेर को अग्नि रूप कर देती है, भली प्रकार स्थित किया हुआ दीक्षा संस्कार तेजी से फैलता है, थोड़े ही समय में पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है । ब्रह्मज्ञान की पुस्तक पढ़ते रहने और आध्यात्मिक प्रवचन करते रहने से मनोभूमि तो तैयार होती है, पर बीज बोये बिना अंकुर नहीं उगता और अंकुर को सींचे बिना शीतल छाया और मधुर फल देने वाला वृक्ष नहीं होता । स्वाध्याय और सत्संग के अतिरिक्त आत्म-कल्याण के लिए साधना की भी आवश्यकता होती है । साधना की जड़ में सजीव प्राण और सजीव प्रेरणा हो, तो वह अधिक सुगमता और सुविधापूर्वक विकसित होती है ।

ब्राह्मी स्थिति का साधक अपने भीतर और बाहर ब्रह्म का पुण्य-प्रकाश प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है । उसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह ब्रह्म की गोदी में किलोल कर रहा है, ब्रह्म के अमृत सिन्धु में आनन्द मग्न हो रहा है । इस दशा में पहुँचकर वह जीवन मुक्त हो जाता है । जो प्रारब्ध बन चुके हैं, उन कर्मों का लेखा जोखा पूरा करने के लिए वह जीवित रहता है । जब वह हिसाब बराबर हो जाता है तो पूर्ण शान्ति और पूर्ण ब्राह्मी स्थिति में जीवन लीला समाप्त हो जाती है, फिर उसे भव बन्धन में लौटना नहीं होता । प्रारब्धों को पूरा करने के लिए वह शरीर धारण किये रहता है । सामान्य श्रेणी के मनुष्यों की भाँति सीधा-सादा जीवन बिताता है, तो भी उसकी आत्मिक स्थिति बहुत ऊँची रहती है । हमारी जानकारी में ऐसे अनेक ऋषि, राजर्षि और महर्षि हैं ,जो बाह्यत: बहुत ही साधारण रीति से जीवन बिता रहे हैं पर उनकी आन्तरिक स्थिति सतयुग आदि के श्रेष्ठ ऋषियों के समान ही महान् है । युग प्रभाव से आज चमत्कारों का युग नहीं रहा, तो भी आत्मा की उन्नति में कभी कोई युग बाधा नहीं डाल सकता । पूर्वकाल में जैसी महान् आत्मायें होती थीं, आज भी वह सब क्रम यथावत् जारी है । उस समय वे योगी आसानी से पहचान लिये जाते थे, आज उनका पहचानना कठिन है । इस कठिनाई के होते हुए भी आत्म-विकास का मार्ग सदा की भाँति अब भी खुला हुआ है ।

ब्रह्म दीक्षा के अधिकारी गुरु—शिष्य ही इस महान सम्बन्ध को स्थापित कर सकते हैं । शिष्य, गुरु को आत्म समर्पण करता है, गुरु उसके कार्यों का उत्तरदायित्व एवं परिणाम अपने ऊपर लेता है । ईश्वर को आत्म समर्पण करने की प्रथम भूमिका गुरु को आत्म समर्पण करना है । शिष्य अपना सब कुछ गुरु को समर्पण करता है । गुरु उस सबको अमानत के तौर पर शिष्य को लौटा देता है और आदेश कर देता है कि इन सब वस्तुओं को गुरु की समझ कर उपयोग करो । इस समर्पण से प्रत्यक्षत: कोई विशेष हेरफेर नहीं होता; क्योंकि ब्रह्म ज्ञानी गुरु अपरिग्रही होने के कारण उस सब 'समर्पण' का करेगा भी क्या ? दूसरे व्यवस्था एवं व्यावहारिकता की दृष्टि से भी उसका सौंपा हुआ सब कुछ उसी के संरक्षण में ठीक प्रकार रह सकता है । इसलिए बाह्यत: इस समर्पण में कुछ विशेष बात प्रतीत नहीं होती, पर आत्मिक दृष्टि से इस 'आत्म दान' का मूल्य इतना भारी है कि उसकी तुलना और किसी त्याग या पुण्य से नहीं हो सकती ।

जब दो चार रुपया दान करने पर मनुष्य को इतना आत्म संतोष और पुण्य प्राप्त होता है, तब शरीर भी दान कर देने से पुण्य और आत्म संतोष की अन्तिम मर्यादा समाप्त हो जाती है । आत्म दान से बड़ा और कोई दान इस संसार में किसी प्राणी से सम्भव नहीं हो सकता । इसलिए इसकी तुलना में इस विश्व ब्रह्माण्ड में और कोई पुण्य फल भी नहीं है । नित्य सवा मन सोने का दान करने वाला कर्ण 'दान वीर' के नाम से प्रसिद्ध था, पर उसके पास भी दान के बाद कुछ न कुछ अपना रह जाता था । जिस दानी ने अपना कुछ छोड़ा ही नहीं, उसकी तुलना किसी दानी से नहीं हो सकती ।

'आत्म दान' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक महान् कार्य है । अपनी सब वस्तुएँ जब वह गुरु की, अन्त में परमात्मा की, समझ कर उनके आदेशानुसार नौकर की भाँति प्रयोग करता है, तो उसका स्वार्थ, मोह, अहंकार, मान, मद, मत्सर, क्रोध आदि सभी समाप्त हो जाते हैं । जब अपना कुछ रहा ही नहीं तो 'मेरा' क्या ? अहंकार किस बात का ? जब उपार्जित की हुई वस्तुओं का स्वामी गुरु या परमात्मा ही है तो स्वार्थ कैसा ? जब हम नौकर मात्र रह गये तो हानि—लाभ में शोक संताप कैसा ? इस प्रकार 'आत्म दान' में वस्तुत: 'अहंकार' का दान होता है । वस्तुओं

के प्रति 'मेरी' भावना न रहकर 'गुरु की' या परमात्मा की भावना हो जाती है। यह 'भावना परिवर्तन' आत्म परिवर्तन-एक असाधारण एवं रहस्यमय प्रक्रिया है। इसके द्वारा साधक सहज ही बन्धनों से खुल जाता है। अहंकार के कारण जो अनेक संस्कार उसके ऊपर लदते थे, वे एक भी ऊपर नहीं लदते। जैसे छोटा बालक अपने ऊपर कोई बोझ नहीं लेता, उसका सब कुछ बोझ माता—पिता पर रहता है। इसी प्रकार आत्मदानी का बोझ भी किसी दूसरी उच्च सत्ता पर चला जाता है।

ब्रह्म दीक्षा का शिष्य गुरु को 'आत्म दान' करता है। मंत्र दीक्षित को 'गुरु पूजा' करनी पड़ती है। अग्नि दीक्षित को 'गुरु दीक्षा' देनी पड़ती है। ब्रह्म दीक्षित को आत्म समर्पण करना पड़ता है। राम को राज्य का अधिकारी मानकर उनकी खड़ाऊँ सिंहासन पर रख कर जैसे भरत राज काज चलाते रहे, वैसे ही आत्म दानी अपनी वस्तुओं का समर्पण करके उनके व्यवस्थापक के रूप में स्वयं काम करता रहता है।

वर्तमानकालीन कठिनाइयाँ

आज व्यापक रूप से अनैतिकता फैली हुई है। स्वार्थी और धूर्तों का बाहुल्य है। सच्चे और सत्पात्रों का भारी अभाव हो रहा है और आज न तो तीव्र उत्कंठा वाले शिष्य हैं और न सच्चा पथ प्रदर्शन की योग्यता रखने वाले चरित्रवान् तपस्वी, दूरदर्शी एवं अनुभवी गुरु ही रहे हैं। ऐसी दशा में गुरु शिष्य सम्बन्ध की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता का पूरा होना कठिन हो रहा है। शिष्य चाहते हैं कि उन्हें कुछ न करना पड़े, कोई ऐसा गुरु मिले जो उनकी नम्रता मात्र से प्रसन्न होकर सब कुछ उनके लिए करके रख दे। गुरुओं की मनोवृत्ति यह है कि शिष्यों को उल्लू बनाकर उनसे आर्थिक लाभ उठाया जाए, उनकी श्रद्धा को दुहा जाए। ऐसे जोड़े- 'लोभी गुरु लालची चेला। दुहूँ नरक में ठेलम ठेला ॥' का उदाहरण बनते हैं। ऐसे ही लोगों की अधिकता के कारण यह महान् सम्बन्ध शिथिल हो गया है। अब किसी को गुरु बनाना एक आडम्बर में फँसना और किसी को शिष्य बनाना एक झंझट मोल लेना समझा जाता है। जहाँ सच्चाई है वहाँ दोनों ही पक्ष सम्बन्ध जोड़ते हुए कतराते हैं। फिर भी आज की विषम स्थिति कितनी ही बुरी और कितनी ही निराशाजनक क्यों न हो; पर एक भारतीय धर्म की मूलभूत आधारशिला का महत्त्व कम नहीं हो सकता।

गायत्री द्वारा आत्म विकास की तीनों कक्षाएँ पार की जाती हैं। सर्वसाधारण की जानकारी के लिए 'गायत्री महाविज्ञान' के तीन खंडों में यथासम्भव उपयोगी जानकारी देने का हमने प्रयत्न किया है। उन पुस्तकों में यह शिक्षा मौजूद है, जिसे दृष्टिकोण का परिमार्जन एवं मन्त्र दीक्षा कहते हैं। यज्ञोपवीत का रहस्य, गायत्री ही कल्पवृक्ष है, गायत्री गीता, गायत्री स्मृति, गायत्री रामायण, गायत्री उपनिषद् , गायत्री की दस भुजा आदि प्रकरणों में यह बताया गया है कि हम अपने विचारों, भावनाओं और इच्छाओं में संशोधन करके किस प्रकार सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इन्हीं तीनों खंडों में अग्नि दीक्षा की द्वितीय भूमिका की शिक्षा भी विस्तार पूर्वक दी गई है। ब्रह्म संध्या, अनुष्ठान, ध्यान, पापनाशक तपश्चर्याएँ, उद्यापन, विशेष साधनाएँ, उपवास, प्राण विद्या, मनोमय कोश की साधना, तन्त्र, पुरश्चरण आदि प्रकरणों में शक्ति उत्पन्न करने की शिक्षा दी गई है। ब्रह्म दीक्षा की शिक्षा गायत्री पंजर, गायत्री हृदय, कुण्डलिनी जागरण, ग्रन्थि भेद, विज्ञानमय कोश एवं आनन्दमय कोश की साधना के अन्तर्गत भली प्रकार दी गई है। शिक्षाएँ इस प्रकार मौजूद ही हैं उपयुक्त व्यक्ति की तलाश करने से कई बार दुष्प्राप्य वस्तुएँ भी मिल जाती हैं।

यदि उपयुक्त व्यक्ति न मिले तो किसी स्वर्गीय, पूर्व कालीन या दूरस्थ व्यक्ति की प्रतिमा को गुरु मानकर यात्रा आरम्भ की जा सकती है। एक आवश्यक परम्परा का लोप न हो जाए, इसलिए किसी साधारण श्रेणी के सत्पात्र से भी काम चलाया जा सकता है। गुरु का निर्लोभ, निरहंकारी एवं शुद्ध चरित्र होना आवश्यक है। यह योग्यताएँ जिस व्यक्ति में हों, वह काम चलाऊ गुरु के रूप में काम दे सकता है। यदि उसमें शक्ति दान एवं पथ प्रदर्शक की योग्यता न होगी, तो भी वह अपनी श्रद्धा को बढ़ाने में साथी की तरह सहयोग अवश्य देगा। 'निगुरा' रहने की अपेक्षा मध्यम श्रेणी के पथ प्रदर्शक से काम चल सकता है। यज्ञोपवीत धारण करने एवं गुरु दीक्षा लेने

की प्रत्येक द्विज को अनिवार्य आवश्यकता है । चिह्न पूजा के रूप में यह प्रथा चलती रहे तो समयानुसार उसमें सुधार भी हो सकता है; पर यदि उस शृंखला को ही तोड़ दिया तो उसकी नवीन रचना कठिन होगी ।

गायत्री द्वारा आत्मोन्नति होती है यह निश्चित है । मनुष्य के अन्त: क्षेत्र के संशोधन, परिमार्जन, संतुलन एवं विकास के लिए गायत्री से बढ़कर और कोई ऐसा साधन भारतीय धर्म शास्त्रों में नहीं है, जो अतीत काल से असंख्यों व्यक्तियों के अनुभवों में सदा खरा उतरता आया हो । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय गायत्री द्वारा शुद्ध कर लेने वाले व्यक्ति के लिए सांसारिक जीवन में सब ओर से, सब प्रकार की सफलताओं का द्वार खुल जाता है । उत्तम स्वभाव, अच्छी आदतें, स्वस्थ मस्तिष्क, दूरदृष्टि, प्रफुल्ल मन, उच्च चरित्र, कर्तव्यनिष्ठा आदि प्रवृत्तियों को प्राप्त कर लेने के पश्चात् गायत्री के साधक के लिए संसार में कोई दु:ख, कष्टकर नहीं रह जाता, उसके लिए सामान्य परिस्थितियों में भी सुख ही सुख उपस्थित रहता है ।

परन्तु गायत्री का यह लाभ केवल २४ अक्षर के मन्त्र मात्र से उपलब्ध नहीं हो सकता । एक हाथ से ताली नहीं बजती, एक पहिए की गाड़ी नहीं चलती, एक पंख का पक्षी नहीं उड़ता, इसी प्रकार अकेली गायत्री साधना अपूर्ण है, उसका दूसरा भाग गुरु का पथ प्रदर्शन है । गायत्री गुरु मन्त्र है । इस महाशक्ति की कीलित कुँजी अनुभवी एवं सुयोग्य गुरु के पथप्रदर्शन में सन्निहित है । जब साधक को उभय पक्षीय साधन, गायत्री माता और पिता गुरु की छत्रछाया प्राप्त हो जाती है, तो आशाजनक सफलता प्राप्त होने में देर नहीं लगती ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा